CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—८२

पञ्चदशी

हिन्दी व्याख्या

तृतीय भाग

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–८२

श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिविरचित

पञ्चदशी

तृतीय भाग

८–१० प्रकरणात्मक

व्याख्याता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

-: प्रकाशक :-

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

डी. ४६/६, मिश्रपोखरा

वाराणसी-२२१०१०

Web. : www.shankaramatha.org

Web. : www.dakshinamurtimathaprakashan.org

❑

प्रथम संस्करण

शङ्कराब्द : १२२७

विक्रमाब्द : २०७२

ईस्वी : २०१५

❑

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

❑

विविध भक्तों

द्वारा

धन-साहाय्यित मूल्य : ६५० रुपये मात्र (चारों खण्डों का)

अक्षर टंकण

शुभम प्रिंटर्स

आनन्द पर्वत, नई दिल्ली

ई-मेल : shubhamprinter74@gmail.com

M. : 9873696027

मुद्रक

महिम पत्रन प्राइवेट लिमिटेड,

5/161 सौंठ की मण्डी,

आगरा (उ.प्र.)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

विषय सूची

तृतीय भाग

आठवाँ	कूटस्थदीप प्रकरण	... ९३७-१०००
नवम	ध्यानदीप प्रकरण	... १००१-११५०
दसवाँ	नाटकदीप प्रकरण	... ११५१-११७६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आठवाँ
कूटस्थदीप प्रकरण

कूटस्थ और बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास—ये दो चेतन के रूप बताये। जैसे घड़े में जगह, उसमें पानी और पानी में प्रतिबिम्बित सूर्य—तीन होते हैं (चित्रदीप.१६-३) वैसे शरीर में बुद्धि पानी की जगह, बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है और चूंकि प्रतिबिम्ब बिना अधिष्ठान के रह नहीं सकता इसलिये कूटस्थ के साथ ही चिदाभास को लेना पड़ता है। इस प्रकार चेतन के दो रूप बतलाये। शंका रह जाती है कि कूटस्थ तो चिद्रूप है ही, उसी से बुद्धिवृत्ति के द्वारा काम चल जाये, दो चेतन मानने की क्या ज़रूरत है? इस के समाधानार्थ कूटस्थ के स्वरूप पर विचार करते हैं। ज्ञान वह है जो पैदा होता है, नष्ट होता है। हमने घड़े को जाना, उसके बाद घड़े को नहीं देख रहे हैं तो घड़े का ज्ञान नहीं हो रहा है। और दूसरा नित्यज्ञान है जो न उत्पन्न होता है, और न नष्ट होता है। इन दोनों में अंतर करना ज़रूरी है। बुद्धि रहते चिदाभास पैदा होगा और बुद्धि नहीं रहे तो आभास पैदा नहीं होता। बुद्धि रहे या न रहे, हर हालत में कूटस्थ नित्य है, बना ही रहता है। दोनों का अनुभव है। अनित्य ज्ञान का अनुभव है—घड़े को जाना और नहीं जाना। नित्य ज्ञान का भी अनुभव है—जाग्रत् अवस्था चली गई तब भी ज्ञान रहा, स्वप्न अवस्था चली गई तब भी ज्ञान रहा। इस तरह नित्य ज्ञान का भी अनुभव है। इस नित्य ज्ञान को ही वेद ब्रह्म कहता है। अनित्य ज्ञान वह है जो बुद्धिवृत्ति के द्वारा होता है, और बुद्धिवृत्ति के बिना नहीं रहता है। नित्य ज्ञान वह रहा, जो बुद्धि हो तो उसे प्रकाशित करता है, बुद्धि नहीं रहे तो 'बुद्धि नहीं है' इस बात को प्रकाशित करता है। स्वयं वैसा ही रहता है; उसमें कोई फ़र्क नहीं आता। इस बात को विस्तार से बताने के लिये कूटस्थदीप प्रकरण है। दीप अर्थात् प्रकाश। कूटस्थ के स्वरूप को स्पष्ट करके प्रकाशित करता है इसलिये 'कूटस्थदीप'—प्रकरण का नाम है। इतने विचार की ज़रूरत इसलिये है कि सारा वेदान्त दो ही चीज़ों पर निर्भर करता है—तत्पदार्थ ब्रह्म एवं त्वम्पदार्थ जीव। इन दोनों को समझना है और वस्तुतः जानना है, कि ये दोनों सचमुच में एक हैं भले ही झूठमूठ में अलग हैं।

उदाहरण से कूटस्थ और जीव (आभास) का अंतर व्यक्त करते हुए प्रश्न प्रारम्भ करते हैं—

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत्।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते।। १।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नभस्थ सूर्य से प्रकाशित दीवाल पर दर्पण पर पड़कर आयी आदित्य की दीप्ति की तरह कूटस्थ से प्रकाशित शरीर बुद्धि में स्थित जीव द्वारा प्रकाशित किया जाता है।

'कुड्या' कहते हैं दीवार को। आकाश में जो सूर्य है, उसके प्रकाश से दीवार प्रकाशित है तभी दीख रही है। 'ख' मायने आकाश। आकाश में जो आदित्य, सूर्य है उसके द्वारा दीप्त हुई दीवार दीख रही है। तभी काँच को खास कोण पर केन्द्रित करके सूर्य का प्रतिबिम्बभूत प्रकाश उसी दीवाल पर डालो तो जहाँ प्रतिबिम्बित सूर्य की रोशनी पड़ेगी वहाँ वह ज्यादा चमकेगा, स्पष्ट दीखेगा। सारी दीवार तो दीख रही है, लेकिन तुम काँच के प्रतिबिम्ब को उस दीवार पर डालोगे तो उतना हिस्सा विशेष प्रकाशित दीखेगा। उसको कहते हैं 'दर्पणादित्यदीप्ति'। आकाश के सूर्य का सामान्य प्रकाश उस सारी दीवाल को एक-जैसा प्रकाशित करता है। दर्पण के द्वारा जो तुमने डाला वह, जितने पर दर्पण का प्रकाश प्रतिबिम्बित हो पड़ेगा उतने को ही विशेष प्रकाशित करेगा। सूर्य एक ही है, आकाश में सच्चा है, और काँच में झूठा है। झूठा वाला भी काम तो करता है, विशेष प्रकाश करता है, लेकिन है झूठा ही। इसी प्रकार कूटस्थ का प्रकाश सामान्य है, एक-जैसा है। बुद्धि-वृत्ति में पड़कर घड़े तक जाता है तो उसे विशेष प्रकाशित करता है। कूटस्थ से जो भासित देह है, वही फिर बुद्धि में प्रतिबिम्बित ब्रह्म अर्थात् जीव के द्वारा प्रकाशित होता है। शरीर और घड़े में यह फ़र्क है : शरीर में तो विशेष प्रकाश होता है, इसलिये जानते हो ' यह मैं हूँ'। ऐसे घड़े में कोई नहीं जानता 'यह मैं हूँ।' 'मैं हूँ' जो ज्ञान है, यह जीव का है। सामान्येन शरीर कूटस्थ से प्रकाशित है ही।। १।।

प्रतिबिम्बित दीप्ति से अतिरिक्त सामान्य दीप्ति स्पष्ट करते हैं–

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसन्धिषु।
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते।। २।।

अनेक दर्पणों द्वारा पड़ी विभिन्न आदित्यदीप्तियों की बहुतेरी सन्धियों में सामान्य प्रकाशरूप दूसरी (खादित्य की) दीप्ति व्यक्त होती है जो प्रतिबिम्बदीप्तियाँ न रहने पर भी भासती है।

कोई कह सकता है कि एक ही प्रकाश है, कहीं तेज़ हो गया कहीं हलका हो गया। अर्थात् केवल खादित्यदीप्ति है, दर्पणादित्यदीप्ति नहीं। अतः समझा रहे हैं कि ऐसा नहीं है। यदि हम दस दर्पण ले लें और उस दीवार पर अलग-अलग दस प्रतिबिम्ब डालें, तो दस जगहों पर ज़्यादा प्रकाश पड़ेगा, ज़्यादा रोशनी होगी। लेकिन उन काँच के प्रतिबिम्बों की जगह को छोड़ दो, तो बीच की दीवाल प्रकाशित ही दीखती है। किंच जब दर्पण हटा देते हो, तब भी दीवाल तो दीखती ही रहती है। इसलिये दोनों दीप्तियाँ अलग माननी पड़ती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकाशों का भेद स्पष्ट है, अनुभवसिद्ध है।। २।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी बात को दार्ष्टान्त में बतलाते हैं–

चिदाभासविशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ।
सन्धिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम्।। ३।।

चेतन के प्रतिबिम्ब से युक्त अनेक बुद्धिवृत्तियों की सन्धियों को और वृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करता हुआ यह कूटस्थ वृत्तियों से पृथक्कर समझा जाये।

बुद्धि-वृत्तियों में चिदाभास पड़ता है। बुद्धिवृत्तियाँ अनेक हैं। घटाकार वृत्ति, पटाकार वृत्ति, मठाकार वृत्ति, सब अलग-अलग बनती हैं, अलग-अलग ज्ञान होते हैं। काँच के अन्दर सूरज की रोशनी नहीं पड़े तो काँच कोई प्रकाश नहीं डालेगा इसी प्रकार बुद्धिवृत्ति के अंदर चेतन का आभास पड़ेगा तभी वह प्रकाशित करेगी। घटाकार वृत्ति, पटाकार वृत्ति, मठाकार वृत्ति आदि वृत्तियों के मध्यकी स्थिति 'सन्धि' कही। तुमने घड़े को जाना, फिर कपड़े को जाना तो पहले घटाकार वृत्ति बनी, फिर पटाकार वृत्ति बनी। उसके बीच में ऐसा तो नहीं है कि तुम्हारा चेतन ख़त्म हो गया! वह तो बना ही रहा। घड़े, कपड़े को जान रहे हो तब तो चेतन हो ही। एक के बाद दूसरी चीज़ जानने में कम से कम एक क्षण लगता है। उस समय में जो चेतन है, वह कूटस्थ ही है। घटाकार वृत्ति में चिदाभास पड़ेगा तब चिदाभास की स्थिति हो गई। पर जब घटाकार वृत्ति ख़त्म हो गई, पटाकार अभी बनी नहीं, उस समय में जो प्रकाश है वह कूटस्थ है।

इससे साधना के लिये भी संकेत मिल गया–लोग कहते हैं निर्विशेष ब्रह्म का कैसे ध्यान चिंतन करें? बड़ा सीधा अभ्यास हैः दो वृत्तियों के मध्य का जो भाग है, उसकी तरफ अभी ध्यान नहीं जाता। धीरे-धीरे अभ्यास करो तो दो वृत्तियों के मध्य में अपनी कूटस्थता प्रकट होती है। निर्विशेष ब्रह्म का इस प्रकार से निरन्तर अनुसंधान किया जा सकता है। दो वृत्तियों के मध्य में कभी तो समय बहुत कम रहता है, और कभी दूसरी चीज़ का भान काफ़ी देर नहीं होता। जितनी देर दूसरे का भान नहीं होता है, उतनी देर कूटस्थ तो रहेगा ही। जो बहिर्मुखी लोग हैं, उन्हें इस कूटस्थ से डर लगता है। इसलिये एक के बाद दूसरी वृत्ति नहीं बने तो लोग ऊबने, 'बोर' होने, लगते हैं। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं 'अभये भयदर्शिनः' है तो कूटस्थ अभय, पर उन्हें भय लगता है कि यह तो कुछ नहीं है। ठीक जिस प्रकार से जिन लोगों ने छोटे बच्चों को बड़ा किया है वे जानते हैं, शुरू में जब बच्चे को नींद आती है तब बहुत रोता है। माँ अनेक तरह से सुलाने का प्रयत्न करती है। वह सोने से घबराता है, क्योंकि उसको ऐसा लगता है, जो दुनिया मैं जान रहा हूँ वह सब समाप्त हो गई। फिर धीरे-धीरे आदत पड़ जाती है। इस प्रकार से बहिर्मुखी लोग कुछ किये या जाने बिना बैठ ही नहीं सकते। वे तो इस कूटस्थ को समझ ही नहीं पायेंगे। उनको हमेशा कुछ होता रहे, तब ठीक लगता है। कुछ-न-कुछ करेंगे। बिना कुछ किये लगता है कि बेकार बैठे हैं। उनसे बैठा ही नहीं जाता। वे इस कूटस्थ को पकड़ ही नहीं पाते। लेकिन जो शांत वृत्ति के हो जाते हैं, उनकी वृत्तियों के बीच में जो संधिकाल है वह बढ़ता चला जाता है। उनकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कूटस्थ में स्थिति बनती जाती है। कूटस्थ परम आनंदस्वरूप है। बृद्धिवृत्ति जब बनती है तब विक्षेप है। उसमें कभी परमानंद नहीं हो सकता। सन्धि कूटस्थरूप होने से परमानंदस्वरूप है।

जैसे अनेक बुद्धिवृत्तियों की सन्धि को प्रकाशित करता है वैसे जब कोई बुद्धिवृत्ति रहती ही नहीं, अर्थात् गहरी नींद, सुषुप्ति में, तब भी प्रकाशमान रहता है। सुषुप्ति में कोई बुद्धिवृत्ति न होने पर भी उठकर तुम्हें स्मरण आता है 'बड़े आनंद से सोया'। यह नियम है कि जो भी याद आता है, वह तभी जब तुमने पहले अनुभव किया हो। जैसे कल लापसी खाई थी तो आज याद आयेगी। स्मृति अर्थात् याद आने के लिये ज़रूरी है कि पहले अनुभव हो। जाग्रत् में हमें याद भी आ रहा है कि 'मैं बड़े सुख से सोया'। इसका मतलब है, उस समय मैं आनंद का अनुभव कर रहा था। सुषुप्ति काल में उस आनंद को भी कूटस्थ ही प्रकाशित करता है।

पर यह किसकी समझ में आता है? कहा 'प्रविविच्यताम्' दोनों को पृथक् करके जानने वाले को ही समझ आयेगा। ज्ञान एक-जैसा ही दीखता है। परंतु जब समझ कर आभास एवं कूटस्थ—दोनों ज्ञानों का भेद देखता है, तब कूटस्थ और चिदाभास की पहचान प्रकट होती है। अन्यथा 'मैं ही सो रहा था, मैं ही जाग रहा हूँ' ये एक ही तरह के अनुभव लगते हैं। मैं जाग रहा हूँ तो बुद्धिवृत्ति के साथ हूँ; मैं सो रहा हूँ तो बुद्धिवृत्ति के बिना हूँ। यह बात विवेक करनेवाला, अलग-अलग करके समझने वाला तो समझ सकता है, अन्यथा नहीं। चिदाभास खुद बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित है, झूठा है। और इसीलिये वह संसार के झूठे नाम-रूपों को प्रकाशित करता है। उसका अनित्य ज्ञान भी झूठा ही है क्योंकि वह खुद भी झूठा ही है। हमारे यहाँ नियम है कि जैसा देव होता है वैसी ही उसकी पूजा होती है। यदि तमोगुणी देवता है तो उसके अनुरूप बकरा भोग में चढ़ाना पड़ेगा। सात्त्विक देवता को हलुआ चढ़ेगा। इसी प्रकार मिथ्या नाम-रूप को देखने वाला भी मिथ्या ही है। जो सत्य तत्त्व है, वह न दीखता है,न देखता है। इसलिये श्रुति ने कहा है, 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्'। द्रष्टा तो नष्ट हो जाता है, लेकिन उसकी दृष्टि नष्ट नहीं होती, वैसी की वैसी रहती है। द्रष्टाभाव बुद्धिवृत्ति के द्वारा है, चिदाभास के द्वारा है। वह नाम-रूप को प्रकाशित करके ख़त्म हो जाता है पर दृष्टि वैसी ही बनी रहती है। उस दृष्टि को ही यहाँ कूटस्थ कह रहे हैं। दृष्टि अर्थात् ज्ञान है। चिदाभास का वृत्तिज्ञान है। वृत्ति तो नष्ट हो जायेगी, ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता।।३।।

अध्यात्म की तरह अधिभूत जगत् में भी यह भेद दिखाते हैं—

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत्।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते।। ४।।

घट ही एक आकार है जिसका उस बुद्धिवृत्ति में स्थित (आभासरूप) चेतन घट को ही प्रकाशित करता है। घट की ज्ञातता ब्रह्मरूप चेतन से भासती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घड़े के आकार वाली बुद्धिवृत्ति से घड़े का पता चलता है। 'एक आकार' इसलिये कहा कि सिर्फ़ घट के ज्ञान के लिये वृत्ति भी घट-इतने ही आकार की चाहिये। उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चेतन अर्थात् चिदाभास है वह घट का प्रकाश करता है। इस प्रकार, बुद्धिवृत्ति ने घट को जाना। 'घड़े को जानना' तो बुद्धिवृत्ति है। 'घड़े को जानना' तो एक क्षण के बाद समाप्त हो जायेगा। पर घड़े को जान लिया, घड़ा 'जाना गया' बन गया अब वह 'नहीं जाना गया' तो कभी नहीं होगा! इसी को 'ज्ञातता' कहा। ' घटस्य ज्ञातता' घड़े को जान लिया—यह बात तो ब्रह्मरूप चैतन्य, कूटस्थ के द्वारा ही प्रकाशित होती है। घड़े को तो बुद्धिवृत्ति ने जाना, लेकिन 'घड़ा जान लिया गया, जाना हुआ घड़ा' यह कूटस्थ चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिये दो चेतनों को माने बिना यह व्यवस्था बन नहीं सकती। घड़े को जीव जानता है और 'घड़ा ज्ञात है,' इस बात को कूटस्थ जानता है। कूटस्थ दो प्रकार से घड़े को जानता है : जब तक बुद्धिवृत्ति नहीं बनी, तब तक तो घड़े को 'नहीं जानता' प्रकार से जानता है। जब तक बुद्धिवृत्ति नहीं बनी तब भी कूटस्थ घड़े को 'नहीं जाना हुआ घड़ा' यों जान रहा था। यह बात लोगों को स्पष्ट नहीं हो पाती। 'मैं जर्मन भाषा नहीं जानता' यह किससे सिद्ध हो रहा है? मैं जानता हूँ कि मैं जर्मन भाषा नहीं जानता। अतः मेरे ज्ञान से ही मेरा जर्मन भाषा का अज्ञान प्रकाशित हो रहा है। कोई दूसरा कहे 'तुम जानते हो' तो कहोगे 'मैं जानता हूँ कि मैं नहीं जानता।' इसलिये, 'जर्मन भाषा नहीं जानता' इस प्रकार से सीखने से पूर्व जर्मन भाषा जान रहा था, और सीखने के बाद 'मैं जर्मन भाषा जानता हूँ' इस प्रकार से जर्मन भाषा को जानता हूँ। कूटस्थ का जो ज्ञान है, वह एक जैसा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। कोई काल ऐसा नहीं है जब वह घड़े को नहीं जानता। सब चीज़ों को जानता है। कुछ चीज़ों को इस प्रकार से जानता है कि 'मैं जानता हूँ,' दूसरी चीज़ों को जानता है कि 'मैं नहीं जानता'। इसलिये कूटस्थ सर्वज्ञ है। जैसे बुद्धिवृत्ति में कूटस्थ-आभास का भेद प्रत्यक्ष है वैसे बाह्य घट आदि विषयों में भी स्पष्ट है। अध्यात्म में कूटस्थ अर्थात् त्वम्पदार्थ एवं बाह्य जगत् में ब्रह्म अर्थात् तत्पदार्थ आभास से पृथक् सिद्ध हो जाता है।।४।।

केवल कूटस्थ से सारे अनुभव उपपन्न नहीं होते अतः वृत्ति मान्य है यह दिखाते हैं—

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात् पुरा।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा।। ५।।

बुद्धिवृत्ति बनने से पहले यह घड़ ब्रह्म द्वारा ही अज्ञातरूप से ज्ञात था, वृत्ति बनने के बाद तो (उसी के द्वारा) ज्ञातरूप से ज्ञात है—यह भेद है।

पहले अज्ञातरूप से कूटस्थ घड़े को जानता था, 'मैं इसको नहीं जानता' इस रूप में जानता था। कब तक? जब तक अंतःकरण की वृत्ति ने जाकर घट से सम्बन्ध कर घटाकार ग्रहण नहीं किया था एवं उसमें चिदाभास नहीं पड़ा था तब तक यही मालूम था कि 'मैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं जानता'। यों घट को अज्ञातरूप से जानता था। जब घटाकार वृत्ति के अन्दर चिदाभास पड़ गया, अर्थात् घटज्ञान हो गया, तब वह ब्रह्म ही 'यह घड़ा ज्ञात है' इस रूप से जानता है। घटाकार बुद्धि बनने के पहले घट में अज्ञातता है, बाद में घट में ज्ञातता है। पर अज्ञातता वाला घट और ज्ञातता वाला घट—इन्हें ब्रह्म एक जैसे ही जानता है। बुद्धिवृत्ति बन गई तो विषय ज्ञात हो गया, बुद्धिवृत्ति वहीं बनी तो अज्ञात रहा। परंतु हर हालत में, चाहे अज्ञात रूप से, चाहे ज्ञातरूप से, घट हमेशा ही प्रकाशित है। बुद्धिवृत्ति बनने के बाद जो विशेष प्रकाश होता है उसमें आभास का योगदान है। दीवाल में जहाँ दर्पण के आदित्य का प्रकाश पड़ रहा है, वह साफ दीखता है। दीखता तो नभस्थ सूर्य के प्रकाश से भी है, पर दर्पणस्थ सूर्य के प्रकाश से अधिक साफ दीखता है। इसी प्रकार हमें बुद्धि के प्रकाश से चीज़ें साफ दीख जाती हैं, ज्ञातरूप दीख जाती हैं, किंतु उससे पहले भी अज्ञातरूप से दीख तो रही हैं। अज्ञातरूप से दीखना, सामान्य प्रकाश से प्रकाशित दीवाल की तरह है और ज्ञात-रूप से दीखना काँच के आदित्य के प्रकाश से प्रकाशित होने की तरह है। इसलिये अज्ञात अवस्था में हमें ऐसा लगता है, 'हम नहीं जानते'। विवेचन क्या हुआ? 'नहीं जानना' किससे सिद्ध है? जानने से। 'मैं जानता हूँ कि नहीं जानता' तभी 'नहीं जानता' सिद्ध है। अतः 'नहीं जानना' भी जानने से ही सिद्ध है। और, 'मैंने जान लिया' यह भी ज्ञान से ही सिद्ध है। ज्ञातता, अज्ञातता—ये दोनों ही ज्ञान से प्रकाशित हैं। इसलिये वह ज्ञान (कूटस्थ) सामान्य प्रकाश हुआ। ज्ञातरूप से जब तुमने जाना बस उस एक क्षण के लिये विशेष प्रकाश है, वृत्ति और आभास हैं। वृत्ति माने बिना 'अज्ञात' और 'ज्ञात' का अन्तर संगत नहीं होता इसलिये ज्ञानरूप भले ही कूटस्थ है पर वृत्ति और आभास स्वीकारने पर ही ये अनुभव उपपन्न होते हैं।। ५।।

विषयज्ञान और अज्ञान का भेद बताते हैं—

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्तकुन्तवत्।
जाड्यमज्ञानम् एताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते।। ६।।

चिदाभासरूप नोक वाली बुद्धिवृत्ति ज्ञान है जैसे लोहे की नोक वाला दण्ड भाला होता है। अज्ञान का अर्थ है जडता। इन दोनों द्वारा घड़ा घेरा जाता है अतः ('ज्ञात' और 'अज्ञात') दो तरह कहा जाता है।

चाहे लोहे का ही डंडा होवे, वह किसी चीज़ को भेदन नहीं कर सकता पर यदि उसके ऊपर शूल लगा दो तो भाला बन जाता है। भाले से तुम किसी का पेट फाड़ सकते हो। एक में काटने की शक्ति है, एक में काटने की शक्ति नहीं है। इसी प्रकार से बुद्धि खुद दण्डे की तरह जड है इसलिये किसी चीज़ को प्रकाशित नहीं कर सकती। जैसे काँच भी बालू ही है। इसलिये काँच से तुम चीज़ को दिखा नहीं सकते हो। पर काँच में यह शक्ति है कि सूर्य के प्रकाश को लेकर प्रकाश करने वाले जैसा बनता है। जैसे काँच में से जो प्रकाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आ रहा है, वह काँच का नहीं है, है तो वह सूर्य का ही, लेकिन काँच से होकर आता है तो विशेष काम करता है, इसी प्रकार जैसे तुम्हारा शरीर महाभूतों से बना वैसे तुम्हारी बुद्धि भी महाभूतों से बनी। लेकिन बुद्धि में यह विशेषता है कि चेतन के प्रकाश को ले लेती है। बुद्धि हो गई डंडे की जगह। जब उसमें चेतन का प्रकाश पड़ता है तो वह बन गया शूल की, लोहे की नोक की तरह। लोहा होने पर भी नोक भेदन करती है, दण्डा नहीं करता। इसी तरह जड होने पर भी चेतन का प्रकाश ग्रहण करके वृत्ति जान लेती है, यदि प्रकाश नहीं पड़ेगा तो नहीं जानती। जैसे दण्डे के अंतिम भाग में 'कुन्त,' शूल लगा दिया जाये तो भाला बन जाता है। इसी प्रकार से चिदाभास लगा हुआ है बुद्धिवृत्ति पर। सूर्य तो सर्वव्यापक नहीं है इसलिये ऐसा काँच तुम रख सकते हो कमरे में जिसमें सूर्य का प्रकाश न पड़े। परन्तु ब्रह्म सर्वव्यापक है। इसलिये बुद्धिवृत्ति बनेगी तो उसमें ब्रह्म का प्रकाश ज़रूर पड़ेगा। यही इस भ्रम का कारण है कि वृत्ति ज्ञान ही है। चूँकि बुद्धिवृत्ति बनने पर प्रकाश ज़रूर पड़ता है इसलिये हमें लगता है कि यह बुद्धिवृत्ति ही ज्ञान कर रही है । विचार करने पर अंतर समझ में आता है कि बुद्धिवृत्ति तो जड महाभूतों से बनी है इसलिये इसमें ज्ञान कहीं से आना पड़ेगा। जैसे बिजली के तार हैं वैसे बुद्धि है। किसी को भ्रम हो सकता है कि तार ही बिजली है क्योंकि बिना तार के बिजली मिलती नहीं। जब तक देख न लें कि तार बिलकुल ठीक है फिर भी बिजली नहीं आ रही, तब तक यह भ्रम बना रहेगा कि तार ही बिजली है। नहर को ही पानी समझ लेना, या नल को पानी वाला समझ लेना, जैसे ये सब भ्रम होते हैं, वैसे ही लोग बुद्धि को ज्ञान समझ लेते हैं। वह तो ज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रकाश लेकर प्रकाशित है। पानी की टंकी से लेकर नल पानीवाला है लेकिन तभी जब टंकी के साथ सम्बन्धित होवे। नहर पानी है, तभी जब वह नदी के साथ सम्बन्धित होवे। ठीक इसी प्रकार ज्ञान बुद्धि में प्रकाशित होगा तब बुद्धि उस ज्ञान के द्वारा घड़े या कपड़े को प्रकाशित कर सकती है, अन्यथा नहीं। चिदाभास जिस बुद्धि के आगे लगा हुआ है, वही वृत्ति ज्ञान है। किसी चीज़ को नहीं जानते यह अज्ञान है। जड और चेतन का भेद क्या है? जो जानता है वह चेतन है, जो नहीं जानता उसे जड कहते हैं। नहीं जानना ही जडता का स्वरूप है। घड़ा दो प्रकार का कहा गया, एक तो जाना घड़ा, दूसरा नहीं जाना घड़ा। यदि उस आकार की बुद्धिवृत्ति बन गई तो तुम उस घड़े को 'ज्ञात' जानते हो, और बुद्धिवृत्ति नहीं बनी तो 'अज्ञात' जानते हो। अज्ञात और ज्ञात के द्वारा व्याप्त होने से घड़ा दो प्रकार से कहा जाता है।। ६।।

अज्ञाततया 'भान' के लिये ब्रह्म से भासित होना मानना आवश्यक होने पर भी ज्ञाततया भी ब्रह्म से भासित होना क्यों मानना, ज्ञान से ही क्यों न मानें? इसका उत्तर देते हैं–

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भस्तथा न किम्।
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः।। ७।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अज्ञात घड़ा ब्रह्म से भासित होता है, इसी तरह ज्ञात भी क्यों नहीं होगा? चिदाभास का कार्य ज्ञातता पैदा करने से पूरा हो जाता है।

घड़ा अज्ञात है यह बात ब्रह्म से ही प्रकाशित है। कोई पूछता है 'तुम देवदत्त को जानते हो?' तुम कहते हो 'मैं देवदत्त को नहीं जानता'। अर्थात् 'मैं जानता हूँ कि मैं देवदत्त को नहीं जानता।' न जानने के लिये बुद्धिवृत्ति की कोई ज़रूरत नहीं है। 'मैं देवदत्त को नहीं जानता' इस के लिये बुद्धिवृत्ति की ज़रूरत नहीं है। बिना बुद्धिवृत्ति बने ही जानते हो, कि 'नहीं जानते'। घड़े को नहीं जानता हूँ—यह ब्रह्म से ही भास्य है। इस अज्ञान को सादि नहीं कह सकते, क्योंकि हमेशा से ही है। मैं देवदत्त को हमेशा से नहीं जानता इसलिये इसके लिये बुद्धिवृत्ति की ज़रूरत नहीं। फिर, ब्रह्म ही 'यह ज्ञात हो गया' इस बात को क्यों नहीं जान लेता? बुद्धि की क्या ज़रूरत है? पहले अज्ञात था और अब ज्ञात हो गया इन स्थितियों के बीच में कुछ अनित्य घटना होगी तभी घड़ा 'अज्ञात' से 'ज्ञात' होगा। अज्ञात तो अनादि काल से है, यदि कोई नया कार्य हो नहीं तो ज्ञात कैसे हो जायेगा? वह घटना उत्पन्न करना वृत्तिस्थ चेतन का कार्य है। जब बुद्धि से घड़े को घेरा तभी कह सकते हो कि 'मैंने जान लिया।' 'जान लियापना' वृत्ति से पैदा हुआ, क्योंकि इससे पहले नहीं था, और अब है, आगे हमेशा रहेगा। ब्रह्म का ज्ञान है लेकिन अब तक अज्ञात था, अब ज्ञात हो गया, कुछ फ़र्क पड़ा; फ़र्क यही है कि बुद्धिवृत्ति घड़े के आकार की बनी उसमें चिदाभास का प्रकाश पड़ा। ज्ञातता को पैदा करने में ही चिदाभास की ज़रूरत है। इसके बिना ज्ञातत्व पैदा नहीं होता।। ७।।

अकेली बुद्धि नहीं, आभास-समेत ही वह ज्ञातता पैदा करती है यह बताते हैं—

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते।
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद् विकारिणः।। ८।।

आभास-रहित बुद्धि से ज्ञातता पैदा नहीं ही की जाती। चिदाभासरहित परिवर्तनशील बुद्धि में मिट्टी आदि से क्या फ़र्क है!

बुद्धिवृत्ति जब बनी तब जाना तो बुद्धिवृत्ति बनना ही काफ़ी है, उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब, चिदाभास क्यों ज़रूरी है? उत्तर दिया कि बुद्धि और अन्य जड चीज़ों में क्या अंतर है? बुद्धि में और मिट्टी में क्या फ़र्क है? बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है और मिट्टी में चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। जिस प्रकार काँच और घड़े में क्या अन्तर है? काँच में मुँह दीखता है, घड़े में मुँह नहीं दीखता। बने तो दोनों मिट्टी से ही हैं। इसी प्रकार पंचमहाभूतों से बुद्धि भी बनी और उसी से घड़ा भी बना। पर बुद्धिवृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है और मिट्टी, घड़ा आदि में नहीं पड़ता। यही अंतर है। इसीलिये बुद्धि ज्ञातता को पैदा कर देती है। अन्यथा तो बुद्धि जड है। चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही ज्ञान को पैदा कर देती है। जिस ज्ञान को पैदा करती है वह अनित्य है। पर जो ज्ञातता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पैदा कर दी वह ज्ञातता हमेशा के लिये हो गई। अगर आभास न होता तो जड बुद्धि से ज्ञातता पैदा नहीं हो सकती थी। यदि चेतन का प्रतिबिम्ब न ग्रहण करे तो बुद्धि में कौन-सी विशेषता है कि बुद्धिवृत्ति से ज्ञान हो जाये! बुद्धि भी, मिट्टी इत्यादि की तरह भौतिक है, वैसे ही विकारी है। चूँकि आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिये जब भी बुद्धिवृत्ति बनेगी तब उसमें चेतन का प्रकाश पड़ेगा ही इसलिये बुद्धिवृत्ति कभी अज्ञात नहीं रहती। घट में तो अज्ञातता है, क्योंकि वह खुद चेतन का प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करता, यह ग्रहण करने के लिये उसके ऊपर बुद्धि की खोल चाहिये। जब जहाँ घड़ा है वहाँ बुद्धि जाकर घटाकार बने, तभी घट का ज्ञान हो।

इसीलिये बौद्धों को यह भ्रम हो गया, कि बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त घड़ा है ही नहीं। क्योंकि बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त घड़ा जानने का कोई प्रकार उनको लगा नहीं अतः उन्होंने मान लिया कि घटाकार बुद्धिवृत्ति बनी, बस वही घट है। परंतु आचार्य शंकर ने विस्तार से विचार किया है कि स्वप्न और जाग्रत् का सर्वप्रसिद्ध भेद बौद्ध के अनुसार असंगत है। इसके लिये उपदेशसाहस्री में स्वप्नस्मृति प्रकरण है। स्वप्न में भी चीज़ें दीखती हैं, और याद, स्मृति में भी चीज़ें दीखती हैं। उनके देखने में और जाग्रत् में सच्चे पदार्थों को देखने में कुछ अंतर मानना ही पड़ता है। स्वप्न के अन्दर घटाकार वृत्ति ही है, घट नहीं है। इसी प्रकार आँख बंद करके घड़े को याद करते हैं तो भी घड़ा *दीखता* है। परन्तु वहाँ केवल बुद्धि की वृत्ति है, घड़ा नहीं है। जाग्रत् में जब घड़ा देखते हैं तब भी बुद्धिवृत्ति के बिना तो नहीं, लेकिन कोई चीज़ है जिसको जाकर बुद्धि अपना विषय बनाती है। यदि ऐसा नहीं मानें तो स्वप्न और जाग्रत् में कोई फ़र्क ही नहीं रह जायेगा, इन्द्रियों की कोई अपेक्षा ही नहीं रह जायेगी। सारा व्यवहार इससे गड़बड़ा जायेगा। स्वप्न में हमने तुमको दस हज़ार रुपये दे दिये, दस हज़ार रुपये स्वप्न के ही हैं। जाग्रत् में तुमसे माँगेंगे तो तुम नहीं कहोगे कि 'लो, मैं बुद्धिवृत्ति बना देता हूँ। दस हज़ार दे दिये तुम को।' स्वप्न में हमारी बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त दस हज़ार रुपये नहीं हैं, पर जाग्रत् में तो हमारी बुद्धि से अतिरिक्त दस हज़ार हैं। आचार्य शंकर इसीलिये पूछते हैं कि विज्ञानवादी कहता है कि विज्ञान से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो फिर भिक्षा लेने को घर-घर भटकने की क्या ज़रूरत है? जैसे स्वप्न के अंदर हमको सड़क बनाने के लिये किसी इंजीनियर की ज़रूरत नहीं, वैसे ही जाग्रत् में भी किसी इंजीनियर की ज़रूरत नहीं पड़नी चाहिये। इसलिये यह ठीक है कि कभी भी बुद्धिवृत्ति होवे और ज्ञान न होवे, ऐसा नहीं मिलता, फिर भी बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त ज्ञान को मानना पड़ता है। और बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त कोई घड़ा भी नहीं मिलता, फिर भी बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त घड़े को मानना पड़ता है। अन्तःकरण ही जीव की खास उपाधि है। जीव और जीव का ज्ञान कहीं भी मिलता है तो हमेशा बुद्धिवृत्ति के साथ ही। परंतु जीव अर्थात् चिदाभास है बुद्धिवृत्ति से अलग क्योंकि बुद्धिवृत्ति जड है इसलिये उसको चेतन हम बनाते हैं, जीव बनाता है। चिदाभास ही जीव का रूप है।। ८।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आभासप्रयुक्त ही बुद्धि और मिट्टी में भेद है यह उदाहरण से बताते हैं–

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित्।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा।। ९।।

मिट्टी से लिपा घड़ा कहीं 'ज्ञात' ऐसा नहीं कहा जाता, इसी तरह केवल बुद्धि से घिरे घड़े की ज्ञातता स्वीकार नहीं।

जिस समय घड़ा बना नहीं है, उस समय भी परिणामवाद के अनुसार, घड़ा मिट्टी के चूर्ण रूप से ढँका हुआ है। ठीक जिस प्रकार से जब तेल तिलों के खलीरूप से छिपा हुआ है तब उसे छू या चख़ नहीं सकते। जैसे ही खली हटाते हैं, वैसे ही तेल प्रकट हो जाता है। यह नहीं कह सकते कि पेरने से तेल आया क्योंकि तब तो बालू को भी पेरने से तेल आ जाता! तिलों में पहले से तेल है तभी निकलता है। इसी प्रकार से मिट्टी में घड़ा है तभी वह निकलता है। यदि ऐसा न होवे तो कपड़े से भी घड़ा बना लेवें। जैसे तिल से ही तेल निकलता है, वैसे मिट्टी से ही घड़ा बनता है इसका मतलब है, मिट्टी में घड़ा है। पर चूर्ण रूप से छिपा हुआ है। जैसे ही चूर्णरूप को हटाते हैं, घटरूप प्रकट हो जाता है। इसलिये 'मृदालिप्त' का एक अर्थ हो सकता है, जब तक घड़ा नहीं बना तब तक वह मिट्टी से आवृत या छिपा हुआ था। उस चूर्णरूप वाली मिट्टी को देखकर कोई नहीं कहता कि मैंने घड़े को जान लिया। दूसरा अर्थ हो सकता है, घड़े पर जैसे पंचमहाभूत से उत्पन्न बुद्धि को लीपते हो, वैसे घड़े के ऊपर मिट्टी को लीप दो इतने मात्र से घड़े को नहीं जान सकते। बुद्धि तदाकार बने तभी जाना जायेगा। बुद्धि भले ही प्रत्यक्ष से आकार ले या अनुमानादि से, लेगी तभी घड़ा ज्ञात होगा। पत्थर में कारीगर मूर्ति को अनुमान से देख लेता है अतः पत्थर उसके अनुकूल नहीं हो तो कह देता है 'इससे मूर्ति नहीं बनेगी'। उसको मूर्ति दीख जाती है, पर हमें नहीं दीखती। चाहे प्रत्यक्ष से या अनुमानादि से दीखे, बुद्धिवृत्ति बनने पर ही दीखता है। प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा जब तक विषय से सीधे संबद्ध होकर बुद्धिवृत्ति नहीं बनेगी। अतः मिट्टी और बुद्धि में कोई अंतर है जिससे मिट्टी से लिप्त ज्ञात नहीं होता, बुद्धि से लिप्त ज्ञात होता है। अन्तर यही है कि बुद्धि में चिदाभास पड़ता है, अन्यत्र नहीं। अतः वृत्तिमात्र नहीं वरन् साभास वृत्ति ही ज्ञातता में हेतु है। अन्यथा तो जैसे मिट्टी है वैसे ही बुद्धिवृत्ति भी जड है।। ९।।

निष्कर्ष यह निकला–

ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्चिदाभासफलोदयः।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात् प्रागपि सत्त्वतः।। १०।।

इसलिये घड़े में ज्ञातता का अर्थ है चिदाभासरूप फल की उत्पत्ति। ब्रह्मरूप चैतन्य फल नहीं है क्योंकि प्रमाण-व्यापार से पहले भी विद्यमान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अतः'—चूँकि केवल बुद्धि से ज्ञातता पैदा नहीं होती। ठीक जिस प्रकार से केवल लकड़ी से किसी का पेट नहीं फाड़ सकते, यदि उसके आगे लोहे का शूल लगा दो, तो उसी भाले से किसी का पेट फाड़ सकते हो। इसी प्रकार केवल चिन्मात्र भी ज्ञातता को पैदा नहीं कर सकता और केवल बुद्धिवृत्ति भी पैदा नहीं कर सकती, बुद्धिवृत्ति में आरूढ चेतन कर सकता है। चूँकि ऐसा है अतः घड़े के ऊपर घटाकार वृत्ति बने और उसमें चेतन का प्रकाश पड़े तब घट में ज्ञातता होगी। बुद्धिवृत्ति के अंदर चेतन का आभासरूप फल का उदय होना ही ज्ञातता कहा जाता है। 'जान लिया' का मतलब हुआ घड़े के ऊपर घड़े की वृत्ति बन कर उसमें चिदाभास पड़ना। प्रश्न होता है कि ब्रह्मचैतन्य को ही फल क्यों न मान लें? बुद्धिवृत्ति बने और ब्रह्मचैतन्य उसको जान लेवे। किंतु ऐसा मानना ग़लत होगा। क्यों? ब्रह्मचैतन्य तो बुद्धिवृत्ति बनने के पहले भी था। प्रमाण के प्रवृत्त होने के पहले भी ब्रह्मचैतन्य था ही। ब्रह्मचैतन्य एक जैसा है, वह तो ज्ञात और अज्ञात दोनों घटों को प्रकाशित करता है। इसलिये ज्ञातता लाने के लिये बुद्धिवृत्ति और उसमें चेतन के प्रकाश की ज़रूरत है।। १०।।

फल का उक्त अभिप्राय सुरेश्वराचार्य के वचन के विरुद्ध जाता है। उनके वचन से ऐसा लगता है कि ब्रह्मचैतन्य ही फल कहा है। उनके वचन से विरुद्ध नहीं यह बताने के लिये पहले वचन (बृ.सं.वा.१५६) उद्धृत करते हैं—

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता।
संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः।। ११।।

अनात्मपदार्थरूप प्रमेयों में जो संवित् फलरूप मानी जाती है वही वेदान्तशास्त्र में प्रमेय वस्तु है क्योंकि वेदान्तों के वचन यही स्पष्ट करते हैं।

वेदान्त अर्थात् उपनिषद्। वेदान्त का मुख्य अर्थ होता है महावाक्य। महावाक्य से जिसको जाना जाता है वह ब्रह्मचैतन्य ही है। पराक् अर्थात् बाहर के घट पट आदि। बाहर के जो अर्थ हैं, उनको प्रमाणों से जाना जाता है। घड़ा हो गया 'परागर्थ' जो आँख या स्पर्श आदि के द्वारा जाना जाता है। प्रमाण के जो विषय हैं, उनमें प्रमाण का फल है ज्ञान। वह वही ज्ञान है जो वेदान्तरूप प्रमाण से जाना जाता है—यह सुरेश्वराचार्य ने बतलाया है। इसमें ऐसा लगता है कि हमने घट को जाना, घटज्ञान जो फल हुआ, वह वही है जो ब्रह्मरूप ज्ञान है।।११।।

इस वार्तिकवचन से पूर्वोक्त व्यवस्था का विरोध नहीं यह बताने के लिये वार्तिक का अर्थ बताते हैं—

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम्।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्रयां विश्रुतो यतः।। १२।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वोक्त वार्तिक में आचार्य फल में संवित्समानता बताना चाहते हैं क्योंकि उपदेशसाहस्री में ब्रह्मरूप चेतन और फल में भेद स्पष्ट बताया है। ('वार्तिककाराणाम्' ऐसा मोडक को इष्ट पाठ है।)

ज्ञान समझाना आचार्य के लिये प्रधान है। जैसे काँच में मुँह दीख रहा है, कोई पूछे 'यह किसका मुँह है?' तो क्या कहोगे? 'मेरा मुँह है' यह कहते हो। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि तुम यह कहना चाहते हो कि तुम्हारा सिर कटकर काँच में घुस गया! 'मेरा ही मुँह दीख रहा है', यह कहते हो, साथ ही जानते हो कि यह मेरे मुँह जैसा मुँह है। इसी प्रकार फल सचमुच में चेतन नहीं है। ब्रह्मचैतन्य ही बुद्धिवृत्ति में प्रतिफलित हुआ चिदाभास है, यह आचार्य कह रहे हैं। इस भाव को नहीं समझ कर यह मान्यता है कि शायद यही कहा है कि घटज्ञान में ज्ञान ब्रह्मचैतन्य ही है। बुद्धिवृत्ति के द्वारा होने वाला ज्ञान तो पैदा होता और समाप्त होता है जबकि ब्रह्म चैतन्य एक-जैसा निर्विकार रहता है। इतना फ़र्क है, परन्तु है किसका प्रतिबिम्ब? उस प्रतिबिम्ब को यदि ढूँढते हैं तो हमें चैतन्य हाथ में आ जाता है। इसलिये सामान्य नियम यही है कि परमात्मा को 'मैं' इस ज्ञान में ढूँढो। 'मैं' यह ज्ञान है तो जीव का, अहंकारात्मिका वृत्ति होती है तभी 'मैं' होता है। परन्तु जब मैं को जानने चलते हैं तब पता लगता है कि 'मैं' तो गहरी नींद में नहीं रहता, फ़िर भी मैं रहता हूँ क्योंकि 'मैं बड़े सुख से सोया' यही याद आती है। सुषुप्ति में 'मैं बड़े सुख से सो रहा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि 'मैं' नहीं रहता। इस तरह मैं को ढूँढने जाते हैं तो दो मैं मिलते हैं: एक तो बुद्धिवृत्ति के साथ वाला, अहंकारात्मिका वृत्ति के साथ वाला, और दूसरा सुषुप्ति में बिना बुद्धिवृत्ति वाला। इन दोनों में से सचमुच में मैं कौन हूँ? उपनिषद् यह बतलाती है कि सुषुप्ति के अंदर जो तुम हो वही तुम्हारा उपाधि से रहित रूप है। वहाँ पर अज्ञान है, इसलिये प्रकट नहीं है, परन्तु बुद्धिवृत्ति के बिना वाला रूप वहाँ अवश्य है। मैं को ढूँढने से ही सच्चे मैं का पता लग जाता है। इसलिये सुरेश्वराचार्य ने कह दिया कि घटज्ञान में जो ज्ञान है, उसको ठीक तरह से समझने जाओगे, तो वेदान्त-प्रमाण कहता है कि वह उस चेतन का ही प्रतिबिम्ब है।

ऐसा क्यों नहीं समझ लेते कि वह चेतन है, अर्थात् घटज्ञान में भी ब्रह्म का ही ज्ञान हो रहा है? इसलिये कि घड़ा भी ब्रह्मचैतन्य में अध्यस्त है। प्रमाण से घड़े के द्वारा घिरे चैतन्य का आवरण हटता है। हटता ब्रह्म का ही है लेकिन घिरे ब्रह्म का। इसलिये दोनों में बहुत बड़ा अंतर है—एक, घट से अवच्छिन्न चेतन का ज्ञान है, वेदान्तप्रमेय अनवच्छिन्न ब्रह्म है। जैसे 'मैं' में है तो ब्रह्म का ज्ञान लेकिन अन्तःकरण या अहंकारात्मिका वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन का ज्ञान है, उसी प्रकार घट का ज्ञान तो चेतनरूप है, लेकिन उपाधिवाले चेतन का ज्ञान हो रहा है। सुरेश्वराचार्य का यही अभिप्राय है क्योंकि भगवान् भाष्यकार ने इस बात को उपदेशसाहस्री में (प्र. १४ श्लो.७) कहा है। इसलिये चिदाभास को न लेकर ब्रह्मचैतन्य से ही काम चला लेवें, ऐसा वार्तिककार का अर्थ नहीं। 'सैव' का मतलब है 'तत्सदृशी',

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्सादृश्य कहने में तात्पर्य है। लौकिक फलरूप ज्ञान चेतन के सदृश है। जैसे कोई पूछता है 'इस चित्र में मुरली कहाँ है?' तो मुरली इशारे से दिखाकर कहता है कि 'यह मैं हूँ।' परंतु उसका मतलब है 'यह मेरे जैसा है'। इसी प्रकार सुरेश्वराचार्य ने जो कह दिया, 'संवित् सैवेह मेयोऽर्थः' उसमें मतलब है कि संवित् की तरह है। सुरेश्वराचार्य का ऐसा ही अभिप्राय है क्योंकि चिदाभास और ब्रह्म का भेद आचार्य ने उपदेशसाहस्री में माना है। स्वप्नस्मृति प्रकरण में उन्होंने चिदाभास और ब्रह्म का भेद बतलाया है। उसके अनुरोध से यहाँ ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास का भेद ही प्रतिपादित मानना चाहिये।। १२।।

वार्तिक से विरोध का परिहार हो गया। प्रकृत प्रसंग को आगे बढ़ाते हैं–

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे।
तत् पुनर्ब्रह्मणा भास्यम् अज्ञातत्ववद् एव हि।। १३।।

(क्योंकि स्थायी ब्रह्म से अलग फल है) इसलिये घट में उत्पन्न आभास घट में ही ज्ञातता पैदा करता है। और वह ज्ञातता ब्रह्म से वैसे ही भासित होती है जैसे अज्ञातता उससे भासित होती है।

'इसलिये' अर्थात् ब्रह्मरूप चेतन से फल को क्योंकि अलग बतलाया है, इसलिये। घट के ऊपर जब बुद्धिवृत्ति गई और उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ा, तब घटस्थल के अन्दर आभास का उदय हुआ। जो उदित हुआ फल है, यही घट के अन्दर ज्ञातता पैदा कर देता है। घड़े को 'जान लिया', यह जो ज्ञातता है, इसे ब्रह्म प्रकाशित करता है। 'ज्ञात घट है'– यह बात ब्रह्म का प्रकाश है, ब्रह्म यह जानता है। जैसे पहले जानता था कि घट अज्ञात है वैसे ही जानता है कि घट ज्ञात है।। १३।।

ब्रह्म और आभास के भास्यों का अन्तर बताते हैं–

धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिता।
कुम्भमात्रफलत्वात् स एक आभासतः स्फुरेत्।। १४।।

बुद्धिवृत्ति, आभास और घड़ा–इनका समूह चेतनद्वारा भासित किया जाता है जबकि फल क्योंकि केवल घड़े में स्थित है इसलिये आभास (फल) से अकेला घड़ा भासता है।

'चिता' अर्थात् चेतनमात्र से; ब्रह्मचैतन्य से तो वृत्ति आभास और घड़ा–तीनों प्रकाशित होते हैं। फल से केवल घड़ा प्रकाशित होता है, तीनों नहीं। घड़ा जान लिया–यह तो ज्ञान चित् का है, चेतन का है। और चिदाभास घड़ेमात्र को जानता है। दोनों के भास्य में बहुत बड़ा अंतर है। हम लोगों का जो ज्ञान होता है 'यह घड़ा है'–यह चिदाभास का है क्योंकि बुद्धि की वृत्ति आँख के द्वारा निकल कर घड़े पर जाती है और घटाकार वृत्ति में चेतन का प्रकाश पड़ता है, चिदाभास पड़ता है। इसी का नाम है घटज्ञान। और घड़ा, आभास और बुद्धिवृत्ति–इन तीनों को प्रकाशित करने वाला कूटस्थ है। जब कहते हो 'मैंने घड़े को जाना'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो जानने वाला मैं भी पता लगता है। किसको जाना? घड़े को जाना। 'जाना' मायने बुद्धिवृत्ति। इस तरह 'ज्ञात घट' में तीनों हैं—बुद्धिवृत्ति, आभास और घड़ा। इन्हें कूटस्थ प्रकाशित करता है।। १४।।

पराक् अर्थ घड़ा आदि आभास और कूटस्थ दोनों से भासित होता है यह बताते हैं—

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः।
अन्येऽनुव्यवसायाख्यम् आहुरेतद् यथोदितम्।। १५।।

क्योंकि घड़े में दुगुना चैतन्य हो जाता है इसलिये वह ज्ञात-रूप से स्फुरता है। जैसी बात यहाँ बतायी इसे अन्य दार्शनिक 'अनुव्यवसाय' कहते हैं।

घड़े में चेतन का प्रकाश दुगुना हो गया। जैसा पहले कहा था कि दीवाल के ऊपर सूर्य का प्रकाश है ही, और काँच के द्वारा भी प्रकाश डाला तो वहाँ दुगुना प्रकाश हो जाता है। दीवार सारी दीखती है पर जहाँ काँच का प्रकाश पड़े वहाँ ज़्यादा प्रकाश होने से चमक ज़्यादा दीखती है। इसी प्रकार घट को अज्ञातरूप से तो प्रकाशित कर रहा था कूटस्थ पहले ही, जब बुद्धिवृत्ति ने प्रकट किया, 'अयं घटः' तब फिर उसमें ज्ञातता भी आ गई, यों जिस समय बुद्धिवृत्ति बनी हुई है, उस समय घट के ऊपर दुहरा प्रकाश है, कूटस्थ का और आभास का। इसलिये उसका ज्ञातरूप से स्फुरण हो जाता है। ज्ञातता आने में कारण चिदाभास का प्रकाश है। ज्ञान से ही जान लिया जाये यह संभव नहीं अतएव वेदांतियों ने आत्मरूप ज्ञान से अलग आभासरूप ज्ञान भी माना। ज्ञान-द्वैविध्य खाली हम ही नहीं मानते अन्ये अर्थात् गौतम, कणाद आदि भी एक घटविषयक व्यवसाय नामक ज्ञान के बाद दूसरा अनुव्यवसाय नामक ज्ञान मानते हैं। हम लोग जिसे साक्षी का, कूटस्थ का ज्ञान कहते हैं, उसे ही गौतम, कणाद के अनुयायी अनुव्यवसाय नाम से कहते हैं। ज्ञात का ज्ञान मानना—यह दूसरों के मत में भी है। वेदान्त से अंतर यह है कि उनके यहाँ अनुव्यवसाय भी बुद्धि का ही ज्ञान है। अनुव्यवसाय भी आत्ममनःसंयोग से ही पैदा होगा। इसलिये प्रश्न उठता है कि दूसरे ज्ञान के लिये फिर तीसरा, चौथा ज्ञान क्यों नहीं? अर्थात् अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। हमारा कूटस्थ क्योंकि निर्विकार स्वप्रकाश है, कभी भी ज्ञेय होता नहीं, इसलिये यह प्रश्न हमारे मत में नहीं आ सकता अर्थात् अनवस्था दोष हमारे मत में नहीं है। हर हालत में जिसे वे अनुव्यवसाय कहते हैं, उसी को हम साक्षिज्ञान कहते हैं। मतान्तर में आत्मा ज्ञानरूप नहीं है, ज्ञान स्वप्रकाश भी नहीं है अतः उक्त दोष है, वेदान्त में आत्मा ही स्वप्रकाश ज्ञानरूप है अतः किसी शंका को मौका नहीं मिलता।। १५।।

आभास और कूटस्थ के ज्ञानों का अनुभव और कथन भी विभिन्न हैं अतः दोनों सर्वसम्मत ही हैं—

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत्।। १६।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'यह घड़ा'—यह कथन आभास की कृपा से तथा 'जाना हुआ घड़ा' यह कथन ब्रह्म के (कूटस्थ के) अनुग्रह से होता है।

'अयं घटः' (यह घड़ा) उक्ति हम इसलिये कह पाते हैं कि चिदाभास ने घड़ा प्रकाशित किया। यह उसका प्रसाद है। जो तुमने जाना, उसी को तुम मुँह से बोल रहे हो। आभास के प्रसाद से तो 'यह घड़ा' यह ज्ञान है; परन्तु ऐसा कह क्यों पाते हैं? क्योंकि चिदाभास ने अर्थात् जीव ने घड़े को देखा है इसलिये उक्ति भी आभास का प्रसाद कह दी। और 'विज्ञातो घट इत्युक्तिः,' 'घट अनुभूत हो गया' यह उक्ति, और इसकी मूलभूत अनुभूति जिसके कारण यह कह पाते हैं, वह 'ब्रह्मानुग्रहतो भवेत्' कूटस्थ ब्रह्म के अनुग्रह से है। कूटस्थ ब्रह्म ने 'घट अनुभव में आ गया' यह प्रकाशित किया। कूटस्थ की दृष्टि से ही ऐसा कह सकते हैं। जब कहते हैं कि घट को जान लिया, उस समय कूटस्थ के अनुभव को लेकर कह रहे हैं। जीव दोनों ही हैं, चिदाभास और वह जिसमें अध्यस्त है वह कूटस्थ। जब हम कहते हैं कि 'यह घड़ा है' तब चिदाभास की दृष्टि से, जीव की दृष्टि से कहते हैं। जीव का ही ज्ञान है कि यह घड़ा है। जब कहते हैं 'जाना हुआ घड़ा' तब कूटस्थ के अनुभव को लेकर। कूटस्थ भी जीव के साथ ही है।।१६।।

घट आदि परागर्थों के संदर्भ में आभास एवं कूटस्थ समझाकर अध्यात्म में समझाना शुरू करते हैं—

आभासब्रह्मणी देहाद् बहिर्यद्वद् विवेचिते।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि।। १७।।

देह से बाहर जैसे आभास व ब्रह्म का विवेक किया वैसे शरीर में भी उन्हें विवेक से समझना चाहिये।

अब तक घट के ज्ञान को लेकर कहा। घड़े का मतलब शरीर से बाहर जितनी चीज़ें हैं सब के बारे में जानोगे तभी जब उसकी बुद्धिवृत्ति बनेगी। वृत्ति प्रत्यक्ष आदि अनेक साधनों से बन सकती है पर बनेगी अवश्य। जैसे बाहर की चीज़ों के ज्ञान का विवेचन किया वैसे शरीर के अन्दर भी जो ज्ञान होते हैं, उनमें आभास और कूटस्थ इन दोनों को अलग करके बताया जाना चाहिये, उनका विवेक करना चाहिये, कि अन्दर दो ज्ञान हैं या नहीं, और हैं तो उनका स्वरूप क्या है।।१६।।

चिदाभास के बारे में पहले बतलाते हैं—

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च।
संव्याप्य वर्त्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा।। १८।।

'मैं'-वृत्ति को एवं कामक्रोधादि वृत्तियों को चिदाभास वैसे ही भली भाँति घेरे रहता है जैसे तपे लोहे को आग घेरे रहती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंदर का ज्ञान भी बुद्धिवृत्ति ही है। 'मैं'—यह भी बुद्धि की एक वृत्ति है। बुद्धि की वृत्ति बनी तो उसमें चिदाभास पड़ना ही है। जैसे घटाकार वृत्ति बनी तो उसमें चिदाभास पड़ा वैसे ही मैं-वृत्ति बनी तो उसमें भी चिदाभास पड़ा। अर्थात् केवल विषयाकार वृत्ति के बनने पर ही चिदाभास पड़ता हो ऐसा नहीं, जहाँ भी बुद्धिवृत्ति होगी वहाँ चिदाभास पड़ेगा। अहम्वृत्ति की विशेषता यह है कि इसके अन्दर चैतन्य की प्रत्यगात्मरूपता का पता लगता है। 'मैं' अर्थात् जानने वाला रूप हमेशा अंदर ही प्रतीत होता है। बहुत-सी चीज़ों को हम समझ लेते हैं कि ये जानने वाली होंगी। परंतु फिर पता लगता है कि वे जानने वाली नहीं, उनको जानने वाला तो दूसरा है। पर मैं के बारे में यह कभी नहीं होता कि मैं को कोई और जान रहा है। मैं का हमेशा अनुभव 'मैं जानने वाला' इसी रूप में होता है। प्रत्यगात्मरूपता अहं-वृत्ति में प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार से बुद्धि की काम वृत्ति है। उपनिषद् के अंदर मन की अनेक वृत्तियों को गिनाते हुऐ सबसे अंत में कहा है 'एतत् सर्वं मन एव'। काम, क्रोध, लोभ, हिंसा आदि मन की वृत्तियाँ गिनाकर उन्हें मन कहा। क्रोध भी मन की वृत्ति है। लोभ-मद मात्सर्य आदि सब बुद्धिवृत्तियाँ हैं। इसलिये इनमें भी चिदाभास पड़ेगा ही। इन सभी बुद्धिवृत्तियों के अंदर व्याप्त होकर चिदाभास रहता है। कैसे? दृष्टांत दिया : जैसे लोहे को गर्म करो तो आग सारे लोहे में फैल जाती है, इसी प्रकार बुद्धि की सारी वृत्तियों में चिदाभास रहता है। एक वृत्ति के बाद दूसरी वृत्ति बनेगी, इकट्ठे ही सब वृत्तियाँ नहीं बनेंगी पर सारी वृत्तियों में चिदाभास व्याप्त करके रहेगा। इस तरह चिदाभास का कार्य हो गया काम, क्रोध, मैं आदि को प्रकाशित करना। ॥१८॥

उक्त उदाहरण से यह भी समझाते हैं कि आभास व्याप्त होने पर भी ये 'ज्ञान' वृत्तियाँ नहीं हैं—

स्वमात्रं भासयेत् तप्तं लोहं नान्यत् कदाचन।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः।। १९।।

तपा लोहा केवल खुद को दिखाता है, और किसी को कभी नहीं, इसी तरह आभासयुक्त (अहमादि) वृत्तियाँ अपने-अपने को भासित करती हैं (ज्ञानवृत्ति की तरह और किसी को नहीं)।

जब लोहा खूब गर्म करने से लाल हो गया तब लाल लोहा तो दीखेगा पर उससे तुम चाहो कि किताब बाँच लो तो नहीं हो सकता। ऐसे ही धूपबत्ती जल रही है तो उसकी जलती नोंक दीखेगी पर यदि तुम चाहो कि उस से नीचे तक की पूरी बत्ती देखो, तो नहीं देख सकते। इसी प्रकार से अहं, काम आदि बुद्धिवृत्ति के अंदर जो चिदाभास है, वह उस बुद्धिवृत्ति को तो दिखा देता है, पर उसकी रोशनी बस उतनी ही है। उसके प्रकाश में और कुछ नहीं जान सकते। आभास के सहित जो अहमादि वृत्तियाँ हैं वे अपना भास तो करा देती हैं, स्वयं को ज्ञात करा देती हैं, पर काम आदि वृत्तियों से तुम्हें कोई दूसरी चीज़ दीख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाये, यह सम्भव नहीं है, काम वृत्ति से केवल काम ही दीखेगा, क्रोध वृत्ति से क्रोध ही दीखेगा। यह बताया चिदाभास का कार्य।। १९।।

अब कूटस्थ समझाते हैं–

क्रमाद् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु।। २०।।
सन्धयोऽखिलवृत्तीनाम् अभावाश्चावभासिताः।
निर्विकारेण येनाऽसौ कूटस्थ इति चोच्यते।। २१।।

क्रम से, टूट-टूटकर सब वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और सुषुप्ति, मूर्छा, समाधि में सभी वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। सब वृत्तियों की सन्धियाँ एवं वृत्तियों के अभाव जिस निर्विकार से प्रकाशित होते हैं वह कूटस्थ कहलाता है।

एक वृत्ति बनेगी, वह समाप्त होगी तब दूसरी वृत्ति बनेगी। ऐसा नहीं होता कि एक के बाद दूसरी वृत्ति बिना बीच के व्यवधान के बने। वृत्ति तो अपने में पड़े प्रकाश से, चिदाभास से प्रकाशित हो गई; लेकिन एक वृत्ति नष्ट हो गई, और दूसरी वृत्ति पैदा नहीं हुई, उनके बीच में भी भान तो रहता है! ऐसा तो नहीं कि भान चला जाये। वह भान किससे है? वही कूटस्थ का भान है। यहाँ 'क्रमाद्' का अर्थ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति भी ले सकते हैं। जाग्रत् से जब स्वप्न में जाते हैं, तो इसके बीच में भी एक खाली जगह है। ये खाली जगहें साधना के लिये आवश्यक हैं। यह अभ्यास करना चाहिये जब कोई बाह्य काम नहीं होवे तब। जाग्रत् की जब इंद्रियों का ज्ञान धीरे-धीरे कम होता जाता है, तब उसकी तरफ सावधानी रखो कि कब सब ज्ञान ख़त्म हो जाते हैं। यह अभ्यास शुरू करोगे तो पहले नींद उड़ जायेगी, जाग्रत् ख़त्म होगा नहीं। धीरे-धीरे अभ्यास करने से फिर यह होने लगता है कि जाग्रत् चला गया, स्वप्न आया नहीं उसके बीच में कूटस्थ का भान रहता है, वही ब्रह्म का भान है। इसी प्रकार से यदि सावधानी से, जाग्रत् में भी जब दो वृत्तियाँ बनती हैं, तो एक ख़त्म हुई, दूसरी पैदा हुई नहीं, उसी स्थिति के भान की तरफ ध्यान रखो तो वह कूटस्थ का भान हो जाता है। ये क्रम से होते हैं, अतः साधक के लिये बड़े उपकारी हो जाते हैं। नहीं तो, कूटस्थ के भान का पता ही नहीं लगता! सुषुप्ति आती है प्रारब्धभोग के किंचित्काल के लिये समाप्त होने पर। मूर्छा आती है रोग-विशेष से। समाधि आती है योगाभ्यास से। लेकिन तीनों में समानता है कि सारी वृत्तियाँ ख़त्म हो जाती हैं। गहरी नींद में भी कोई वृत्ति नहीं रहती क्योंकि बुद्धि ही नहीं है। मूर्छा में भी कोई वृत्ति नहीं रहती और समाधि में भी वृत्ति का निरोध हो जाता है। समाधि में और सुषुप्ति-मूर्छा में इतना अंतर रहता है कि इनमें बुद्धिवृत्ति नहीं है, क्योंकि बुद्धि नहीं है, बुद्धि लीन हो जाती है और समाधि में बुद्धि की वृत्ति नहीं रहती, लेकिन बुद्धि लीन नहीं होती, रहती है। यह दोनों में अंतर है। जब बुद्धि की वृत्ति नहीं बनती है, तब जैसा पतंजलि कहते हैं, 'तदा द्रष्टुःस्वरूपे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवस्थानम्' : बुद्धि की वृत्ति के कारण ही हम अपने स्वरूप से दूसरी तरफ जाते हैं। बुद्धि की वृत्ति नहीं बनेगी तो द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित ही रहेगा।

लेकिन 'तदा' के द्वारा यह बतलाया कि जितनी देर तक वृत्ति बनेगी उतनी देर तक तो द्रष्टा स्वरूप से है। परन्तु जैसे ही निरोधकाल ख़त्म हुआ और वृत्ति बनी, वैसे ही फिर वैसा ही हो जाता है। परंतु सद्ब्रह्म स्वरूप तुम्हारे अज्ञान को नष्ट करने वाला नहीं है। जितनी देर बुद्धिवृत्ति नहीं बनी उतनी देर तुम स्वरूप में स्थित हो, लेकिन अज्ञान तो नष्ट नहीं हुआ है। जैसे घटाकार वृत्ति बने तब घट के अज्ञान का नाश हो उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति बने तब ब्रह्म के अज्ञान का नाश हो। चूंकि समाधि में ब्रह्माकार वृत्ति बनी नहीं इसलिये अज्ञान का बाध हुआ नहीं। जिसने श्रवण-मनन करके ब्रह्माकार वृत्ति बना ली, अतः अज्ञान नष्ट हो गया वह अगर मन की शान्ति के लिये चित्तवृत्ति का निरोध करता है तो भूमिकारूढ हो जाता है। सुषुप्ति में सुखस्थिति होती है, परन्तु मूर्छा से उठता है तो उसका स्मरण होता है कि 'बड़े दुःख में था'। मूर्छा में सुख का अनुभव नहीं होता। इसलिये उसको स्वरूपस्थिति मान नहीं सकते क्योंकि स्वरूप तो आनंद है। अतः मूर्छा यहाँ पर केवल यह बतलाने के लिये है कि सुषुप्ति और समाधि से अतिरिक्त भी वृत्तियों का लय हो सकता है। यह ज़रूरी नहीं है कि वृत्तियों का लय होने पर स्वरूपस्थिति ही होवे। यह बतलाने के लिये मूर्छा को साथ रखा है।। २०।।

वृत्तियों के बीच में सन्धि, जोड़ होता है। पहली वृत्ति ख़त्म नहीं हुई, दूसरी पैदा नहीं हुई वह सन्धि-काल है। इसी प्रकार से जाग्रत् ख़त्म हो गया, स्वप्न शुरू नहीं हुआ, वह भी सन्धि-काल है। उस काल में वृत्ति नहीं होती। सारी वृत्तियों का अभाव सुषुप्ति में या समाधि में प्रसिद्ध है। जो उन संधियों को और अभाव को जानता है, जिससे वे अवभासित हैं, वह निर्विकार है। बुद्धिवृत्तियों से मिलकर प्रकाशित होता चिदाभास तो विकार वाला है। बुद्धिवृत्ति बनी तो आभास पैदा हुआ, बुद्धिवृत्ति नहीं रही तो वह भी नहीं रहा इसलिये वह तो विकारी है। पर कूटस्थ चैतन्य सब समय एक-जैसा ही रहता है, विकारी नहीं है। जो निर्विकार है उसी को कूटस्थ कहा जाता है। कूट कहते हैं, जिसके ऊपर लोहा कूटते हैं। लोहा तो बदलता जाता है पर कूट वैसा ही रहता है। इसी प्रकार (१) बुद्धि की वृत्तियाँ, (२) उनमें पड़ा चिदाभास, (३) बुद्धि की वृत्तियों का अभाव, इसलिये (४) चिदाभास का अभाव—इन सब में एकरूप से कूटस्थ बना ही रहता है।। २१।।

श्लोक १८में आभास और श्लो. २१ में कूटस्थ सिद्ध होने का फल बताते हैं—

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथान्तरे।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं सन्धितोऽधिकम्।। २२।।

बाहरी घड़े की तरह भीतरी वृत्तियों में भी चेतन दो-गुणा होता है इसलिये सन्धियों की अपेक्षा वृत्तियों के बारे में स्पष्टता अधिक होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्धिकाल में, और वृत्तियों के अभावकाल में जो आनन्द और ज्ञान का अनुभव है, वह स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार सुषुप्ति में जो आनन्द है वह भी साफ़ नहीं है, स्पष्ट नहीं है। इसका कारण यही है कि जैसे घड़े का जब ज्ञान होता है, तो दो चैतन्य हैं—एक कूटस्थ चैतन्य और दूसरा घटाकार वृत्ति में प्रतिफलित चिदाभास—इसलिये घड़ा साफ़ नजर आता है; घड़ा तो शरीर से बाहर है, इसी प्रकार अन्दर भी जब वृत्ति बनती है तब उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब चेतन और कूटस्थ चेतन दो हो जाते हैं, इसलिये जब वृत्ति बनती है तब सफाई है, स्पष्टता है। वृत्तियों को साफ़ जानते हैं, चाहे अहंवृत्ति हो या काम-क्रोधादि हों। संधि या वृत्तियों के अभाव को साफ़-साफ़ नहीं जानते। इसीलिये स्मृति की अन्यथानुपपत्ति आदि से उन्हें सिद्ध करना पड़ता है। संधि आदि की अपेक्षा वृत्तियाँ इसी से स्पष्ट हैं कि तब चेतन दो-गुणा है। दो चैतन्यों से भान की व्यवस्था जैसी बाहर है, वैसी अंदर भी है। इसलिये सुषुप्ति में आनन्द होने पर भी वह आनन्द वैसा साफ़ नहीं होता, जैसा रसगुल्ला खाकर आनन्द आता है, स्पष्ट भान होता है। सुषुप्ति में रसगुल्ला खाने से ज़्यादा आनंद है लेकिन ऐसी स्पष्टता नहीं है क्योंकि वृत्ति नहीं है, कूटस्थ ज्ञान तो है ही।।२२।।

द्विगुण चैतन्य वाला होना यह बाह्य-आन्तर में समानता है। अब उनमें भेद बतलाते हैं—

ज्ञाततताज्ञातते न स्तो घटवद् वृत्तिषु क्वचित्।
स्वस्य स्वेनाऽगृहीतत्वात् ताभिश्चाज्ञाननाशनात्।। २३।।

बाहरी घड़े की तरह वृत्तियों में ज्ञातता और अज्ञातता नहीं होतीं। ज्ञातता इसलिये नहीं कि खुद को खुद ग्रहण नहीं करता और अज्ञातता इसलिये नहीं कि वृत्तियों द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है।

दो प्रकार के पदार्थ होते हैं, एक ज्ञातैकसत्ता वाले दूसरे अज्ञात सत्ता वाले। पहले वे जो जब जाने जायें तभी हैं। दूसरे वे जो न जाने जायें तब भी हैं। ताजमहल है, तुम आगरा गये, तुमने नहीं देखा। अतः अज्ञात रहते हुए सत्ता वाला है। जब तुम ताजमहल को जाकर देखोगे तब वह ज्ञात-सत्ताक होगा, तुमने उसको जान लिया। आन्तर वृत्तियाँ अज्ञात-सत्ताक नहीं होतीं जैसे क्रोध आयेगा तो पता लगेगा ही कि 'हमें क्रोध आ रहा है'। वह अज्ञात-सत्ताक नहीं होता है। इसी प्रकार से सींप में चाँदी जब तुम देखते हो तभी है। ऐसा नहीं है कि जब तुमने नहीं देखी थी तब भी वहाँ कोई अज्ञात चाँदी थी! तुम्हारे देखने के समय ही अनिर्वचनीय चाँदी हुई। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मद, आदि जितनी आन्तरिक वृत्तियाँ हैं सब ऐसा नहीं है कि पड़ी रहें और तुम उन्हें देखो। वे जब बनें तभी जानी जाती हैं। आन्तरिक कामना होगी तो तुमको ज्ञात होगा ही, आन्तर वृत्तियाँ कभी भी अज्ञात नहीं होतीं। इसीलिये इनको ज्ञात भी नहीं कह सकते। घड़ा है, उससे सम्बन्ध होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर तुम्हारी वृत्ति बनी, तब तुमने कहा, 'यह ज्ञात हुआ।' वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है। घड़ा तो वृत्तियों से अन्य है अतः वृत्ति उसे व्याप्त कर तत्सम्बद्ध अज्ञान नष्ट करती है। स्वयं को वृत्तियाँ व्याप्त करती नहीं कि अज्ञान नष्ट करें इसलिये वृत्ति में ज्ञातता उत्पन्न भी नहीं होती और अज्ञातता है ही नहीं जो नष्ट हो। ऐसा नहीं है कि वृत्ति को वृत्ति का विषय बनाया जा सके। वह उत्पन्न होते समय ही ज्ञानरूप (ज्ञायमानरूप) ही है। काम, क्रोध इत्यादि हमेशा ज्ञायमान हैं ही। अज्ञातता और ज्ञातता जैसे बाहर के पदार्थों में हैं, वैसे आन्तरिक पदार्थों में नहीं हैं। घड़े की तरह वृत्तियों के अन्दर ज्ञातता और अज्ञातता नहीं हैं। बुद्धि की वृत्ति बने और उसमें चिदाभास न पड़े यह तो होगा ही नहीं इसलिये वृत्तियाँ चिदाभास-युक्त होती हैं। काम, क्रोध आदि वृत्ति अपने से खुद को ग्रहण नहीं कर सकती। उत्पत्ति से पूर्व वे वृत्तियाँ ज्ञायमान न होने से उनके बारे में जो अज्ञान था वह वृत्तियों की उत्पत्ति से ही नष्ट हो जाता है। खुद के बारे में जो अज्ञान उनसे नष्ट होना है उसे नष्ट करते हुऐ ही वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। वस्तु रहते उसके बारे में अज्ञान हो तो वस्तु अज्ञात कही जाये। वृत्ति तो उत्पन्न होते ही अपने बारे में अज्ञान को नष्ट करती है अतः अज्ञात नहीं बन पाती। इस प्रकार बाह्य अर्थों से वृत्तियों में अन्तर स्पष्ट किया ॥२३॥

चिद्रूप प्रतीत होने पर भी कूटस्थ और आभास में भेद बताते हैं–

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः।
अकूटस्थं तदन्यत् तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

जिसके कारण वृत्ति में चैतन्य दुगुणा हो जाता है उस चिदाभास के जन्म-नाश की अनुभूति होने के कारण वह कूटस्थ (निर्विकार) नहीं है। उससे अन्य चिन्मात्र तो निर्विकार होने से कूटस्थ है।

द्विगुणीकृत चैतन्य तो पैदा होता है क्योंकि कामना की वृत्ति बनी तब उसमें चिदाभास हुआ। और जब कामना की वृत्ति समाप्त होती है, तब चिदाभास भी नहीं रह जाता। कामना आदि को कूटस्थ का ज्ञान नहीं मान सकते क्योंकि वह ज्ञान उत्पन्न और नष्ट होने वाला है; वह चिदाभास का ही ज्ञान हो सकता है क्योंकि चिदाभास स्वयं पैदा और नष्ट होने वाला है। उससे भिन्न है कूटस्थ जो जन्मादि विकारों वाला नहीं है। इसमें किसी विकार वाला ज्ञान नहीं होता ॥२४॥

आभास-कूटस्थ के भेद को वाक्यवृत्ति के (श्लो. ११) वचन से प्रमाणित करते हैं–

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

'अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का साक्षी' इत्यादि वचनों में अनेक तरह से सर्वत्र पूर्ववर्ती आचार्यों ने सभी स्थलों पर कूटस्थ ऐसा ही निर्णीत किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आचार्य शंकर ने वाक्यवृत्ति ग्रंथ में आभास-कूटस्थ का वर्णन किया है। वहाँ श्लोक है

'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः।
आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यते॥'

अर्थात् अंतःकरण और अंतःकरण की वृत्तियों का जो साक्षी वह केवल चैतन्यमात्र आनन्दरूप है। वृत्ति के साथ मिला चेतन तो सुख-दुःख का अनुभव करता है। लेकिन वृत्ति का जो साक्षी है वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता। चूंकि उसके जन्म-नाश नहीं होते इसलिये वह सत्य ही है। उस आत्मा की तू शरणागति क्यों नहीं करता? इसके अन्दर भाष्यकार ने वृत्ति और साक्षी का अंतर व्यक्त किया है। ऐसे ही वचनान्तर सुलभ होने से 'सर्वत्र' इसका ऐसा ही निश्चय बताया ॥२५॥

उपदेशसाहस्री के अनुसार चिदाभास भी आचार्य-वचन से प्रमाणित बताते हैं–

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्याम् इत्याभासश्च वर्णितः ॥२६॥

जैसे मुख, आभास और आभास का आश्रय, वैसे आत्मा, आभास और आभास का आश्रय शास्त्र एवं युक्ति से समझे जाते हैं–यों आभास भी आचार्य ने बताया है। भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में बतलाया है।

जिस प्रकार से एक तो अपना मुँह है, एक उस का प्रतिबिम्ब है, एक उसका आश्रय काँच है जिसमें वह प्रतिमुख दीखता है। वैसे ही मुख की जगह हो गया आत्मा, आभास की जगह चिदाभास, और आश्रय हो गया अन्तःकरण की वृत्ति या अन्तःकरण। इस तरह स्वयं आचार्य ने आत्मा से अन्य आभास का उल्लेख किया है। 'मनसः साक्षी, बुद्धेःसाक्षी' इत्यादि शास्त्रवचन (नृ.उ.२) भी प्रमाण है ही। मन का साक्षी, बुद्धि का साक्षी इस प्रकार से कूटस्थ साक्षी का वर्णन किया है। अन्यत्र वेद में (बृ.२.५.९) कहा कि इन्द्र अर्थात् परमेश्वर ने अपनी माया से अनेक रूपों को धारण किया है। अर्थात् अंतःकरण और उसकी वृत्तियों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपों को एक परमेश्वर ही धारण करता है। सचमुच में तो अनेक बनता नहीं! जैसे यदि तुम दस काँच रख दो, तो उसमें दस मुख दिखाई देंगे। पर सचमुच में तुम्हारे दस मुख हो नहीं गये। इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियाँ सारी चेतन दिखाई देती हैं, सचमुच में आत्मा अनेक हो जाता हो ऐसा नहीं है। चिदाभास कामी, क्रोधी, लोभी दीखता रहे, कूटस्थ से क्या मतलब! चिदाभास के अन्दर ये चीजें आती हैं, कूटस्थ निर्विकार वैसा ही बना रहता है। शास्त्र भी इस बात को बतलाता है, युक्ति से भी समझ आ जाती है। जन्म-नाश विकार आदि की सिद्धि ही निर्विकार नित्य चैतन्य से सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतः दो ज्ञान मानने ही पड़ते हैं। एक विकारी और दूसरा अविकारी। विकारी आश्रय को, अंतःकरण को लेकर है। जब अंतःकरण और उसकी वृत्तियाँ नहीं रहतीं तब कहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनेकरूपता नहीं रहती। साधारण व्यक्ति को यह समझने के लिये सुषुप्ति सुलभ है। सुषुप्ति में तुम हो परन्तु अंतःकरण और उसकी वृतियाँ नहीं हैं तो तुम सुखी-दुःखी नहीं हो। इस प्रकार से चिदाभास की सिद्धि की ॥२६॥

कोई शंका करता है कि तीनों चीज़ें मानने की क्या ज़रूरत है? एक अंतःकरण माना, एक अंतःकरण में प्रतिबिम्ब और एक आत्मा कहा। दो ही क्यों नहीं मान लेते? जैसे आकाश के अंदर घड़ा आया तो आकाश हो गया घटावच्छिन्न, घड़े से घिरा आकाश। अब घड़े में भरे पानी को इधर-उधर ले जाओ तो प्रतीति यह होगी कि घड़े के अंदर की जगह भी इधर-उधर चली गई। पर आकाश में जाना-आना तो है नहीं। घड़े को इधर-उधर ले जाने से अनुभव हो जाता है। फिर चिदाभास मानने की ज़रूरत क्या है? अंतःकरण के होने से सुखी-दुःखीपना प्रतीत होवे और अंतःकरण न होने से न रहे, इतने से ही काम चल जाए तो एक चिदाभास और क्यों मानें? प्रश्न ही रखते हैं–

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७॥

बुद्धि से घिरा कूटस्थ लोकान्तर जाना-आना कर सकता है जैसे घटाकाश जाना-आना कर लेता है। बताओ, आभास से क्या लाभ?

जैसे आकाश में घड़ा होने से ही उसमें जाने-आने की प्रतीति हो जाती है उसी प्रकार बुद्धि से अवच्छिन्न कूटस्थ बुद्धि के होने से ही जा-आ सकता है। बुद्धि चली गई स्वर्ग में तो प्रतीति हो गई 'मैं स्वर्ग में चला गया।' 'मैं' मतलब आत्मा। नरक में चली गई बुद्धि तो प्रतीति हो गई, 'मैं नरक में चला गया'। दो ही मानने से काम चल जाता है। जैसे घटाकाश दीख जाता है जाने-आने वाला वैसे कूटस्थ प्रतीत हो जाता है आने-जाने वाला। दो ही मानने से काम चलता है तो और एक चिदाभास क्यों मानना? दार्शनिक मर्यादा है कि कम-से-कम पदार्थों से व्यवस्था बननी चाहिए। कम पदार्थों से सम्भव रहते अधिक पदार्थों की कल्पना से व्यवस्था सङ्गत नहीं। बिना आभास के संभव हो तो उसे मानकर व्यवस्था ग़लत मानी जायेगी ॥२७॥

उत्तर देते हैं–

शृण्वसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्न हि।
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८॥

सुनो : केवल परिच्छेद से असंग आत्मा जीव नहीं बनेगा। यदि ऐसा हो तो घड़ा, दीवाल आदिसे अवच्छिन्न आत्मा भी जीव हो जाये!

घड़ा हो, दीवाल हो, कोई भी चीज़ हो, उससे आत्मा अवच्छिन्न हो जाएगा। महाभूतों से ही अंतःकरण बना, और महाभूतों से ही संसार के दूसरे पदार्थ बने, दीवाल, घड़ा आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बना। महाभूतों से ही पत्थर बना, परन्तु पत्थर में कभी चेतनता का अनुभव नहीं है! चेतनता का अनुभव तभी होता है जब बुद्धि अर्थात् अंतःकरण होता है। जड-चेतन का यह अनुभूयमान भेद संभव करने वाली चीज़ क्या है? अगर बुद्धि से अवच्छिन्न चेतन जीव है तो पत्थर से अवच्छिन्न चेतन जीव क्यों नहीं? इसके लिये मानना पड़ेगा कि बुद्धि में कुछ विशेषता है जो बुद्धि में तो चेतना होती है, दीवार आदि में नहीं होती जबकि कूटस्थ तो वहाँ भी एक-जैसा है। इसलिए असंग जो कूटस्थ है वह परिच्छेदमात्र से जीव नहीं हो जाता। यदि परिच्छेदमात्र से जीव संभव मानोगे तो फिर घड़ा, दीवार इत्यादि से अवच्छिन्न भी जीव हो जायेगा ॥२८॥

बुद्धि की स्वच्छता (सात्त्विकता) भी यह भेद संपादित नहीं कर सकती यह कहते हैं–

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥२९॥

यदि स्वच्छ होने से बुद्धि दीवार जैसी नहीं तो भले न हो, बुद्धि की स्वच्छता से तुम्हारे अनुसार अवच्छेद में क्या अन्तर आयेगा?

अवच्छेदवादी कहता है कि बुद्धि दीवाल की तरह नहीं है। क्यों? बुद्धि स्वच्छ है और दीवार अस्वच्छ है। स्वच्छ और अस्वच्छ में भेद है। जो स्वच्छ चीज़ है उसमें जीवता आ जाती है, अस्वच्छ चीज़ में जीवता नहीं आती। सिद्धान्ती कहता है कि स्वच्छता-अस्वच्छता का भेद रहो, लेकिन अवच्छिन्न तो एक जैसा ही रहेगा। अवच्छेदक चाहे साफ हो या साफ न हो, अवच्छेद में क्या फ़र्क आयेगा? चाहे मिट्टी के घड़े का हो या सोने के घड़े का अवच्छेद हो, दोनों में कोई भेद नहीं आयेगा, आकार के अनुरूप ही जल भरा जायेगा ॥२९॥

दृष्टान्त से यही स्पष्ट करते हैं–

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥

लकड़ी से बना हो या काँसे से, प्रस्थसे मापकर चावल आदि बेचने वाले के माप में फ़र्क नहीं आता।

'प्रस्थ' एक बर्तन होता है। पुराने ज़माने में तोलकर नहीं बेचते थे। बर्तन भरकर अनाज आदि नापकर बेचते थे। पाँच सेर का जो बर्तन होता है उसको 'प्रस्थ' कहते हैं। चाहे वह बर्तन लकड़ी का बना हो, चाहे काँसे का होवे, नापा हुआ चावल आदि बराबर ही रहेगा। बर्तन के उपादान से माप में कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। बेचने वाले को कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा ॥३०॥

काँसा चमचमाता है, लकड़ी नहीं–यह फ़र्क कहा जाये तो बुद्धि में भी इसे मानना होगा यह कहते हैं–

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते।
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद् बलात् ॥३१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माप समान होने पर भी काँसे में प्रतिबिम्ब पड़ता है यह अन्तर है तो इसी दृष्टांत के बलपर बुद्धि में भी आभास होगा (जिससे अन्तर संगत हो जायेगा)

पाँच किलो पानी तो दोनों में एक-जैसा आयेगा पर काँसा चमकेगा और लकड़ी चमकेगी नहीं। बस, चमक का अंतर है। यही हम कह रहे हैं, बुद्धि में चेतन आता है, तो वह चमक जाता है, और दीवार-घड़े आदि में चमकता नहीं है। चमकने का ही फ़र्क है। अंतः—करणावच्छिन्न कूटस्थ चेतन जीव है, इसमें मतभेद नहीं है। लेकिन अंतःकरण में विशेषता यह है कि वह साभास बन जाता है, मायने वहाँ ज्ञान हो जाता है और पत्थर में ज्ञान नहीं होता। हैं दोनों ही पांचभौतिक ॥३१॥

प्रतिबिम्ब का अर्थ क्या है, इसको बतलाते हैं—

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः।
बिम्बलक्षणहीनःसन् बिम्बवद् भासते स हि ॥३२॥

'आभास' अर्थात् थोड़ा भान। प्रतिबिम्ब ऐसा ही होता है क्योंकि बिम्ब के लक्षण वाला नहीं पर बिम्ब की तरह भासता है इसलिए वह बिम्बाभास है

आभास का मतलब होता है 'ईषद्भासनम्' चीज़ पूरी तरह से भासित न होवे तब उसको आभास कहते हैं। काँच के सामने खड़े हो तो काँच में मुँह का प्रतिबिम्ब पड़ेगा पीठ का नहीं, प्रतिबिम्ब में मुँह दीखेगा, पीठ नहीं। इसलिये प्रतिबिम्ब में बिम्ब पूरी तरह से प्रतीत नहीं होता। बिम्ब का लक्षण तो प्रतिबिम्ब में पूरा नहीं घटता, पर वह बिम्ब की तरह प्रतीत होता है। बिम्ब के सारे लक्षण न होवें; थोड़े लक्षण तो प्रतीत हों पर सारे प्रतीत भी नहीं हों पर बिम्ब की तरह प्रतीत हो वह प्रतिबिम्ब होता है ॥३२॥

कौन-सा लक्षण है, कौन-सा नहीं है, इसको बतलाते हैं—

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद् भासनं विदुः॥३३॥

प्रतिबिम्ब, चिदाभास संग और विकार वाला होने से बिम्ब के समूचे लक्षण वाला नहीं है। चिदाभास की स्फूर्तिरूपता (ज्ञानरूपता) इसका बिम्ब की तरह भान है ऐसा विद्वान् समझते हैं।

बिम्ब तो असंग है। और जो आभास, जीव दीख रहा है यह ससंग है, कामी, क्रोधी, लोभी, सुखी, दुःखी ऐसा अपने को अनुभव करता है। बिम्ब का जो लक्षण असंगता वह इसमें नहीं है। जैसे ससंग वैसे ही अपने को विकारी अनुभव करता है—'मैं जवान था, मैं बुड्ढा हो गया।' ब्रह्म तो विकारी है नहीं। अविकारिता और असंगता की प्रतीति न होकर के ससंगता और विकारिताकी प्रतीति है। इसलिये पूरे बिम्ब का लक्षण नहीं मिलता। फिर बिम्ब की तरह है, इसका मतलब क्या? जैसे बिम्ब ज्ञानरूप है वैसे ही यह भी ज्ञानरूप है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिदाभास जीव भी ज्ञानरूप है क्योंकि अपने को भी जानता है, दूसरे को भी जानता है। स्फूर्ति, ज्ञानरूपता को ही बिम्ब की तरह भासन कहा। इस प्रकार प्रतिबिम्ब कुछ तो बिम्ब की तरह है, इसकी ज्ञानरूपता ब्रह्म की तरह है, पर यह असंग और निर्विकार नहीं है यही अन्तर है। इस प्रकार से सिद्ध किया कि चिदाभास स्वीकारने का प्रयोजन है क्योंकि विकारी ज्ञानरूपता सिवाय बुद्धि के और कहीं मिलती नहीं, यह बुद्धि की विशेषता है कि यह ज्ञानरूप से प्रतीत होती है। ज्ञानरूप से प्रतीत होती है—इसी को चिदाभास कहते हैं अर्थात् चित् न होकर के चित् की तरह लगती है। जैसे तार्किकों का कथन है, हेतु के लक्षण से रहित होवे और हेतु की तरह प्रतीत होवे तो उसे हेत्वाभास कहते हैं, इसी प्रकार बिम्बलक्षण से रहित है और बिम्ब की तरह प्रतीत होता है, इसलिये इसको चिदाभास कहते हैं ॥३३॥

बुद्धिमात्र भी चिदाभास नहीं यह समझाते हैं—

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक्।
इति चेद् अल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

बुद्धि रहते ही रहने वाला होने से बुद्धि से अलग आभास नहीं है—यह कहो तो जवाब है कि यह कम ही कहा, इसी तरह बुद्धि भी अपने शरीर से अलग न मिलने से शरीर से अलग नहीं है— यह भी कह सकते हो!

शंका है कि बुद्धि को ही ज्ञान क्यों न मान लेवें? उसमें एक चिदाभास क्यों मानें? जिसके होने पर ही जो होता है वह उससे भिन्न नहीं होता यह दार्शनिक मर्यादा है। इसी प्रकार बुद्धि होती है तब काम, क्रोध होते हैं, जीव होता है, और बुद्धि नहीं होती तो ये सब नहीं होते। बुद्धि के होने पर होता है इसलिये बुद्धि को ही मानो, बुद्धि से अलग एक आभास और क्यों मानें? यदि यह शंका करते हो तो तुमने बहुत छोटी-सी बात कही। क्यों? बुद्धि कभी शरीर से अलग नहीं मिलती। मन जब भी मिलता है तो शरीर के साथ ही मिलता है। शरीर के बिना तो कहीं मन मिलता नहीं। फिर शरीर को ही बुद्धि मान लो! शरीर से अतिरिक्त बुद्धि नहीं मिलती इसलिये शरीर से बुद्धि अलग मानने की जरूरत नहीं है। आजकल पाश्चात्य देशों से प्रभावित लोग मानते हैं कि तुम्हारे शरीर के, दिमाग के तन्तुओं के अंदर, स्नायु-मंडल में कुछ स्पन्दन होता है, उसी का नाम ज्ञान है। यदि तुम कहो कि बुद्धि से अतिरिक्त चिदाभास क्यों मानना तो हम पूछते हैं कि शरीर से अतिरिक्त बुद्धि नहीं मिलती तो शरीर से अतिरिक्त बुद्धि भी क्यों माननी? शरीर से भिन्न फिर बुद्धि भी नहीं है। ऐसा जवाब प्रतिबन्दी कहा जाता है। इसको कहने वाला वादी के तर्क से ही वादी का मत काट रहा है। प्रतिबन्दी उत्तर वह जिसमें हम न भी मानें तो तर्क से ऐसी बात सिद्ध करते हैं जिसे वादी भी मान नहीं सकता। इसका फल है कि वादी का तर्क दुर्बल सिद्ध होता है। कहने वाले का यह मतलब नहीं है कि हम शरीर को बुद्धि मानते हैं। वह तो केवल यह कहना चाह रहा है कि यदि तुम कहते हो कि जिससे अलग जो न मिले उसको न मानो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो फिर चिदाभास ही नहीं, तुमको मानना पड़ेगा कि बुद्धि भी शरीर से अतिरिक्त नहीं है ॥३४॥

अब इसका उत्तर दे रहे हैं–

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथा सति।
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५॥

यदि शास्त्रप्रामाण्य से स्वीकारो कि शरीर मरने पर भी बुद्धि रहती है तो बुद्धि से अन्य चिदाभास प्रवेशबोधक वेदवाक्यों से निर्धारित है।

यह ठीक है कि शरीर से अतिरिक्त बुद्धि मिलती तो नहीं है, लेकिन शास्त्र बुद्धि को शरीर से अलग मानता है। क्यों? बृहदारण्यक आदि के अंदर जहाँ मरने की स्थिति बतलाई है वहाँ कहा है कि शरीर तो मर जाता है और जीव लोकान्तर-गमन करता है। इसलिये शरीर यहाँ रहने पर भी लोकान्तर-गमन करने वाला बुद्धिरूप चेतन है, इसलिये बुद्धि को शरीर से अलग मानना पड़ता है। इसका मतलब है कि तुम शास्त्र के अनुसार मान रहे हो। शास्त्र के अनुसार तो बुद्धि से भिन्न चिदाभास को भी कहा है। कहाँ? जहाँ कहा कि इन्द्रियाँ मन बुद्धि सब कुछ बना दिया, तब परमेश्वर ने इसमें प्रवेश किया। बुद्धि में प्रवेश किया, अतः बुद्धि से अतिरिक्त है, तभी बुद्धि में प्रवेश किया। ऐसी जो प्रवेश-श्रुतियाँ हैं इनसे बुद्धि से भिन्न चिदाभास सिद्ध हो रहा है ॥३५॥

प्रवेश अन्यथा उपपन्न नहीं यह दिखाते हैं–

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेद् नैतरेये धियःपृथक्।
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

यह नहीं कह सकते कि बुद्धि-सम्बद्ध का ही प्रवेश है क्योंकि ऐतरेय में बुद्धि से अलग आत्मा ने प्रवेश का संकल्प कर प्रवेश किया यह बताया है।

यही क्यों नहीं मान लेते कि बुद्धि के साथ सम्बद्ध, बुद्धि से अवच्छिन्न आत्मा ने प्रवेश किया? अर्थात् बुद्धि और आत्मा से भिन्न तीसरा चिदाभास नहीं है। अंतःकरणावच्छिन्न चेतन ने ही प्रवेश किया ऐसा मान लो। यदि ऐसा कहो तो भी नहीं बनेगा, क्योंकि ऐतरेय उपनिषद् के अन्दर जहाँ प्रवेश बतलाया वहाँ बुद्धि के, उपाधिके प्रवेश से अलग ही, आत्मा का प्रवेश कहा है कि आत्मा ने प्रवेश का संकल्प करके प्रवेश किया। बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सबके अंदर उसने मूर्धा का विदारण करके प्रवेश किया ऐसा बताया है। आत्मा ने संकल्प करके प्रवेश किया, इसलिये प्रवेश करने वाला बुद्धि से अलग है॥३६॥

उक्त श्रुतिप्रसंग का संकेत देते हैं–

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात्।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'इन्द्रियों समेत यह शरीर मुझ चेतन के बिना कैसे कार्यनिर्वाहक होगा!' ऐसा विचार करके कपाल-मध्य को फोड़कर प्रवेश करने वाला यह विचारकर्त्ता ही संसरण कर रहा है।

इन्द्रियों के साथ शरीर आत्मा से अतिरिक्त होने से अनात्मा है, जड है। अतः आत्मा ने सोचा 'यह मुझ चेतन के बिना कैसे सत्ता वाला हो सकता है?' वेदान्त की आधारभूत मान्यता है कि जड में प्रवृत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक चेतना उसमें प्रवेश न करे। यही बहुत बड़ा भेद सांख्य और वेदान्त में है। सांख्य मानते हैं कि प्रकृति स्वतः प्रवृत्ति करती है। वेदान्त ऐसा नहीं मानता। इसलिए सांख्य के अनुसार केवल त्वम्पदार्थ का विचार करके, जीव के स्वरूप का विचार करके उसके अकर्त्तापने का निर्णय हो जाता है कि पुरुष वस्तुतः अकर्ता है। वेदान्त कहता है कि प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती, चाहे वह प्रकृति का एकदेश शरीर आदि हो, चाहे समस्त प्रकृति हो। सारी प्रकृति को चलाने वाला भी चाहिये और प्रकृति के एकदेश शरीर-मन को चलाने वाला भी चाहिये। जो सारी प्रकृति को चलाने वाला है वह तत्पदार्थ परमेश्वर है। त्वम्पदार्थ है इस शरीर-मन-बुद्धि को चलाने वाला चेतन जीव। इसलिये वेदान्त के अनुसार जब तक तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ दोनों का शोधन न किया जाये तब तक ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं है। ऐतरेय में आत्मा विचार करके कहता है, 'मेरे बिना कैसे होगा'। यहाँ प्रसंग प्रकृति के कार्य स्थूल-सूक्ष्म शरीर का है। उसने निर्णय किया कि शरीर में उसको प्रवेश करना है। राजा जिस द्वार से प्रवेश करता है उस दरवाज़े से दूसरे लोग प्रवेश नहीं करते, इसलिये सिर के ऊपरी भाग में जहाँ शिखा होती है वहाँ फोड़कर उसने प्रवेश किया इसीलिये वापिस उस रास्ते से निकलता है तब तो ब्रह्मलोक को जाता है और बाकी द्वारों से निकले तो स्वर्ग, पितृलोक आदि को जाता है। ब्रह्मलोक उन रास्तों से नहीं जा सकते क्योंकि जिस रास्ते से प्रवेश किया है उसी रास्ते से वापिस निकलेगा। राजा आता और जाता अपने दरवाज़े से ही है। इसलिये मूर्धा को फोड़कर ही पुनः ब्रह्मलोक को जाता है। जहाँ ये तीनों कपाल मिलते हैं, जहाँ पर शिखा रखी जाती है, उस का विदारण करके जब इसमें प्रवेश कर लिया, तब वह संसार में भटकता है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च।' जिसने मूर्धा का विदारण करके प्रवेश किया वही संसरण कर रहा है। 'संसरति' मतलब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का अनुभव करता है और एक देह से देहान्तर जाता है। ये दोनों ही संसरण कहे जाते हैं। प्रतिदिन का संसरण है जाग्रत् से स्वप्न में जाना, स्वप्न से सुषुप्ति में जाना। और सौ साल पूरे होने पर शरीर को छोड़ कर दूसरे में जाना भी संसरण है। क्योंकि आत्मा ने प्रवेश किया अतः संसरण करने वाली बुद्धि नहीं हो सकती, बुद्धि से जीव अलग ही है ॥३७॥

जब कहते हैं कि ब्रह्म संसरण करता है तब लोगों को खटकता है कि ब्रह्म कैसे संसरण करता है? अतः इसे समझाते हैं–

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत् सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि पूछो कि असंग घुसा कैसे? तो हम पूछते हैं कि असंग ने सृष्टि कैसे की? सृष्टि और प्रवेश दोनों की मायारूपता समान है, दोनों का विनाश भी समान है।

प्रविष्ट होकर संसरण करने वाला असंग कैसे हो सकता है? प्रवेश किया, इसका मतलब है इसके साथ तादात्म्य-अनुभव हो गया। यदि ब्रह्म ने प्रवेश किया, संसरण कर रहा है तो वह असंग कैसे हो सकता है, संग वाला हुआ? यह शंका करते हो तो बताओ कि अगर असंग है तो सृष्टि कैसे करेगा? अगर असंग प्रविष्ट नहीं हो सकता तो असंग रहते सृष्टि भी नहीं कर सकता। यदि सृष्टि माया से कर लेता है तो जैसे सृष्टि करने वाला ईश्वररूप मायिक है, वैसे ही जन्म-मरण में जाने वाला जीव मायिक है। ब्रह्म का लक्षण करने के लिये ही सारी उपनिषदें कहती हैं कि उसने सृष्टि की। उपनिषदें ब्रह्म का निरूपण इसी प्रकार से करती हैं कि वह सृष्टि करता है। इसलिये सृष्टि करने वाला उसका रूप जैसे मायिक है, वैसे ही सृष्टि के एकदेश स्थूल-सूक्ष्म शरीर के अन्दर उसका प्रवेश भी मायिक है। जिस समय ब्रह्मज्ञान होता है, उस समय जीव और ईश्वर दोनों ही नहीं रह जाते। ऐसा नहीं होता कि 'मैं जीव तो नहीं हूँ लेकिन ईश्वर तो रह गया'। इसलिये तत्पदार्थ का शोधन भी उतना ही ज़रूरी होता है जितना त्वम्-पदार्थ का शोधन। सृष्टि-स्थिति की मायिकता भी सिद्ध होना उतना ही ज़रूरी है जितना अन्तःकरण आदि के द्वारा सुख-दुःख भोगने की मायिकता। दोनों ही एक-जैसे मायिक हैं ॥३८॥

जीवका औपाधिक रूप विनाशी है, यह बतलाने वाली श्रुति (बृ.४.५.१३) सुनाते हैं—

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने साफ ही कहा कि यह प्रज्ञानघन आत्मा भूतकार्य देहादि उपाधियों के कारण जीवाभिमान पाकर उन्हीं के नष्ट होने पर वह जीवाभिमान छोड़ देता है।

क्यों हम कहते हैं कि जीवरूप चिदाभास विनाशी है? यह समझना ज़रूरी इसलिये है कि जीव ब्रह्मस्वरूप है, इसलिये उसका विनाश नहीं हो सकता। ऐसे वाक्य भी मिलते हैं। और चिदाभासरूप जीव तो उत्पत्ति और विनाश वाला प्रतीत होता ही है। जब बुद्धिवृत्ति बनी तब चिदाभास पड़ा अर्थात् प्रारम्भ हुआ और बुद्धिवृत्ति के समाप्त होने पर नहीं रहा, अर्थात् उसका विनाश हुआ इसलिये जीव नष्ट होता भी है। अतः स्पष्ट है कि जीव का नाश होना भी बताया है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को स्पष्ट रूप से इसका नाश बतलाया है। शरीर आदि का सहारा लेकर जीव सारे कार्यों को करके जब प्रारब्ध खत्म हो जाता है तब शरीरादि नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। जब महाभूतों से बने ये शरीर मन बुद्धि इत्यादि समाप्त होते हैं, तब इनके साथ ही वह जीव भी समाप्त हो जाता है। जब तक प्रारब्ध है तब तक तो शरीर के साथ है, और जैसे ही शरीर समाप्त हो जाता है, उसके साथ वह भी विनाश को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् फिर जीव नहीं रहता। जब तक उसका शरीर है तब तक तो लोगों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को प्रतीति होती है कि वह अभी है। परन्तु जब उसका शरीर नष्ट हो जाता है तो यह प्रतीति नहीं होती कि वह है वरन् लगता है कि वह नष्ट हो गया। 'अनुविनश्यति' अर्थात् प्रारब्ध से बना स्थूल-सूक्ष्म शरीर जब खत्म होता है तब जीवभाव खत्म होता है। यदि प्रारब्ध कई शरीरों का है तो कई शरीरों तक भी रहेगा। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के नष्ट होने पर ही जीवभाव नहीं रहता। क्या नष्ट होता है? जीवभाव की प्रतीति नष्ट होती है। क्योंकि है तो जीवभाव मायिक ही, प्रतीति से अतिरिक्त यह है नहीं। इसलिये अन्यत्र (वराहो.२.६६) कहा है 'प्रारब्धनाशात् प्रतिभाननाशः'। जब तक प्रारब्ध है तब तक द्वैत का प्रतिभास है, प्रातिभासिक सत्ता है। ज्ञात होने के बाद संसार की, शरीर आदि की व्यावहारिक सत्ता नहीं रहती, प्रातिभासिक रहती है, प्रतीतिमात्र रहती है। जिस प्रकार से माता मर चुकी है, उसके चित्र के बारे में कहते हो 'यह मेरी माँ है।' पर ऐसा कहते हुए भी जानते हो कि माँ मर चुकी है। इसी प्रकार पदार्थ प्रतीत होते हैं, इससे अतिरिक्त उनकी और कोई सत्ता रहती नहीं है। इस प्रकार जीव की नश्वरता भी बतायी गयी है॥३६॥

वह नश्वर ही है यह भ्रम न हो इसलिये आगे का श्रुतिवचन भी ग्रहण करते हैं—

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः।
मात्रासंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥४०॥

'यह आत्मा अविनाशी है' (बृ.४.५.१४) यों (नश्वर जीव से) कूटस्थ अलग कर बताया। शरीरादि से इसका असम्बन्ध हो जाता है (माध्य. बृ.४.५.१४) यों इस कूटस्थ को असंग बताया है।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें हैं—एक काण्व शाखा है दूसरी माध्यन्दिन शाखा है। दोनों में बृहदारण्यक उपनिषत् है। थोड़े-बहुत शब्दों में अन्तर है, बाकी समान है। भाष्य काण्वशाखा पर है, सायणाचार्य ने माध्यन्दिन पर भी व्याख्यान लिखा है। 'अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' इससे आगे माध्यन्दिन में 'मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' अधिक है। शरीरादि के नाश के पीछे नष्ट होता है यह भी कहा और यह आत्मा अविनाशी है, यह भी कहा। दोनों विरुद्ध बातें लगती हैं पर विरुद्ध नहीं हैं। अविनाशी आत्मा है, यह श्रुति कूटस्थ को बतलाती है। अर्थात् औपाधिक की विनाशिता है; और जो औपाधिक नहीं, अधिष्ठान है, उस कूटस्थ की अविनाशिता है। इस प्रकार से कूटस्थ को आभास से अलग करके बतलाया कि जो चिदाभास वाला हिस्सा है वह नष्ट होता है और कूटस्थ बच जाता है। किसी को भ्रम हो सकता है कि पूरा ही जीव नष्ट हो जाता होगा, अतः कहा कि ऐसी बात नहीं है। इसलिये उसके बाद ही कह दिया 'मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति'। अविनाशिता में कारण क्या है—यह आगे बतलाया। जो कूटस्थ है वह असंग है। जो चिदाभास अंतःकरण की वृति के साथ संगवाला है वह नष्ट हो जाता है। जिनका ज्ञान होता है वे सब देहादि 'मात्रा' कहे जाते हैं। उनके साथ आत्मा का असंसर्ग है, सम्बन्ध नहीं है। जिसने बुद्धि के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्दर प्रवेश किया वह शुद्ध बना रहता है लेकिन प्रविष्ट रूप खत्म हो जाता है ॥४०॥

छान्दोग्योपनिषत् में (६.११.३) 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' से औपाधिक आत्मा भी अविनाशी कहा गया है तो उसे 'अनुविनाशी' कैसे समझें? इसके उत्तर में समझाते हैं कि छान्दोग्यवचन देहान्तर-प्राप्ति के बारे में है, सर्वथा अविनाशी का बोधक नहीं–

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किन्तु लोकान्तरे गतिः ॥४१॥

'जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं' इस वाक्य में('जीव नहीं मरता' का) अर्थ मोक्ष नहीं वरन् यह है कि शरीर छोड़कर जीव लोकान्तर जाता है।

मरते समय जब जीव शरीर को छोड़ देता है, शरीर जीवरहित हो जाता है, तब शरीर मर जाता है। जीव तो दूसरी जगह चला जाता है। इस प्रकार यहाँ कहा कि शरीर के मरने से जीव नहीं मरता। किन्तु यहाँ मुक्ति के अभिप्राय से नहीं कहा जा रहा है, यहाँ मुक्ति का विषय नहीं है। जहाँ कहा है, 'जीव नष्ट हो जाता है', वहाँ तात्पर्य है कि जब मुक्ति हो जाती है तब जीवभाव नष्ट हो जाता है। जबकि यहाँ मुक्ति की बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु अन्य लोक में चला जाता है–इतना ही अर्थ है। लोकान्तर में जाता है क्योंकि तब तक सूक्ष्म शरीर होता ही है, उसके साथ जीव भी होता है अतः वह भी चला जाता है। इस तरह वहाँ मोक्ष का प्रसंग नहीं है। इसलिये दोनों वेदवाक्यों में विरोध नहीं है ॥४१॥

शंका होती है कि ब्रह्म अविनाशी है और जीव विनाशी है। जीव अपने को अविनाशी समझे तो यह ठीक ज्ञान कैसे? यह तो मिथ्या ज्ञान हो जायेगा और मिथ्या ज्ञान मोक्ष दे नहीं सकता। समाधान करते हैं–

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत्।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥४२॥

वह विनाशी जीव स्वयं को 'मैं ब्रह्म हूँ' नहीं जान सकता–ऐसा नहीं है क्योंकि बाध के अभिप्राय से भी सामानाधिकरण्य प्रयोग सम्भव है।

वेदान्त के अंदर कई प्रकार की प्रक्रियायें महावाक्य को समझने के लिये हैं। एक प्रक्रिया के अंदर तत्त्वमसि को उभयपद–लक्षणा से संगत कहा गया है। कुछ ऐसे भी आचार्य हुऐ जिन्होंने कहा कि लक्षणा की ज़रूरत ही नहीं है। उन्होंने इसकी मुख्यार्थ से संगति मानी है। कुछ आचार्यों ने बाध-सामानाधिकरण्य माना है। इस प्रकार से महावाक्य को समझने के प्रकार अलग-अलग हैं। बाध सामानाधिकरण्य की प्रक्रिया को अब ले रहे हैं: किसी ने भूत देखा। जानकार उसको ठूँठ के पास ले जाकर पूछता है, 'क्या है?' वह हाथ लगा कर और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आँख से भी देख कर कहता है कि ठूँठ है। तब समझदार बताता है 'यह ठूँठ ही भूत है।' इसका मतलब यह नहीं है कि ठूँठ भूत है वरन् इसका मतलब है कि यह भूत नहीं ठूँठ है। अर्थात् भूत का बाध करके ठूँठ है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' का मतलब—मैं जीव नहीं, ब्रह्म हूँ। जो मैं अपने को जीव समझ रहा था भ्रम से, वही मैं ब्रह्म हूँ। यह बाधसामानाधिकरण्य हुआ। विनाशी जीव अपने को अविनाशी कैसे समझेगा? अतः, जो मैं अपने को विनाशी समझ रहा था वह विनाशी नहीं अविनाशी हूँ, यह मतलब है। इस तरह विनाशी स्वयं को अविनाशी समझ सकता है। उसकी जो अविनाशिता है, ब्रह्मरूपता है वह नश्वरता का बाध करके वास्तविक ब्रह्म के अभिप्राय से संगत है। बाध में भी सामानाधिकरण्य हो सकता है। कम-से-कम एक स्थल ऐसा है जहाँ वेदान्त-सम्प्रदाय में सब लोगों को बाध-सामानाधिकरण्य मानना पड़ता है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' (छां.३.१४) यह सब ब्रह्म है। यहाँ हर हाल में 'यह सब नहीं है, माया से दीख रहा है, सच तो केवल ब्रह्म ही है,' यही अर्थ माना गया है। जैसे मानते हैं, वैसे ही कहते हैं कि 'जीव ब्रह्म है' यहाँ भी 'जीव नहीं, ब्रह्म है' ऐसा सामानाधिकरण्य अर्थ हो जायेगा। जब इदं में संभव है तो जीव का इदंभाग भी बाध्य ही है अतः अहं-स्थल में भी बाधसामानाधिकरण्य सम्भव ही है यह इस प्रकिया में समझा जाता है। 'सर्वमिदं' का एकदेश ही तो हुआ त्वम् अर्थात् शरीर-मन आदि। 'भूतेभ्यः समुत्थाय' महाभूतों से ही बना कहने का भी यही भाव है। इस प्रकार विनाशी का बाध करके अविनाशी को आत्मा जानना है ॥४२॥

उस प्रक्रिया में नैष्कर्म्यसिद्धि (२.२६) का वचन प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं—

योऽयं स्थाणुःपुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥४३॥

'जो यह ठूँठ (समझा जा रहा था) यह पुरुष है' यों पुरुषज्ञान से जैसे ठूँठ निवृत्त होता है वैसे 'ब्रह्म हूँ' ज्ञान से सारी मैं-बुद्धि निवृत्त होती है।

आदमी को समझा ठूँठ, फिर रोशनी आने पर यह आदमी है इस ज्ञान से 'यह ठूँठ है' यह भ्रम कट जाता है। प्रायः उभयपद-लक्षणा के लिये दृष्टांत बनाते हैं 'सोयं देवदत्तः' वह यही देवदत्त है—इस वाक्य को; इसी प्रकार बाधसामानाधिकरणता के लिये प्रसिद्ध दृष्टांत स्थाणु-पुरुष का है। जैसे स्थाणु वास्तव में पुरुष है अतः पुरुष-ज्ञान से झूठा ठूँठ-ज्ञान कट जाता है इसी प्रकार 'ब्रह्म हूँ' इस बुद्धि से जितनी चीज़ों में अहम् की प्रतीति थी, वे सारी निवृत्त हो जाती हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीर और जितनी वृत्तियाँ हैं सारी मैं नहीं रहतीं, उन्हें मैं समझना निवृत्त हो जाता है। मैं ब्रह्म ही रह जाता हूँ। ब्रह्माकार वृत्ति मैं के साथ जो कुछ भी अनात्मा अभिन्न प्रतीत था, वह सब हटा देती है, अतः मैं केवल ब्रह्म ही रह जाता हूँ। मैं सुखी-दुःखी, कामी-क्रोधी, कर्ता, भोक्ता आदि सब वृत्तियाँ निवृत्त हो जायेंगी ॥४३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि यह तरीका भी संगत एवं पारंपरिक है इसलिये इसे भी मान्य बताते हैं–

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥४४॥

(जैसे इस ग्रन्थ में समझाया) वैसे आचार्य सुरेश्वर ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि में स्पष्ट कहा है कि बाध के अभिप्राय से सामानाधिकरण्य संगत है। अतः यह तात्पर्य (हृदयंगत) हो (तो भी ठीक है)।

सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ में बिलकुल साफ इस बात को बतलाया है। जिस प्रकार से जब कहते हैं, 'यह रस्सी ही साँप है, या साँप थी' तो अर्थ है कि साँप नहीं रस्सी ही थी, इसी प्रकार से जब कहते हैं, 'तत्त्वमसि' तो इसका मतलब है, जिसको तुम त्वम् समझ रहे हो वह तत् ही था। अहम् ब्रह्मास्मि के अन्दर और स्पष्ट हो जाता है कि जिसको मैं अहम् कर्त्ता समझ रहा था वह सचमुच में ब्रह्म ही था, उसी को मैंने भ्रम से कर्ता समझ लिया। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सामानाधिकरण्य-प्रयोग है जहाँ मैं और ब्रह्म दोनों के लिये एक ही विभक्ति में शब्द हैं। ऐसा अभेदबोध जीवभाव के बाध के लिये है।।४४।।

वार्त्तिकमत का सोपपत्ति उपसंहार करते हैं–

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन समानाधिकृतिर्भवेत् ।।४५।।

सर्व ब्रह्म है–यों जगत् से(ब्रह्म की) समानाधिकरणता की तरह 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जीव से (ब्रह्म की) समानाधिकरणता (स्वीकार) हो।

इस पक्ष में एकरूपता लाभ की बात है, नहीं तो 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' आदि जगहों में बाध-समानाधिकरणता माननी पड़ती है तथा महावाक्यों में मुख्य सामानाधिकरण्य मानना पड़ता है। लाघव इसमें है कि दोनों जगह बाध-सामानाधिकरण्य मानकर काम चल जाता है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' आदि में जगत् के साथ सामानाधिकरण्य भाष्यकारादि सब आचार्यों को मान्य है। इसी प्रकार अहम् ब्रह्म में जीव के साथ ब्रह्म का सामानाधिकरण्य है जिसका अर्थ निकलता है कि जीव नहीं, ब्रह्म है ॥४५॥

महावाक्य-व्याख्यान का एक ढंग वार्तिकोक्त रीति से समझाया। दूसरा ढंग जो ज़्यादा प्रचलित है उसे पद्मपादाचार्य एवं विवरणकार आदि ने विस्तार से उपपादित किया है। तात्पर्य में कोई भी अन्तर नहीं, तरीके का भेद है जो साधकभेद से उपकारी है, जिस किसी को जो ठीक बैठ जाये, वह उसी से समझ ले क्योंकि प्रक्रियाभेद का यही प्रयोजन होता है। चिदाभास और कूटस्थ, अर्थात् बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्ब और अधिष्ठान दोनों को मिला कर जीव-शब्द का प्रयोग होता है। इस कारण एक बड़ी कठिनाई यह आती है कि बुद्धि में जो प्रतिबिम्ब पड़ा, चिदाभास, वह तो मिथ्या है और उसका जो अधिष्ठान कूटस्थ वह वास्तविक है। जैसे रस्सी में हमें साँप दीखा तो रस्सी सच्ची, साँप झूठा होता है। परन्तु रस्सी और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साँप दोनों चीज़ें साथ तो होती नहीं। हम कहते हैं 'घड़े में पानी है', हमारा मतलब यह तो नहीं होता है कि दस साल पहले घड़ा था, और दस साल बाद पानी है! मतलब है कि जिस काल में घड़ा है उसी काल में उसमें पानी है। जब कहते हैं 'रस्सी में साँप है' तब जिस समय रस्सी का ज्ञान है, उस समय सर्प का ज्ञान नहीं, जिस समय सर्प का ज्ञान होता है उसी समय रस्सी का ज्ञान नहीं। इसलिये मिथ्या और सच्ची चीज़—दोनों का साथ, सम्बन्ध तो सम्भव नहीं। इसी बात को दो तरह से कहा जाता है : एक, 'यह सर्प नहीं, रस्सी है'। झूठी चीज़ नहीं है, सच्ची चीज़ है। दूसरा तरीका है, 'यह साँप रस्सी है'। समझने वाला समझ जाता है कि जो साँप दीख रहा है, सचमुच में वह साँप नहीं है, रस्सी है। इसी प्रकार, झूठा चिदाभास और सच्चा कूटस्थ दोनों को मिलाकर जीव है। दोनों का सम्बन्ध कैसे है? एक तरीका तो यह कहता है कि कूटस्थ में चिदाभास है। परन्तु सचमुच कूटस्थ *में* तो चिदाभास है नहीं। इसीलिये इस बात को दूसरे तरीके से कह सकते हैं कि चिदाभास नहीं, कूटस्थ है। इस तरीके को शास्त्रों के अन्दर बाध-सामानाधिकरण्य कहा। इसे बतलाया सुरेश्वराचार्य के वचन के अनुसार। इस ढंग में 'जीव है ही नहीं, ब्रह्म ही है' यह तात्पर्यतः तो ठीक है लेकिन जीव मैं हूँ अतः 'मैं सर्वथा हूँ ही नहीं'—यह समझना पड़ता है जो संगत व सम्भव लगता नहीं।

इसलिये आचार्य शंकर के जो दूसरे शिष्य थे पद्मपादाचार्य, उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि मैं को कूटस्थ समझना है अतः जीव को ब्रह्म बताया है। जीव का एक भाग कूटस्थ है, वह ब्रह्म है। क्योंकि आभास और कूटस्थ, दोनों को मिलाकर जीव कहते हैं इसलिये जब चिदाभास और कूटस्थ का विचार करते हैं अर्थात् त्वम्-पदार्थ का शोधन करते हैं, तब मिथ्या चिदाभास को हटाकर सत्य कूटस्थ ही बचता है। जीव मायने मैं इसलिये यहाँ मुख्य सामानाधिकरण्य से ज्ञान होता है कि मैं कूटस्थ हूँ। केवल 'मैं चिदाभास नहीं हूँ,' कहने का कोई मतलब नहीं जब तक क्या हूँ भी न समझा जाये। क्योंकि कूटस्थ स्वप्रकाश है इसलिये आभास का निषेध होने पर भी भासता ही है अतः वास्तविक तात्पर्य तो एक ही आता है। मैं चिदाभास नहीं, मैं चिदाभास नहीं, इस प्रकार विचार करने का कोई फ़ायदा नहीं क्योंकि कूटस्थभाव के संस्कार नहीं पड़ते जबकि 'मैं कूटस्थ हूँ, मैं कूटस्थ हूँ' इस प्रकार का विचार करने से संस्कार दृढ होकर निष्ठा सरल होती है। फिर सुरेश्वराचार्य ने क्यों बाध समानाधिकरण माना है? उनका मतलब है कि मैं शब्द से प्रायः चिदाभास को ही समझते हैं इसलिये उस चिदाभासरूप मैं के निषेध की ज़रूरत है। अन्यथा कहीं न कहीं यह भ्रम रह जाता है कि मैं ब्रह्म तो हूँ परन्तु उसका कोई एक विकारादि रूप भी हूँ। यह सम्भावना न आ जाये इसलिये उनका ज़ोर है कि पहले समझ लो कि मैं चिदाभास नहीं हूँ, तो अपने आप कूटस्थ बच जाओगे। विवरणाचार्य का मतलब है कि 'मैं कूटस्थ हूँ' यह बार-बार विचारोगे तो चिदाभास अपने आप हट ही जायेगा क्योंकि त्वम् पदार्थ शोधन में बुद्धि और चिदाभास को अलग करके पहले ही समझ लिया है। अब पद्मपादाचार्य की बात को सामने ला रहे हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम्।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥४६॥

महावाक्यों में सामानाधिकरण्य बाध के अभिप्राय से है इसका विवरण ग्रंथ में विचारपूर्वक निषेध किया है कूटस्थ बताने के अभिप्राय से।

विवरणाचार्य 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' के अन्दर तो बाध समानाधिकरण ही मानते हैं इसमें भेद है नहीं परन्तु 'अहम् ब्रह्मास्मि' में मुख्य सामानाधिकरण्य स्वीकारते हैं। महावाक्यों में सामानाधिकरण्य बाध के लिये है। इस बात को विवरण में मना किया है। जैसे सुरेश्वराचार्य का मुख्य ग्रन्थ है बृहदारण्यकभाष्य पर 'वार्तिक' वैसे पद्मपादाचार्य का मुख्य ग्रन्थ है पंचपादिका जिस पर आगे प्रकाशात्मश्रीचरण की टीका है 'विवरण' जहाँ (पृ. ५८०) प्रयत्नपूर्वक युक्तियाँ देकर कहा है कि महावाक्यों में बाध के अभिप्राय से सामानाधिकरण्य नहीं है। ऐसा क्यों कहा? उन्होंने कूटस्थ को कहने के लिये बाध को हटाया अर्थात् कहीं ऐसा भ्रम न हो जाये कि 'मैं चिदाभास नहीं, तो मैं फिर कुछ नहीं हूँ,' इसलिये ज़ोर इसपर देना चाहिये कि 'मैं कूटस्थ हूँ'। मैं की कूटस्थरूपता को कहने के लिये उन्होंने बाध सामानाधिकरण्य हटाया है ॥४६॥

वही समझाते हैं–

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम्।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥४७॥

उपाधिरूप मल साफ कर लिया गया है जिस कूटस्थ का उसकी ब्रह्मरूपता कहने के लिये विवरण और अन्य ग्रन्थों में उस प्रकार समझाया है।

विवरणाचार्य कूटस्थ को शोधित त्वम्पदार्थ के रूप में बतला रहे हैं। चिदाभास जिसमें से हट चुका है, उस कूटस्थ का बाध नहीं है। जैसे सोने में जो खोट है, उसको हटाना ही सोने को शुद्ध करना है। अन्यथा सोना तो स्वरूप से शुद्ध ही है, उसमें मिले खोट को ही हटाना पड़ता है। इसी प्रकार से त्वम्-पदार्थ स्वरूप से कूटस्थ ब्रह्म ही है परन्तु उसके अन्दर मिथ्या चिदाभास को मिला दिया गया है। इसलिये हम लोग अपने को कूटस्थ भी जानते हैं और चिदाभास भी जानते हैं। जब कहते हैं 'मैं बड़े सुख से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना' उस समय जिस मैं को हम कह रहे हैं वह चिदाभास बुद्धि में तो है नहीं क्योंकि बुद्धिवृत्ति में जब प्रतिबिम्ब पड़े तभी चिदाभास होगा और सुषुप्ति में बुद्धिवृत्ति है नहीं; इसलिये वहाँ हम कूटस्थ को ही मैं कह रहे हैं और जब हम कहते हैं 'मैं कामी, मैं क्रोधी' तब बुद्धि में पड़े आभास को कहते हैं। जब कहते हो, 'मैं कामी-क्रोधी हूँ' तब बुद्धि-वृत्ति से एक हुऐ चिदाभास बनकर कहते हो। यों दोनों तरह से अपने को जानते हो। इनमें से तुम्हारा सच्चा रूप कौन-सा है? तुम दोनों मैं का अनुभव करते हो अतः शोधन जरूरी है। शोधित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वम्-पदार्थ का मतलब है कि बुद्धिवृत्ति से रहित जो तुम्हारा शुद्ध रूप है उसे समझना। बुद्धिवृत्ति वाला रूप, जिसको दुनिया सच्चा रूप समझती है, वह तुम्हारा सच्चा रूप नहीं है। इसके लिये दीर्घकाल तक विवेक करना पड़ता है क्योंकि लोग ही नहीं, तुम खुद भी अपने को आभासरूप ही समझते हो! जिस समय में अभिमान, काम क्रोध आदि नहीं भी हों, उस समय में भी सोचते हो कि मैं अभिमानी, कामी, क्रोधी आदि हूँ! इस तरह तुम खुद भी अपने उसी रूप को सच्चा मानते हो। दीर्घकाल तक विवेक करने के बाद पता चलता है कि बुद्धिवृत्ति वाला रूप आगन्तुक है, आकस्मिक है, सच्चा नहीं, सच्चा रूप कूटस्थ है। यह जो शोधित त्वम्-पदार्थ है अर्थात् चिदाभास को हटा करके जो कूटस्थ है उस की ब्रह्मरूपता को कहने के लिये विवरणाचार्य ने इतना प्रयास किया है यह कहने का कि महावाक्य का अर्थ है—ब्रह्म है। इस तरह अहम् ब्रह्म को समझने के लिये पहले अहम् को कूटस्थरूप जान लेते हैं, उसकी ब्रह्मरूपता बाध समानाधिकरण से नहीं है, मुख्य समानाधिकरण से है, कूटस्थ ब्रह्म ही है। ऐसा नहीं कि कूटस्थ नहीं वरन् ब्रह्म है! 'ब्रह्मरूपताम्' के द्वारा ब्रह्म की स्वरूपता समझना। ब्रह्म के दोनों रूप हैं, एक मायाविशिष्ट रूप, दूसरा माया-रहित रूप है। ब्रह्मसूत्रों के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की—ब्रह्म को जानने की कोशिश करो। फिर ब्रह्म का रूप बतलाया, सृष्टि-स्थिति-लयं करने वाला। इसी प्रकार भार्गवीवारुणी विद्या के अन्दर पूछा कि ब्रह्म क्या है, तो बतलाया कि जो सृष्टि को करता है, उसकी पालना करता है और अन्त में लीन कर लेता है वह ब्रह्म है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि करने वाला, ये सब सविशेष रूप हैं, माया-विशिष्ट रूप हैं। कूटस्थ मायाविशिष्ट रूप नहीं है। कूटस्थता ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। इसलिये तैत्तिरीयउपनिषद् में प्रारम्भ किया 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' सत्यरूपता, ज्ञानरूपता, अनन्तरूपता यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। कूटस्थ सच्चिदानन्द है। इसे स्पष्ट करने के लिये विवरणाचार्य ने कहा कि महावाक्यों में मुख्य सामानाधिकरण्य है। जैसा विवरणाचार्य ने कहा है, वैसा दूसरों ने भी कहा है अतः मुख्य सामानाधिकरण्य ही प्रायः करके प्रधान पक्ष है ॥४७॥

कूटस्थ पदार्थ बताते हैं—

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता ॥४८॥

शरीर इंद्रियादिसे सम्बद्ध जीवाभासरूप भ्रम का अधिष्ठानभूत चैतन्य यहाँ कूटस्थ से अभिप्रेत है।

कूटस्थ की ब्रह्म के साथ एकता बतलाना इष्ट होने से, शरीर इंद्रिय मन बुद्धि आदि से युक्त जीवाभास नामक भ्रम के अधिष्ठान के अभिप्रायसे कूटस्थ पद रखा गया है। कूटस्थ अपने को स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों से युक्त समझ रहा है, यही भ्रम है। कार्य करने के लिये पदासीन को कुर्सी मिलती है। ऐसे ही परमात्मज्ञान के लिये हम श्रवण मनन कर सकें इसके लिये हमें शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि में बैठा दिया गया। इनमें बैठने का और कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोजन नहीं है। किन्तु जैसे कार्य में तत्पर न रहकर भी कुर्सी नहीं छोड़ना चाहते वैसे इसमें बैठने के बाद हम इससे उतरना चाहते ही नहीं! ज़बरदस्ती यदि शरीर छूट भी जाता है तो हम तो अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सारा पुर्यष्टक साथ लेकर जाते हैं। देहेन्द्रियादि युक्त शरीरद्वय मेरा सच्चा स्वरूप है—यही जीवाभासरूप भ्रम है, सच्चा रूप नहीं है।

आचार्य शंकर ने एक दृष्टान्त दिया हैः उत्तंक नाम के महर्षि थे। उन्होंने बड़ी तपस्या की। भगवान् विष्णु ने कहा 'वर माँगो।' उन्होंने कहा 'मुझे अमृत पिलाइये, मैं अमर होना चाहता हूँ।' भगवान् ने समझाया 'यह मर्त्यदेह है, इसमें अमृत नहीं पी सकते।' उन्होंने कहा 'मुझे तो अमृत ही पीना है।' अब विष्णु भगवान् ने सोचा कि कैसे बचें। उन्होंने कहा 'ठीक है, एक बार तुमको कोई अमृत पिलाने आयेगा, तुम ना मत करना।' उन्होंने कहा 'ठीक है, पर मुझे पता होना चाहिये कि अमृत है।' भगवान् ने इन्द्र से कहा 'तुम ऐसा स्वांग करो : जैसे घरों से टट्टी बटोरकर सफाई-कर्मी घड़े में भरकर ले जाते हैं वैसे रूप को धारणकर वैसे घड़े में अमृत उत्तंक को कहकर एक बार उपलब्ध करा दो।' उत्तंक ऋषि मार्ग में जा रहे थे, वैसा रूप धरे इन्द्र ने कहा 'आइये, मटके से अमृत पी लीजिये।' ऋषि ने उसका नकली रूप देखकर अमृत नकार दिया! फिर इन्द्रने अपना असली रूप और अमृत का घड़ा प्रटक कर कहा 'महाराज, अब मैं जा रहा हूँ।' आचार्य शंकर कहते हैं कि इसी प्रकार जैसे उसने अमृत इसलिये नहीं पिया कि मेरी जाति चली जायेगी, वैसे अपने शरीर आदि का जो स्वरूप है, यह सब निकल जायेगा तो मोक्ष किस काम का!—यह सोचकर आदमी पूछता है कि 'इस ब्रह्मभाव से हमारे शरीर मन को क्या मिलेगा! ज्ञान का फल तो शरीर पुष्ट हो, बीमारी न हो, बुद्धि तेज़ हो जाये— ये सब होना चाहिये।' जैसे नश्वर ब्राह्मणत्व मोह के चलते उत्तंक अमृत से वंचित रहे वैसे मिथ्या जीवभाव के मोह के कारण मोक्ष से वंचित रहना संगत है। किंतु जो मुक्त स्वरूप को मैं जानेगा वह ऐसा धोखा नहीं खायेगा अतः शरीर-इन्द्रियादि का जो अधिष्ठान है, जिसमें शरीर इंद्रियादि सब कल्पितरूप से रहते हैं, वह चैतन्य ही 'अत्र' यहाँ कूटस्थ शब्द से कहा गया है ॥४८॥

कूटस्थ शब्द का अर्थ बता दिया। अब ब्रह्म शब्द का अर्थ बताते हैं—

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम्।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद् ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥४९॥

सारे जगद्-रूप भ्रम का वेदान्तों में जो अधिष्ठान बताया गया है वह यहाँ ब्रह्म-शब्द से बताना अभिप्रेत है।

सम्पूर्ण जगत् भ्रम है। यह क्या है? ऐसा पूछे जाने पर, हम लोग कहते हैं, 'घड़ा है, कपड़ा है, दीवार है।' घड़े के बारे में तो हम विस्तार से जानते हैं। कपड़े के बारे में जानते हैं कि धागे, ताने-बाने से बनता है। दीवार के बारे में जानते हैं कि ईंट-गारे से बनती है। पर इस 'है' के बारे में भी तो कुछ बतलाओ! कहते रहते हो बार-बार 'है,' पर 'है' चीज़ क्या है? कुछ नहीं बतला पाते हैं! जिस प्रकार घड़ा, सिकोरा, परई—सब मिट्टी के हैं इसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार क्योंकि सब चीज़ों को है कह रहे हो इसलिये 'है' ही सबका कारण है। उसी तरफ ध्यान नहीं है। इसी प्रकार अपने बारे में समझ लो—'मैं ब्राह्मण या गोरा या बुद्धिमान् हूँ।' तुम ब्राह्मण या गोरा या बुद्धिमान् के बारे में जानते हो पर इस 'मैं' के बारे में भी क्या कभी सोचा है? यह 'मैं' क्या चीज़ है? 'मैं' और 'है'—इन दोनों चीज़ों के बारे में हम कुछ नहीं जानते। इसका मूल कारण यह है कि यही अधिष्ठान है। ठीक जिस प्रकार से रस्सी में जब साँप दीखता है तब साँप है—यही बुद्धि रहती है, रस्सी नहीं दीखती। इसी प्रकार से नामरूपात्मक जगत् है। नामरूप चाहे 'है' के ऊपर हो, चाहे 'मैं' के उपर हो, ये ही दीखते हैं, है का पता नहीं चलता। सारे जगत् का जो भ्रम है उसका अधिष्ठान ही 'है' कहलाता है। अर्थात् वह है तब ये नाम-रूप दीख रहे हैं। जैसे रस्सी है तब साँप दीख रहा है। रस्सी नहीं होती तो साँप क्या दीखता! इसी प्रकार मैं हूँ, तभी गोरा, बुद्धिमान, ब्राह्मण आदि हूँ। यदि मैं नहीं होता तो न ब्राह्मण होता, न गोरा होता।

'त्रय्यन्तेषु;' त्रयी कहते हैं वेद को क्योंकि वेद में तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड। जैसे विषय की दृष्टि से त्रयी कहते हैं वैसे रचना की दृष्टि से भी त्रयी हैः कुछ रचनायें छन्द में हैं जो ऋक् कहलाती हैं। उनमें नियत पाद (चरण) और हर पाद में नियत अक्षर होते हैं। दूसरा भाग गद्य है और तीसरा संगीत का हिस्सा है जो गाया जाता है। ये तीन प्रकार की रचनायें वेदों में हैं इसलिये भी इसे त्रयी कहते हैं। विषय दृष्ट्या अन्तिम है ज्ञान-काण्ड। ज्ञान-काण्ड में ही कर्म और भक्ति का भी सिद्धान्त बतलाया है। उसी के लिये कर्म और उपासना-काण्डों की रचना है। वेद का जो वास्तविक हृदय है वह समझ में तब आवे जब शुभ कर्म-उपासना कर ली जाये। जब तक व्यक्ति शुभ कर्म करने वाला नहीं हो तब तक उसकी उपासना ठीक नहीं होगी। गन्दे शरीर में कभी शुद्ध मन नहीं रह सकता। कर्म शरीर से होगा; जब तक कर्म ठीक नहीं होगा एवं शरीर शुद्ध नहीं हो जायेगा तब तक मन की शुद्धि सम्भव नहीं है। उसके बाद जब तक परमेश्वर की उपासना से मन अपने दोषों से मुक्त होकर निर्मल नहीं हो जाता तब तक वह तत्त्व समझ में आता नहीं। आइन्सटाइन ने बड़ा अन्वेषण किया कि उर्जा का और द्रव्य का क्या सम्बन्ध है। उसने उसे बड़े छोटे से सूत्र में उपस्थित कर दिया कि द्रव्यके परिमाण को यदि तुम प्रकाश की गति के वर्ग से गुणा कर दो तो कितनी उर्जा पैदा होगी यह पता चल जायेगा। सूत्र बड़ा छोटा है $E=mc^2$ किन्तु यदि इसका ठीक तात्पर्य समझना चाहो तो तुमको सारा गणित और भौतिकी शास्त्र पढ़ना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार सारे वेदों का चरम सिद्धान्त क्या है? सब कुछ ब्रह्मरूप है, मैं ब्रह्म हूँ। कहने में अत्यन्त छोटा सूत्र है पर समझना दुर्लभ है। बिना समझे रटकर बोलना सरल होने से प्रसिद्ध है कि जैसे फागुन के महीने में बालक गालियाँ देते हुए घूमते हैं, उन गालियों का अर्थ उन्हें कुछ भान नहीं होता, उसी प्रकार कलियुग में सभी लोग वेदान्त की बातें करते हैं परन्तु वे क्या बोल रहे हैं, उनको स्वयं पता नहीं है! राग, काम, क्रोध सभी दुर्गुण अपने में पनपाते हैं यह कहते हुए कि सब कुछ ब्रह्म है! नीलकंठ दीक्षित ने कहा है कि व्यापार करने के लिये यह बड़ा अच्छा तरीका है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'सदा जपपटे हस्तो मध्ये मध्येऽक्षिमीलनम्।
सर्वं ब्रह्मेति वादश्च सद्यः प्रत्ययहेतवः।।'

हमेशा हाथ जप की थैली के अन्दर होवे। बीच-बीच में आँखें मीच ले। 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा बोलता रहे। ऐसे दुकानदारके बारे में ग्राहक सोचते हैं कि बड़ा महात्मा, सज्जन होगा। ऐसे आचार (या कपट) से ग्राहक जल्दी फँसता है। वेद का सिद्धान्त बड़ा सरल है। पर यदि उसको समझना चाहो तो सारे कर्म और उपासना का अनुष्ठान करके ही इसको समझ पाओगे। ऐसा जो त्रयी का सिद्धांत उसके बोधक भाग में जगत् के अधिष्ठान को ही ब्रह्म नाम से कहा है। अधिष्ठान चैतन्य ही व्यष्टि-दृष्टि से कूटस्थ व समष्टि-दृष्टि से ब्रह्म कहा जा रहा है ॥४९॥

जीव भी आरोपित वस्तु ही है, मिथ्या ही है, यह कहते हैं–

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥५०॥

इसी चैतन्य पर जब सारे जगत् का आरोप हो रहा है तब जगत् के ही एक हिस्से पर जीव के आभासका आरोप है इसमें क्या कहना!

सारा जगत् चिन्मात्र ब्रह्म के अन्दर आरोपित बतलाया जा रहा है। सब इसमें अध्यस्त है, 'सब' में तुम्हारे शरीर-मन-बुद्धि भी आ ही गये। जब सारा अध्यस्त है, तो उस जगत् का एकदेश तुम्हारा शरीर-मन आदि जो बहुत छोटा-सा हिस्सा है, वह भी अध्यस्त ही है। अतः उसके अधिष्ठाता तुम जीवाभास भी आरोपित हो, भ्रमरूप हो, इसमें क्या कहना! सुरेश्वराचार्य ने इसी दृष्टिसे कहा है कि जीव का बाध होता है ॥५०॥

कूटस्थ व ब्रह्म दोनों शब्द अधिष्ठान-विषयक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं यह समझाते हैं–

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः।
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥५१॥

वास्तव में चेतन एक होने पर भी क्योंकि जगत् और उसका एक हिस्सारूप समारोप्यों में भेद है इसलिये तत् और त्वम् पदों के अर्थ भिन्न हैं।

जिनका आरोपण होता है, अर्थात् जिनका अध्यास किया जाता है, वे क्योंकि दो हैं इसलिये अधिष्ठान को दो शब्दों से कहना संगत हो जाता है। अध्यस्तों में एक है– सारा जगत् और दूसरा है उसका एकदेश, बुद्धि। माया से पहले तो पंच महाभूत उत्पन्न हुए। पंच महाभूतों के सत्त्वांश से ज्ञान के साधन बने और रजोगुणांश से कर्म के साधन बने। बचा जो तमोगुणांश, उसका पंचीकरण होकर स्थूलसृष्टि बनी। ज्ञान का साधन जो अंतःकरण उसमें प्रतिबिम्बित चेतन एकदेश से संबद्ध हो गया। है तो वह भी भौतिक सृष्टि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही, बुद्धि भी पचंभूतों का कार्य ही है परन्तु सत्त्वगुणांश होने के कारण उसमें चेतन प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार मिट्टी के घड़े में पड़ा दूध बाहर से दिखाई नहीं देता है परन्तु काँच के घड़े में दूध दिखाई देता है, इसी प्रकार पञ्चीकृत महाभूत तमोगुणरूप होने से उनमें चेतनता दिखाई नहीं देती परन्तु बुद्धि के अन्दर चेतन दिखाई देता है। इसलिये 'मैं चेतन हूँ,' ज्ञान जैसा अन्तःकरण की वृत्ति में हो सकता है वैसा ईंट-पत्थर को नहीं हो सकता। यही जड और चेतन का भेद है। जगत् अर्थात् पंचमहाभूत तथा एकदेश हो गया जिसमें चेतन प्रतीत होता है। दोनों ही समारोप्य हैं। इसके अन्दर जो भेद है, अर्थात् समष्टि–व्यष्टि, अंश-अंशी, कार्य-कारण आदि तरीकों से समझा जा सकने वाला अन्तर है, उसी के सहारे इनके अधिष्ठान के वाचक शब्द विभिन्न हो जाते हैं, उन शब्दों के वाच्यों में भेद संभव हो जाता है। जगत् जिस चेतन तत्त्व में समारोपित है, वह हो गया तत्पदार्थ अर्थात् ईश्वर। और बुद्धि जिसके अंदर अध्यस्त है, वह हो गया त्वं-पदार्थ अर्थात् जीव। इस तरह तत् और त्वम् दोनों पदार्थ भिन्न हो गये। परन्तु यह जिसमें अधिष्ठित है, अर्थात् जीव का अधिष्ठान कूटस्थ तथा ईश्वर का अधिष्ठान ब्रह्म वे अलग-अलग नहीं हैं। चेतन की तो एकता ही है। जैसे कोई बड़ा लम्बा कपड़ा हो, उसके ऊपर दो प्रतिबिम्ब डाले जा सकते हैं–एक सारे कपड़े के ऊपर लाल रंग का प्रतिबिम्ब डालने से सारा कपड़ा लाल दीखता है, और उसके एक हिस्से में हनुमान् जी का प्रतिबिम्ब डालो तो वह भी दीखता है। लाल रंग तो सारे कपड़े पर पड़ा, जहाँ हनुमान् जी का चित्र है वहाँ भी पड़ा; हनुमान् जी का प्रतिबिम्ब एक हिस्से पर ही पड़ा जबकि अधिष्ठान कपड़ा एक ही है। इसी तरह ईश्वर सबमें एक जैसा व्यापक है। परन्तु ज़ीव खाली बुद्धि वाले हिस्से में है, दूसरे हिस्से में नहीं। पर दोनों का अधिष्ठान एक है, एक चेतन के ऊपर जीव और ईश्वर दोनों ही कल्पित हैं ॥५१॥

चिदाभास की आरोपितता उपपन्न करते हैं–

कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम्।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥५२॥

बुद्धि के कर्त्तृत्वादि धर्म और स्फूर्ति नामक आत्मस्वरूप को धारण करते हुए स्पष्ट प्रतीयमान है इसलिये चिदाभास भ्रम है।

आरोपित चीज़ में कुछ तो अधिष्ठान की विशेषता दिखाई देती और कुछ अधिष्ठान से सर्वथा अलग दिखाई देता है। जैसे कपड़े पर लाल प्रतिबिम्ब डाला तो लाल कपड़ा दीखा। इसमें कपड़ा अधिष्ठान है और लाल, अध्यस्त है। ऐसे चिदाभास में भी ज्ञानरूपता अधिष्ठान की विशेषता प्रतीत हो रही है और जो कर्तृत्व आदि धर्म बुद्धि के हैं वे भी आभास में ही प्रतीत हो रहे हैं 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी-दुःखी हूँ;' इनमें कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी–ये बुद्धि के धर्म हैं क्योंकि जैसे ही तुम गहरी नींद में जाते हो, बुद्धि नहीं रहती, वैसे ही न कर्ता हो, न भोक्ता हो, न सुखी हो, न दुःखी हो। क्योंकि ये सारी प्रतीतियाँ बुद्धि को लेकर हैं इसलिये ये बुद्धि के धर्म हैं। और जो स्फुरण है, अर्थात् उसका स्पष्ट ज्ञान होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है वह आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान के स्थान पर 'स्फुरण' यहाँ इसलिये कहा है कि प्रायः ज्ञान-शब्द का प्रयोग किया जाता है जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय-भाव होवे। स्फुरण कह कर यह बतला रहे हैं कि 'मैं कर्ता' को तो कोई दूसरा जानता नहीं है। इसलिये यहाँ न ज्ञेय है और न ज्ञाता है, बस प्रतीतिमात्र है। जो यह स्फुरण, स्फूर्ति है, यह जड बुद्धि इत्यादि का तो धर्म है नहीं वरन् अधिष्ठान आत्मा का स्वरूप है। आभास में दोनों मिल गये। बुद्धि-धर्म और आत्मरूपता-दोनों धारण करते हुऐ आभास का स्पष्ट भान होता है। 'पुरतः' का मतलब होता है सामने। परन्तु यहाँ यह अर्थ नहीं है। इतना ही मतलब है कि जैसे सामने रखी चीज़ प्रतीत होती है वैसे ही 'मैं कर्ता, भोक्ता' ये स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं। जैसे कहते हैं 'यह चीज़ हाथ में रखे आँवले के समान स्पष्ट है'; अर्थात् स्पष्टता बतलाने के लिये 'पुरतः' कह दिया। क्योंकि वास्तव में स्फुरण भ्रम नहीं और कर्ता स्फुरणरूप नहीं इसलिये दोनों वाला लगता आभास भ्रम तभी तक रहता है जब तक उसका विचार नहीं करते ॥५२॥

इसलिये—

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्माऽत्र जगत् कथम्।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

बुद्धि क्या है? यह आभास क्या है? आत्मा कौन है? आत्मा में जगत् कैसे है? इन विषयों का निर्णय न करने तक जो मोह वह संसार स्वीकारा जाता है।

कर्ता-भोक्ता बनने वाली बुद्धि क्या है?—यह अधिकतर लोगों को नहीं पता। मैं कर्ता-भोक्ता यह पता है; इस पर विचार करें तब तो आगे पता लगे कि यदि मैं कर्त्ता होता तो गहरी नींद में भी रहता। वहाँ मैं था फिर कहाँ चला गया कर्ता-भोक्तापना? पर ऐसा सोच नहीं पाते कि कैसे माया के सत्त्वगुण के अन्दर सफाई होने से बुद्धितत्त्व बना जिसमें आत्मा ऐसा स्फुरित होता है। विचार करें तब बुद्धि का पता लगे। और 'अयम् आभासःकः?' बुद्धि के अन्दर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह क्या है? और जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, जो शुद्ध है वह आत्मा कौन है? सबसे कठिन है आत्मा को समझना। उससे सरल है आभास को समझना। और सबसे सरल है बुद्धि को समझना। इसलिये उसी क्रम से कहा कि पहले बुद्धि के तत्त्व को समझे, तब उसमें पड़े आभास के तत्त्व को समझे, तब ये दोनों जिसमें अध्यस्त हैं, उस आत्मतत्त्व को समझेगा।

किंच 'अत्र' इस आत्मा में 'जगत् कथम्?' यह जगत् कैसे आ गया? यह समझना और कठिन है। मेरे अन्दर आत्मा है—यदि यह समझ में आ भी जाये, तो सारा जगत् भी मुझ आत्मा में ही अध्यस्त है यह समझना और कठिन है। सांख्यवादी बुद्धि और आत्मा के स्वरूप को कुछ बतलाते हैं पर आत्मा का जगत् से कहते हैं कि कोई सम्बन्ध नहीं! इसलिये मानते हैं कि तुम प्रकृति से अलग होकर निकल सकते हो। पर प्रकृति बनी रहेगी, अपना काम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करती रहेगी, केवल तुम्हारे सामने नहीं आयेगी। यदि नहीं समझोगे कि यह सारा जगत् भी मुझ आत्मा में ही कल्पित है तो तत् पदार्थ हाथ में आयेगा नहीं इसलिये आत्मा की व्यापकता स्पष्ट होगी नहीं। भेदवादी कह देते हैं कि 'हम आत्मा को विभु अर्थात् व्यापक मानते हैं' परन्तु अगर प्रकृति तुमसे भिन्न विद्यमान है तो तुम व्यापक कैसे हो गये? प्रकृति में तो व्यापक हुए नहीं, उसको तुम अलग मान ही रहे हो। इसलिये अपने अनन्त रूप को समझने के लिये इस सारे जगत् का अधिष्ठान मैं आत्मा ही हूँ, यह समझना ज़रूरी है। इन चीज़ों का जब तक निर्णय नहीं कर लेते तब तक मोह बना रहेगा। सब तरफ से विचार करके जो अन्तिम निश्चय कर लिया जाता है वह निर्णय है। इन बातों का निर्णय नहीं करना मोह है, वही बन्धन है।

यह जो मोह है इसी को संसार कहा जाता है। एक अवस्था या शरीर से दूसरी अवस्था या शरीर में सरकना संसार-शब्द का अर्थ है। यह सरकना तब तक होता रहता है जब तक इन चीज़ों का निर्णय न कर लो। सरकना क्यों होता है? अध्यस्त बुद्धि और उसके धर्म आदि मायिक होने से प्रतिक्षण बदलेंगे। माया का स्वरूप ही ऐसा है! जब उसके साथ तुम्हारा मोह होगा तब तक उसके सरकने से तुम सरकते ही रहोगे। यदि योगाभ्यास करो, बुद्धि को एकाग्र करके समाधि में स्थिर कर लो, चित्तवृत्ति का निरोध हो जाये, तो भी चित्तवृत्ति जैसे ही समाधि से उस अवस्था में लौटेगी वैसे ही बुद्धि के साथ बदलने लग जाओगे! समाधि के अन्दर तुम्हारी स्वरूपस्थिति है किन्तु जैसे ही समाधि से व्युत्थान में आये वैसे ही फिर स्वयं को बद्ध पाओगे। परन्तु जब बदलने वाली बुद्धि से लेकर सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठानरूप से अपने को जानने के कारण इन सबकी मायिकता को जान लिया, तब फिर इनके परिवर्तन से मैं परिवर्तन वाला नहीं होता ॥५३॥

इसलिये कहते हैं कि संसार को निवृत्त करने वाला विवेक ही है—

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित्।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४॥

जो बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक करता है वह सत्य का जानकार ही मुक्त है यह वेदान्तों में निर्धारित है।

जो बुद्धि, आभास, आत्मा, जगत्—इन चारों के स्वरूप को अलग करके जानता है, भली प्रकार विवेक करके समझता है वह तत्त्वज्ञ है। मोह का निवर्तक यह विचार ही है। जैसे अनिर्णय बन्धन है वैसे ही निर्णय मोक्ष है। यथार्थ तत्त्व ही जानने के योग्य है। अन्य सारी चीज़ें मायिक होने से उनके बारे में कभी कोई निर्णय किया नहीं जा सकता। यदि निर्णय पर पहुँचोगे भी तो बाद में फिर निर्णय बदल जायेगा। पहले आधुनिक भौतिकवादी न्यूटन को मानते रहे, फिर आइन्स्टाइन ने उसे बदल दिया, अब आइन्स्टाइन की खोज में परिवर्तन की बात सोचनी पड़ रही है। जिस प्रकार से प्याज को छीलते चले जाओ, अन्त में कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं मिलना है क्योंकि वह है ही छिलका, इसी प्रकार इस संसार में प्रश्न ही प्रश्न हैं। एक प्रश्न हटाने से दूसरा उठेगा, यही क्रम चलेगा। यदि कोई सोचे कि माया की समस्याओं का समाधान हो सकता है, तो व्यर्थ है क्योंकि यह न हुआ है और न हो सकता है। समझदार व्यक्ति जिन प्रश्नों का उत्तर हो नहीं सकता उनमें माथा-पच्ची नहीं करता, उसके बारेमें तो जैसा व्यावहारिक शास्त्रों से समझ आये वैसा ठीक मान लेता है और जिस वास्तविकता का निर्णय हो सकता है, उस आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करता है क्योंकि वही नहीं बदलने वाला है। इसलिये कहा 'स तत्त्ववित्' उसी ने तत्त्व को जाना। 'स एव मुक्तः'—जिसने तत्त्व को जान लिया वही मुक्त है। उपनिषदों के अंदर यह बात बार-बार स्पष्ट कही गई है कि ज्ञान से ही मुक्ति है, और कोई चीज़ मोक्ष दे नहीं सकती। वेद ने स्पष्ट कह दिया, 'उसको जान कर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकते हो।' कोई और भी रास्ता होगा—इस सम्भावना को हटाने के लिये वेद ने कह दिया 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इस संसार का अतिक्रमण करने का कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं॥५४॥

आभास-उपपादन से लाभ बताते हैं—

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः॥५५॥

बन्धन व मोक्ष अविवेकमूलक सिद्ध होने पर 'बन्धन किसका?' इत्यादि कुतर्क-प्रेरित परिहासों का दृढतासे खण्डनखण्डखाद्य में कहे ढंग से खण्डन करना चाहिये।

अनिर्णय से मोह है, और निर्णय से मुक्ति है। तत्त्व के अनिर्णय से मोह किसको है? आत्मा को है और निर्णय से मुक्ति भी आत्मा की है। लोग प्रश्न करते हैं कि यदि आत्मा को आप नित्यमुक्त कहते हैं तो वह मोक्ष के लिये प्रयत्न क्यों करे जब वह है ही मुक्त? जड का बन्धन होता नहीं, चेतन आत्मा का भी बन्धन होता नहीं, तो बन्धन है किसका? उनका भाव है कि वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार बन्धन-मोक्ष असंगत है। किन्तु पूर्वोक्त तरीके से आत्मा का ही बन्धन है और मुक्ति भी आत्मा की ही है यह सिद्ध हो गया। आत्मा के अनिर्णय से बन्धन है और निर्णय से मोक्ष है। क्योंकि आत्मतत्त्व परमार्थतः अखण्ड एकरस नित्यमुक्त रहते भी अविवेक से बंधन एवं विवेक से मोक्ष की संगति बैठ जाती है इसलिये कुतार्किकों के आक्षेपों का परिहार सरलता से हो जाता है। विडम्बना का अर्थ है ऐसी स्थिति प्राप्त कराना जो सर्वथा युक्तिविरुद्ध अतः हास्यास्पद हो। आत्मवस्तु समझने वाले तो उन कुतर्कों पर हँसते हैं किन्तु अज्ञानी लोग वेदान्त-सिद्धान्त को हास्यास्पद मान बैठते हैं अतः इनका खण्डन कर देना चाहिये। इनका सीधा उत्तर देने से कुतर्क की कोटियाँ बढ़ती रहेंगी। इसलिये इनके उत्तर के लिये श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की प्रधानरूप से सहायता लेनी चाहिये। कोई आधार लेकर जो प्रश्न करे उसको जवाब दे सकते हैं। जो कुतर्की होता है उसको कोई बात समझाओ तो वह जो बात कह रहा था उससे भी मुकर जायेगा! ऐसे लोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रायः आजकल आते हैं। उनसे पूछो 'तुम क्या मानते हो?' तो कहेंगे 'हमको तो कुछ पता ही नहीं है।' उनको समझाने का प्रयत्न करो तो हर चीज़ में उनका कुतर्क चलता रहेगा। कुतार्किक क्योंकि वितण्डा करते हैं इसलिये उसी रीति से उनका निरास सम्भव है। ढंग के जवाब से वे सन्तुष्ट नहीं होते इसलिये कुतार्किक हैं। उन्हें तर्कमात्र से निरुत्तर करना पड़ता है। ऐसे व्यक्तियों से वैसा ही वितण्डा करना पड़ता है। उनके प्रश्न की ही तार्किक विश्लेषणा की जाये जिसका वे समाधान न कर सकें, सिद्धान्ती स्वपक्ष के समर्थन का प्रयास न करे, उन्हीं से प्रश्न करता जाये ताकि वे जवाब देने में असमर्थ हो जायें। श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रंथ में इस तरह की कथा के लिये उपयोगी तर्कों की भरमार है अतः कहा कि वहाँ कहे ढंग से निरास कर देना चाहिये॥५५॥

कूटस्थ के बारे में पुराण-संवाद दिखाते हैं–

वृत्तेःसाक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः।
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोस्मीत्याभासज्ञानवस्तुनः॥५६॥

(१) वृत्तियों के और (२) वृत्तिप्रागभाव के साक्षिरूप से, जिज्ञासा होने पर (३) जिज्ञासा के तथा (जिसके बारे में जिज्ञासा है) उसके बारे में (४) 'आज्ञानी हूँ' यों आभासयुक्त अज्ञान नामक वस्तु के साक्षिरूप शिव ही स्थित हैं।

वृत्ति के साक्षिरूप में अर्थात् जब कामादि वृत्ति उत्पन्न होती है उसका जो साक्षी बना रहता है उस रूप में आत्मा मौज़ूद है। वृत्ति बनने के पहले उसके प्रागभाव का साक्षी भी आत्मा ही है। और 'बुभुत्सायां' जब किसी चीज़ को जानने चाहता हो, तब उस इच्छा का भी वही साक्षी है। 'मैं जानना चाहता हूँ' इस बात को भी साक्षी जानता है। जानने की इच्छा है अतः उस विषय को मैं नहीं जानता क्योंकि तभी जानने की इच्छा होगी यों उस अज्ञान को साक्षी जानता है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस तरह अज्ञान से संबद्ध अर्थात् आभास भी प्रतीत होता है अतः कहा कि आभास समेत अज्ञान का वही साक्षी है। सुषुप्ति में अज्ञान का साक्षी आत्मा है यह मान्य ही है। जाग्रत्-स्वप्न में भी 'मैं इस चीज़ को नहीं जानता' यों अनुभूयमान अज्ञान को जानने वाला साक्षी ही है। श्लोक ५६-८ किसी पुराण से लिये गये हैं। वहाँ संदर्भानुसार कहा है कि साक्षिरूप से शिव ही रहता है। इस प्रकार जो वृत्ति का साक्षी है, वृत्ति-प्रागभाव का साक्षी है, इच्छा का और अज्ञान का साक्षी है वही शिव है॥५६॥

आगे पुराण में उस साक्षी शिव को सच्चिदानन्द समझाया है–

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः।।५७।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना।
सर्वसम्बन्धवत्त्वेन सम्पूर्णः शिवसंज्ञितः॥५८॥

वह सारे असत्य का अधिष्ठान होने से सत्य है। सारे जड को सिद्ध करने वाला होने से चेतनरूप है। हमेशा प्रेम का विषय होने से आनन्दरूप है। क्योंकि सभी अर्थों को सिद्ध करता है इसलिये सबसे सम्बन्ध वाला है अतएव सम्पूर्ण है। ऐसे तत्त्व का नाम शिव है।

साक्षी सत्य है अर्थात् सद्रूप है। क्यों? सारे असत्य इसके अन्दर अधिष्ठित होने से ही यह सत्य है। असत्य जो नाम-रूप उनका यह आलम्बन है, अधिष्ठान है, इसके सहारे ही नाम-रूप सत्य प्रतीत होते हैं इसलिये सारे असत्यों का अधिष्ठान होने से यह सत्य है। असत्य तो सत्यापेक्ष होता है, सत्य ही निरपेक्ष होता है। आत्मा असत्य हो तो किसी आलम्बन को चाहेगा अतः वह सत्य ही होना संगत है। इस तरह जो सबका आलम्बन, सहारा, अधिष्ठान निरपेक्ष तत्त्व है वही आत्मा है। इसके सिवाय जो कुछ है वह जड है। परन्तु सारे जडों को सिद्ध करने वाला कौन है? घड़ा है इसमें क्या प्रमाण? 'मुझे प्रतीत हुआ'। किसी भी जड चीज़ की सिद्धि तो प्रतीति से ही होती है। जड पदार्थ ज्ञान से ही प्रतीत होता है। अगर हम कहें कि एक ऐसी चीज़ है जिसको आजतक किसी ने न जाना है, न आगे कोई जानेगा, न कोई जान रहा है; तो किसी को विश्वास नहीं होगा। किसी चीज़ को सिद्ध करने के लिये उसका ज्ञान होना, प्रतीति होना आवश्यक है। झूठी चीज़ भी सिद्ध तभी होती है जब उसकी प्रतीति हो। जड और चेतन में यही अन्तर है—चेतन को किसी दूसरे की प्रतीति की ज़रूरत नहीं है। मैं चेतन हूँ तो मेरे लिये कोई ज्ञान साधक नहीं है। चेतन स्वतः प्रकाश है। ज्ञान अपने प्रकाश से ही प्रकाशित हो जाता है। परन्तु जड चाहे कितनी बड़ी या छोटी चीज़ हो, वह ज्ञान से ही सिद्ध होगी, स्वतः सिद्ध नहीं होगी। सब जडों का साधक होने से वह चिद्रूप है, चेतनरूप है और वह हमेशा ही प्रिय है। कभी भी ऐसा नहीं लगता 'मैं अपने आप को प्रिय नहीं हूँ'। बाकी सब चीज़ें अपने लिये प्रिय होती हैं। देवता भी प्रिय होता है जब हमारी प्रार्थना पूरी करे। यदि प्रार्थना पूरी नहीं हुई तो देवताओं से प्रेम नहीं रहता। यदि कोई पूछे कि 'तुम अपने से क्यों प्रेम करते हो'? तो कोई उत्तर नहीं होगा! इसलिये जिस प्रकार जनक-याज्ञवल्क्य संवाद के अंदर आत्मा की प्रकाशरूपता को सिद्ध किया गया उसी प्रकार मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-संवाद में परम प्रेमास्पदता सिद्ध की गई। जिस चीज़ से निर्हेतु प्रेम होता है वही चीज़ आनन्द देने वाली होती है। दुःख देनेवाली चीज़ से किसी को प्रेम नहीं होता।

सदा प्रेमास्पद होने के कारण साक्षी आनन्दरूप है। बाकी चीज़ें कभी सुख देती हैं, कभी नहीं देती हैं। पहले पहल गुलाब जामुन तो सुख देते हैं, जब पेट भर जाता है तब फिर दो के लिये भी मनाकर, हाथ जोड़ता है। यदि खाने भी पड़े तो क्या उसका मज़ा आता है? परन्तु अपना आपा हमेशा ही प्रिय होता है। मन में ऐसा कभी नहीं होता कि 'मैं दुःखी हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाऊँ'। 'सर्वार्थसाधकत्वेन'—प्रकाशित करके सब चीज़ों को सिद्ध करने वाला ही सब विषयों का साधक है। जो कुछ है वह ज्ञान से सिद्ध होता है, इसलिये ज्ञान के साथ सम्बन्ध है। सबके साथ सम्बन्ध होने के लिये जहाँ सब हैं वहाँ उसे होना पड़ेगा तभी सम्वन्ध होगा। इसलिये 'सम्पूर्णः' उसको सम्पूर्ण कहा जाता है। जो सच्चिदानन्द सम्पूर्ण है उसी की 'शिव' यह संज्ञा है। अर्थात् परमेश्वर का नाम शिव है। सर्वसम्बन्ध में सम्बन्धशब्द प्रकाश्य-प्रकाशकभाव से कहा गया है। वह प्रकाशक है, सब कुछ प्रकाश्य है। जैसे अधिष्ठानरूप से ही सत्य कहा वैसे प्रकाश्य का अधिष्ठान होने से प्रकाशक कहा जा रहा है। तभी सबसे सम्बन्ध सम्भव है। ज्ञानरूप प्रकाश अधिष्ठान है जिसमें प्रकाश्य कल्पितरूप से रहता है। बिना ज्ञान में अधिष्ठित हुए कोई चीज़ प्रकट हो नहीं सकती। 'सम्बन्ध' सुनते ही मनुष्य को लगता है कि दो चीज़ें हैं जिनमें कोई तीसरा सम्बन्ध है। दोनों चीज़ें समान सत्ता में हों तभी सम्बन्ध सम्भव है। आत्मा में समान सत्ता वाला 'सब' कुछ है नहीं। इसलिये प्रायः करके 'सर्वसम्बन्धवत्त्वेन' नहीं कहते। यहाँ कहा है अतः समझ लेना चाहिये कि समान सत्ता के सम्बन्ध को लेकर नहीं कहा है। अधिष्ठान और अध्यस्त का जो आध्यासिक सम्बन्ध है, उस सम्बन्धके अभिप्राय से वह पूर्ण है। सब कुछ उसमें अध्यस्त है—यही सम्बन्ध है और कोई सम्बन्ध नहीं। समान सत्ता वाला सम्बन्ध होता तो जो सर्व है यह मिथ्या नहीं रहता! आध्यासिक सम्बन्ध से ही मिथ्या और सत्य का सम्बन्ध होता है। इस तत्त्व का नाम शिव है॥५७-५८॥

उद्धृत वाक्यों का तात्पर्य बताते हैं—

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः॥५९॥

शैव पुराणों में इस प्रकार कूटस्थ का सविस्तार विवेचन है। जीवत्व-ईश्वरत्व आदि धर्मों से रहित अद्वितीय स्वप्रकाश वस्तु शिव है।

ये तीनों श्लोक शैव पुराण में कहे हैं। 'पुराणेषु' में बहुवचन है। इसका मतलब है कि कई जगह शैव पुराणों में यह बात कही है। कई जगह कही बात को यहाँ एकत्रित कर दिया है। पुराणों में कूटस्थ को भली प्रकार से आभासादि विकारों से अलग करके बतला दिया। अधिष्ठानरूप से सच्चिदानन्द के साथ सम्बन्धवाला होकर ही सारा अध्यस्त नाम-रूप प्रपंच सद्रूप, ज्ञानरूप, आनन्दरूप प्रतीत हो रहा है। वह कूटस्थ कैसा होता है? 'जीवेशत्वादिरहितः' अधिष्ठान सच्चिदानन्द में जीव और ईश्वर भी कल्पित हैं। अधिष्ठानरूप न जीव है, न ईश्वर है, न अल्पज्ञ है, न सर्वज्ञ है, न अल्पशक्तिमान् है, न सर्वशक्तिमान् है। वह तो सच्चिदानन्द अधिष्ठान ही है। जीव-ईश्वरादि कल्पनाओं से वह रहित है। 'जीवभाव से रहित है,' इसका उल्टा मतलब नहीं समझ लेना कि अभावरूप है! वह 'भावाभावविनिर्मुक्त' कहा गया है अर्थात् जीवादि भावरूप भी नहीं, इनका अभावरूप भी नहीं है। तात्पर्य है कि जीव-ईश्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि कल्पनाओं से छूटा हुआ है। जीव है या जीव नहीं है—दोनों ही कल्पनायें हैं। ईश्वर है, ईश्वर नहीं है—दोनों ही कल्पनायें हैं। अनेक लोग मुक्ति का विचार करते हैं तो उसे अभावरूप सोचते हैं कि वहाँ कोई भाव नहीं है। वेदान्तियों में एक मण्डनमिश्र हुए हैं, जो 'अभाव के साथ द्वैत का विरोध नहीं आता' ऐसा मानते थे। अर्थात् जगत् के अभाव के साथ ब्रह्म रह जायेगा। भगवान् भाष्यकार ने ज़ोर देकर कहा कि परमार्थ में द्वितीयरूप से अभाव भी नहीं है। अभाव भी भावापेक्ष होने से जब भाव है ही नहीं तो अभाव की सम्भावना कहाँ बचती है! अतः सर्वथा भाव और अभाव दोनों से वह रहित है। क्योंकि हम लोगों का दीर्घकाल से स्वभाव है कि या चीजों को 'है' समझते हैं या 'नहीं है' समझते हैं इसलिये 'है, नहीं है'—दोनों भावों से रहित' हम लोगों को जल्दी पकड़ में नहीं आता है। परन्तु धीरे-धीरे विचार करने से निश्चय हो जाता है कि वह परमात्मतत्त्व भाव और अभाव दोनों से रहित है। चूंकि सिद्धान्त के अन्दर अभावाद्वैत नहीं स्वीकार किया इसलिये स्पष्ट करते हैं 'केवलः' मायने वह अकेला ही है, अद्वितीय है।

'स्वप्रभः' वह स्वयंप्रकाश चैतन्य-रूप है। वैष्णवों ने परमेश्वर की चिद्रूपता नहीं समझकर चीनी-चींटी के दृष्टान्त से आनन्द के लिये भेद को मान्यता दी किन्तु शास्त्र परमेश्वर को न केवल आनन्दरूप वरन् ज्ञानरूप भी बताते हैं इसलिये वैष्णवकल्पना अप्रामाणिक, निरर्थक है। चीनी जड होने से अपने स्वाद से अनिभज्ञ है किन्तु परमात्मा चेतन है अतः आनन्द से अनभिज्ञ नहीं रह सकता। क्या वैष्णव परमात्मा को भी जड समझते हैं कि उसको अपना आनन्द नहीं *आता?* जड ईश्वर अप्रामाणिक है इसलिये उनकी मान्यता सर्वथा व्यर्थ है। आनन्द ज्ञानरूप है, आनन्द का ज्ञान नहीं, आनन्द स्वतः ही ज्ञानरूप है। वैष्णव मानते हैं कि आनन्द का ज्ञान होता है, आनन्द की ज्ञानरूपता को वे नहीं समझ पाते। इसका साधारण आदमी को थोड़ा भान हो सकता है नींद में। जब गहरी नींद आती है तब जगकर तुम कहते हो, 'आज बड़े आनन्द से सोया।' अर्थात् वहाँ आनन्द था। वह आनन्द किसी चीज़ का तो था नहीं, उल्टा, वहाँ कुछ नहीं था इसलिये आनन्द था। चूंकि मैं चेतनरूप हूँ, इसलिये कोई दूसरी चीज़ न रहने पर मेरा ही आनन्द प्रकट हो जाता है। जैसे सुषुप्ति में मैं-रूप आनन्द मुझे ही भासता है वैसे मोक्ष में आत्मरूप आनन्द आत्मा को मालूम रहता है। अतः उसका आनन्द स्वयंप्रकाश है। जो ऐसा स्वयंप्रकाश आनन्द उसी को शिव कहते हैं। इसलिये कोषकारों ने 'शिव' शब्द का एक अर्थ 'मंगल' कहा है। शिव मंगलमयरूप, आनन्दरूप है। शैव पुराणों में शिव का ऐसा रूप बतलाया है॥५९॥

जीव-ईश्वरभावों के वास्तविक राहित्य में श्रुति-समर्थन दिखाते हैं—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत्॥६०॥

क्योंकि यह श्रुतिसिद्ध है कि आभासों के रूप में जीव-ईश्वर को माया सम्भव करती है इसलिये वे मायिक ही हैं पर काँच और घड़े में जैसे स्वच्छताकृत भेद है वैसे जड जगत् से जीव-ईश्वर में भेद है क्योंकि वे स्वच्छ हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नृसिंहोत्तरतापनीय की इस श्रुति पर ६.१५५,७.३ आदि स्थलों पर चर्चा हो चुकी है। माया स्वयं में सच्चिदानन्द का आभास ग्रहण करती है, वह आभास ईश्वर के रूप में व्यवहृत होता है। और माया अपने एकदेश में वही सच्चिदानन्द प्रतिविम्बित करके जीव की प्रतीति कराती है। वह जो माया का एकदेश है उसी को अविद्या भी कहते हैं। एकदेश जो अविद्या, है वह भी माया ही। माया खुद ही समष्टि और व्यष्टि रूपों वाली प्रतीत हो जाती है और उससे सम्बद्ध आभास में जीव और ईश्वर भावों की प्रतीति हो जाती है। जीव और ईश्वर हैं आभास ही। इसलिये कहा 'मायिकावेव जीवेशौ' जीव और ईश्वर दोनों मायिक ही हैं। मायिक तो पहाड़-नदी भी हैं। फिर जीव-ईश्वर में जडों से क्या अन्तर है? उनमें स्वच्छता ही विशेष है। जैसे यदि शीशे का घड़ा हो, उसमें दूध भरा हो तो दूध दीख जाता है पर मिट्टी के घड़े में दूध दीखता नहीं क्योंकि मिट्टी का घड़ा काँच की अपेक्षा साफ़ नहीं है। इसी प्रकार से माया में से चेतन दीख जाता है, अविद्या में से भी वह दीख जाता है। अतः माया और अविद्या की उपाधि वाले जीव और ईश्वर तो चेतन प्रतीत होते हैं परन्तु पहाड़ नदी आदि चेतन प्रतीत नहीं होते क्योंकि उनकी उपाधि साफ़ नहीं है, चेतन दीखे ऐसी नहीं है। काँच का और मिट्टी का घड़ा दोनों पार्थिव होने पर भी एक अन्दर की चीज़ दिखला देता है, दूसरा नहीं दिखलाता; इसी प्रकार से पहाड़, नदी भी मायिक हैं और बुद्धि भी मायिक है, पर बुद्धि में से चेतन दीख जाता है जबकि दूसरी जगह नहीं दीखता। यह अन्तर है॥६०॥

दूसरे दृष्टांत से समझाते हैं–

अन्नजन्यं मनो देहात् स्वच्छं यद्वत् तथैव तौ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात् स्वच्छतां गतौ॥६१॥

जैसे अन्न से बना मन अन्न से ही बने स्थूल शरीर की अपेक्षा स्वच्छ है वैसे जीव-ईश्वर मायिक होते हुए भी बाकी सब से स्वच्छ हैं।

श्रुति कहती है कि जो हम अन्न खाते हैं उसके तीन हिस्से हो जाते हैं। जो अत्यन्त स्थूल भाग है, वह तो शौच में निकल जाता है। वह शरीर और मन के उपयोग में नहीं आता। दूसरा, उससे सूक्ष्म भाग, शरीर के मांस आदि बन जाता है। अन्न से ही मांस आदि बनते हैं। जो अन्न का अतिसूक्ष्म भाग है, उससे मन बन जाता है। मन भी अन्न से ही बनता है। आजकल लोग शंका करते हैं कि मन का अन्न से क्या सम्बन्ध। पर नशा करने पर स्वयं स्पष्ट होता है कि खाये का सीधा असर मन पर पड़ता है। मन के आचरण में परिवर्तन लाने वाली चीज़ खाई गई भाँग आदि ही है। यों अन्न से मन बनता है यह स्पष्ट हो जाता है। मन जब वृत्ति बनाता है तब स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि क्या वृत्ति बन रही है जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्ति बनते ही पता रहती हैं। और शरीर क्या वृत्ति बनाता है–कुछ नहीं दीखता! डाक्टरी परीक्षण या अन्य परीक्षण से उसे जानना होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनमें आई बात के लिये दूसरे से नहीं पूछना पड़ता, न कोई परीक्षण करना पड़ता है; सीधे ही पता चल जाता है। इसलिये अन्न से उत्पन्न होने वाला मन शरीर की अपेक्षा स्वच्छ है। उसी प्रकार से पहाड़-नदी आदि और जीव-ईश्वर ये दोनों ही मायिक हैं। ऐसा होने पर भी बाकी सब चीज़ों की अपेक्षा अंतःकरण स्वच्छ है। उसमें चेतन का भान स्पष्ट हो जाता है। ऐसे ही माया में ईश्वर स्पष्ट हो जाता है।

क्यों हम लोग ज़ोर देते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ,' जानो; सामने की विष्णु मूर्त्ति ब्रह्म है—यह क्यों न जानें? इसमें हेतु यही है कि जो मन की अहंकारात्मिका वृत्ति है, उसमें तो चेतन का प्रकाश स्पष्ट होगा, ऐसा प्रकाश पत्थर की मूर्त्ति में नहीं हो सकता। पत्थर की मूर्त्ति मन एकाग्र करने में तो मददगार हो सकती है, परन्तु परमात्मा के साक्षात्कार के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं हो सकती। चित्त एकाग्र करने के लिये वह उपयोगी है। एकाग्र चित्त में ही ज्ञान होता है। पर परमात्मा का साक्षात्कार 'अहम्' इस तरह ही होगा। इसलिये अहम् में तुम ब्रह्म का बिना समझे भी ध्यान करोगे, तो साक्षात्कार में मदद मिलेगी। विष्णुमूर्त्ति हमें देवता तो प्रतीत नहीं होती है, फिर भी उसको हम देवता मान लेते हैं। इसी प्रकार जिस अहम् को हम देख रहे हैं, वह सुखी-दुःखी कामी-क्रोधी-लोभी है। जैसे पत्थर दीख रहा है पर मान लेते हैं कि 'यह विष्णु है' ठीक इसी प्रकार अहम् हमें ब्रह्मरूप दीख नहीं रहा है, लेकिन इसको हम ब्रह्मरूप मान सकते हैं। यह ध्यान भी अत्यन्त उत्तम फल देने वाला है। मानने से, ध्यान से मोक्ष नहीं होगा। लेकिन जैसे तुम पत्थर की मूर्त्ति को विष्णु मानकर ध्यान करो तो फल होता है ऐसे अहं को ब्रह्म मानकर ध्यान करना भी सफल बताया गया है। मूर्ति में चेतना प्रतीत नहीं होती, अहंकार में होती है यह लाभ भी है। अगला, ध्यानदीप-प्रकरण इस बारे में और स्पष्टता देगा। लोक में तो कीट भ्रमर के चिंतन से भ्रमर बनता प्रसिद्ध है अतः वस्तुतः ब्रह्मरूप जीव अपने ब्रह्मभाव के चिन्तन से ब्रह्मरूप से भासे इसमें विरोध नहीं हो सकता। यदि 'मैं ब्रह्म हूँ'—इसका अनुभव न होने पर भी यह चिंतन करते रहते हो तो इस जन्म में भी दृढता आ जाये, अगले जन्म में दृढता आ जाये या मृत्युकाल में यही वृत्ति बन जाये तो कल्याण का मार्ग खुल जाये आदि विकल्प संभव हैं। ऐसा क्यों है कि मायिक होकर भी ये जीव-ईश्वर चेतन हैं? क्योंकि ये जो माया और अविद्या उपाधियाँ हैं, इनमें स्वच्छता है, और बाकी पत्थर इत्यादि में स्वच्छता नहीं है, इस कारण यह अन्तर है। स्वच्छता का मतलब यही है कि इन उपाधियों में ज्ञानरूपता प्रतिबिम्बित हो जाती है, प्रकट हो जाती है॥६१॥

मायिक होने से ये अनिर्वचनीय भी हैं—

चिद्रूपत्वं च सम्भाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात्।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि॥६२॥

(मायिक होने पर भी) उनकी (जीव-ईश्वर की) चेतनरूपता सम्भव है क्योंकि वे चेतनरूप से ही प्रतीयमान हैं। सब कल्पनाओं में सशक्त माया के लिये कुछ भी करना कठिन नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेतनरूप से जीव व ईश्वर की प्रतीति होती है इसलिये उन्हें चेतन स्वीकारा जाता है। माया के सभी कार्यों में यह नियम है कि जिस रूप से उनकी प्रतीति होती है, उस रूप से वस्तुओं को मानना पड़ता है। माया में असम्भवता का दोष नहीं आता। यदि असम्भवता का दोष देखो तो आकाश जो पोलरूप है उसमें से वायु आदि क्रम से भी ठोस पत्थर कैसे निकलेगा? अग्नि गर्मरूप है, उसमें से जल कैसे निकलेगा? इसलिये जो जिससे जैसा होता हुआ प्रतीत होता है, उसको वैसा ही मानना पड़ता है। अधिकतर चीज़ों को विचार पूर्वक देखो तो उनके अन्दर कारण-कार्यभाव समझना असम्भव ही लगता है। इसलिये मन चिद्रूप दीखता है इसलिये चेतन को स्पष्ट करके दिखलाने वाली स्वच्छता माननी पड़ती है। माया का लक्षण ही है कि सब चीज़ों को बनाने में समर्थ है। जैसे बाजीगर लड़की काट देता है, और पुनः जोड़ देता है! शरीर कटकर जुड़ जाये—यह असम्भव है। परन्तु बाजीगर दिखाता है, तो मानना पड़ता है। अगर कहो कि बाजीगर ने सचमुच में नहीं काटा, तो सचमुच में संसार भी पैदा ही नहीं हुआ, यह केवल प्रतीति है। माया कुछ भी करने में समर्थ है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा 'अघटित-घटना-पटीयसी माया' माया का काम ही है कि जो घट नहीं सकता उसको घटा हुआ दिखा देती है। इसलिये माया में जो चीज़ जैसी प्रतीत होती है, उसको वैसा ही स्वीकार करना पड़ता है।

सारी प्रक्रियाओं में कोई ऐसी नहीं है जिसमें सब चीज़ें ठीक बैठ जायें। इसलिये बुद्धिमान् को जो चीज़ जैसी होती है उसको वैसा स्वीकार करके, जो असली समस्या है उसके हल में लगना चाहिये कि परमात्मा का स्वरूप क्या है। निर्णय केवल इस बात का हो सकता है कि शिव कैसा है। माया द्वारा दिखाई चीज़ों में कोई तुक बैठती नहीं। जो घट नहीं सकता, उसे घटा हुआ दिखाने में माया चतुर है। इसलिये जड जो बुद्धि, अन्तःकरण उसको ऐसा चेतन करके दिखाया है कि संसार में रुपये में पौने सोलह आना लोग मन को ही चेतन मानते हैं। मन जड है और चेतन की तरह प्रतीत होता है यह बात अधिकतर आदमी नहीं समझते। तर्क करने में कुशल जो गौतम, और उनके अनुयायी भी यही मानते हैं कि आत्मा और मन के संयोग से ज्ञान पैदा होता है; आत्मा की ज्ञानरूपता वे भी नहीं समझ पाते। क्योंकि चेतनता का अनुभव बिना मन के कभी होता नहीं, जब भी चेतनता का अनुभव होता है तब मन अवश्य होता है, इसलिये सबको निश्चय है कि मन ही चेतन है। जड मन को चेतन करके दिखाना—यह माया के लिये सम्भव है। जड चेतन हो नहीं सकता पर माया ऐसा दिखला देती है॥६२॥

माया की अचिन्त्य सामर्थ्य में दृष्टान्त देते हैं—

अस्मन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत्।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते॥६३॥

हम लोगों की नींद भी स्वप्न में होने वाले चेतन जीव-ईश्वर उत्पन्न कर देती है तो महामाया इन्हें पैदा करती है इसमें तुम्हें क्या आश्चर्य है!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माया की तो ऐसी शक्ति है कि जीव और ईश्वर को भी बना दे पर माया को जाने दो, हमारी नींद भी यह कमाल कर दिखाती है : स्वप्न में दीखता है कि सौ आदमी कथा सुन रहे हैं। सौ जीव हैं, उनको किसने बनाया? हमारी जो निद्रा है, उसीमें सामर्थ्य है कि सौ आदमी दिखा दिये। स्वप्न में वर्णन करते हैं कि 'सारी सृष्टि को बनाने वाला परमेश्वर है। उसका साक्षात्कार करो।' सृष्टि स्थिति लय करने वाला परमेश्वर वहाँ जिसे कह रहे हैं वह जाग्रत् के सृष्टि आदि करने वाले को तो कह नहीं रहे हैं। स्वप्न में प्रतीयमान जो सृष्टि-स्थिति-लय उन्हीं को करने वाला ईश्वर कह रहे हैं। निद्रादोष से ही जब जीव और ईश्वर का निर्माण हो जाता है तो माया वैसे करे यह संभावित ही है। स्वप्न में होने वाले जीव और ईश्वर दोनों ही हमें चेतन प्रतीत होते हैं। यदि निद्रा ऐसी प्रतीति करा सकती है तो महामाया क्यों नहीं करा सकती! जिसने माया और अविद्या दोनों रूप धारण किये वह महामाया है। वह खुद ही मायारूप से ईश्वर की उपाधि भी बन जाती है, अविद्यारूप से जीव की उपाधि भी बन जाती है। चूंकि बनने वाली को माया कह दिया, इसलिये बनाने वाली को महामाया कहा जा रहा है। जब हमारे निद्रादोष में ही इतनी शक्ति है कि हम जीव और ईश्वर बना देते हैं तो जो महामाया है, जिसने माया और अविद्या को प्रकट किया, वह जीव और ईश्वर को बनाती है इसमें तुमको आश्चर्य क्यों हो रहा है?॥६३॥

ईश्वर की कल्पना कराने पर भी उसे मुग्ध, अविवेकी के रूप में नहीं बनाती वरन् सर्वज्ञ बनाती है यह कहते हैं–

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत्।
धर्मिणं कल्पयेद् याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने॥६४॥

ईश्वर में सर्वज्ञता आदि कल्पित कर दिखाती है। जो धर्मी (ईश्वर) की ही कल्पना करा देती है उसके लिये धर्म की कल्पना करना कौन-सा भारी काम है!

केवल ईश्वर की कल्पना कराती है ऐसा नहीं, वह ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सब जीवों के कर्मों का फल देता है आदि उसकी विशेषताएँ भी प्रतीत कराती है। पहले ईश्वर-रूप धर्मी की कल्पना, फिर ईश्वर में इन धर्मों की कल्पना करके दिखा देती है। इतना स्पष्ट दिखा देती है कि गुरु जब कहते हैं 'जीव और ईश्वर एक है' तब शिष्य कहता है कि 'मैं इतना अल्पज्ञ हूँ, सर्वज्ञ ईश्वर से एक कैसे हो सकता हूँ? मैं तो कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूँ'! माया ही परमेश्वर की कल्पना करा कर उस परमेश्वर में धर्मों की भी प्रतीति करा देती है। जैसे लौकिकों को कर्तृत्व में निष्ठा है वैसे उपासकों को 'ईश्वर उपास्य ही है' इसमें निष्ठा है। आवरण-स्वभाव वाली माया सर्वज्ञतारूप धर्म अर्थात् विशेषता कैसे कल्पित करती है? यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि जब धर्मी की ही कल्पना करा दी तो धर्मों की कल्पना क्यों नहीं करा सकती? एक तरफ उसी ने जीव बना दिया। वह कर्त्ता-भोक्ता अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् हो गया और सुख-दुःख भोग रहा है। दूसरी तरफ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ईश्वर की कल्पना हो गई जो जीवों को कर्मफल देता है। अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् जीव की तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कल्पना उसी ने करा दी है। इस तरह सब कुछ माया कर देती है॥६४॥

शंका होती है कि फिर क्या कूटस्थ ब्रह्म भी माया की कल्पना है? इसके समाधान में कहते हैं–

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्याद् इति चेन्माऽतिशङ्क्यताम्।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते॥६५॥

कूटस्थ के बारे में अतिदेश से मायिकता की शंका मन में उठे तो मत उठने देना क्योंकि कूटस्थ की मायिकता में कोई प्रमाण नहीं है।

योग्य स्थल की शंका यदि अयोग्य स्थल पर की जाये तो 'अतिशंका' कहलाती है। अतिशंका होगी कि कूटस्थ भी ऐसा ही मायिक है। करीब-करीब ऐसी बात बौद्ध लोग मानते ही हैं। वे कहते हैं कि नित्य आत्मा भी मायिक ही है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि अतिशंका न करो। अतिशंका का मतलब है प्रमाण-विरुद्ध शंका। 'आभासेन करोति' 'मायया संनिरुद्धः' आदि श्रुति एवं विविध स्मृतियाँ जीव-ईश्वर की मायिकता बताती हैं, महावाक्य के अखण्ड अर्थ की अन्यथा अनुपपत्ति से भी जीव-ईश्वरभावों की मायिकता निर्धारित होती है अतः इन्हें मायिक बताया किंतु कूटस्थ ब्रह्म की मायिकता में कोई प्रमाण नहीं बल्कि सत्य अधिष्ठान के बगैर माया ही संभव नहीं होगी इसलिये कूटस्थ की मायिकता की शंका ही उठाना व्यर्थ है, निराधार है॥६५॥

कूटस्थ की मायिकता में प्रमाण नहीं, उल्टा उसकी सत्यता में प्रमाण है भी यह कहते हैं–

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यद् न सहन्तेऽत्र किंचन॥६६॥

सकल वेदान्त कूटस्थ की वास्तविकता की घोषणा करते हैं तथा इसका विरोध करने वाली किसी अन्य वस्तु को सहन भी नहीं करते।

कूटस्थ की वास्तविकता प्रमाण से सिद्ध है। सारी ही उपनिषदें कूटस्थ की, ब्रह्म की वास्तविकता की घोषणा करती हैं। वे बताती हैं कि बस, यही एक वस्तु है, बाकी सब कल्पना है। सारी उपनिषदों में बार-बार इस बात का प्रतिपादन है। कूटस्थ से अन्य, भिन्न, यदि 'वस्तु' होगी तो 'सपत्नरूप' अद्वैत की शत्रुरूप होगी। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ है तो ब्रह्म की अद्वितीयता सिद्ध नहीं होगी। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्मात् द्वितीये सति वस्तुनि' दूसरी यदि कोई चीज़ होवे तो ब्रह्म जो सर्वव्यापक तत्त्व है, सिद्ध नहीं होगा। ब्रह्म से, कूटस्थ से भिन्न कुछ भी वस्तु होगी तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शत्रुरूप होगी, अद्वैत को ख़त्म करने वाली होगी। वेदान्तशास्त्र ब्रह्म के साथ कुछ भी रहे, इसको सहन नहीं करते। अर्थात् ब्रह्म की सद्वितीयता प्रमाणविरुद्ध है॥६६॥

श्रुतियों के बल से कूटस्थ की वस्तुरूपता सिद्ध की। कूटस्थ वास्तविक है या अवास्तविक है, इसके लिये कोई तर्क भी यहाँ क्यों नहीं बताया? यह समझाते हैं–

श्रुत्यर्थं विशदी कुर्मो न तर्काद् वच्मि किंचन।
तेन तार्किकशङ्कानाम् अत्र कोऽवसरो वद।। ६७।।

वेदार्थ स्पष्ट कर रहे हैं, तर्क से कुछ सिद्ध नहीं कर रहे। इसलिये इस बारे में तार्किकों की शंकओं को मौका ही कौन-सा है? बताओ। ('वच्मि' की जगह 'वस्तु' ऐसा मोडक को इष्ट पाठ है।)

वेदान्त-आचार्य मुख्यरूप से वेद के अर्थ का ही विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं, वही उनके विचार का उद्देश्य है। तार्किक मानते हैं कि बिना शास्त्र पर निर्भर हुए तर्क से तथ्य निर्धारित हो। किन्तु यह असंगत आशा है क्योंकि तथ्य प्रमाण पर निर्भर है और तर्क प्रमाण है नहीं। पाश्चात्य चिन्तन ग्रंथ-आधारित विचार को थिओलॉजी तथा बिना ग्रंथ पर निर्भर किये तर्क से होने वाले विचार को फिलॉसफी कहते हैं। बाइबल के आधार पर एक धारा चली, उसे छोड़कर दूसरी चली। इस दृष्टि से वे हमारे शस्त्रीय विचार को फिलॉसफी नहीं स्वीकारते क्योंकि हम तथ्य को शास्त्रसिद्ध अंगीकार कर शास्त्रानुसारी ही तर्क को मान्यता देते हैं। वैसे, तर्क-प्रयोक्ता भी किसी आधारभूत मान्यता को बिना तर्क के स्वीकारे, तभी आगे तर्क चल सकता है। हेगेल ने वाद-प्रतिवाद-संवाद (थीसिस, एण्टीथीसिस, सिन्थिसिस) के त्रिक को सिद्धवत् माना जिस पर तर्कजाल स्थापित किया। इस त्रिक में क्या तर्क?– यह वह भी नहीं बताता। प्रायः वादी किसी मूल पर निर्भर तो करते हैं पर उसे छिपाते हैं। सॉक्रेटीज़ (सुकरात) के संवादों में हेगेल के त्रिक का मूल मिलता है पर हेगेल यह घोषणा नहीं करता। मार्क्स मानता है कि अत्याचार बुरा है क्योंकि बाइबल ऐसा बताती है। किसी तर्क से तो वह अत्याचार को बुरा सिद्ध नहीं करता पर यह भी नहीं कहता कि बाइबल के प्रामाण्य से वह उसे बुरा मानता है। यों पाश्चात्य तार्किक ईमानदारी का परिचय नहीं देते। भारतीय दार्शनिक स्पष्ट बताते हैं कि शास्त्र से उन्हें क्या उपलब्ध हुआ और फिर उसपर निर्भर कर तर्क का विस्तार करते हैं। इसलिये चाहे जितनी युक्तियों से समझा रहे हैं फिर भी आचार्य ने कहा कि श्रुत्यर्थ का ही विस्तार कर रहे हैं। 'श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मः' श्रुति के अर्थ का ही हम विस्तार करते हैं, स्पष्टीकरण करते हैं।

तर्क से हम किसी चीज़ को स्थापित नहीं करते। तर्क का प्रयोग हम शास्त्र की बात समझने के लिये तो करते हैं, लेकिन शास्त्र की बात को हम बिना सामने रखे, तर्क का जाल नहीं बनाते। जहाँ तर्क दिया जा सकता है, वहाँ देते हैं, अन्यथा नहीं। हर चीज़ को तर्क से ही सिद्ध करना है–ऐसा हमारा आग्रह नहीं है। जैसे सामने घड़ा है; कोई कहे, 'तर्क से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्ध करो; आँख से देखने से क्यों मानते हो? घड़े में युक्ति क्या है?' तो बेकार बात है। जो आँख से दीख गया उसके लिये कोई युक्ति देने की ज़रूरत नहीं है। उसी प्रकार से वेद से कूटस्थ की वास्तविकता स्पष्ट हो रही है, उसके लिये व्यर्थ तर्क हम नहीं ढूँढते। जैसे घड़ा आँख से ही दीखेगा वैसे ही कूटस्थ श्रुति प्रमाण से ही ज्ञात होगा, अन्य प्रमाण से नहीं। सुरेश्वराचार्य कहते हैं (बृ.१.४.१५२१) कि जो ब्रह्म के विषय में तर्क माँगते हैं वे तो नाक की नोक से सूर्य भी देखते होंगे! 'नूनं ते नासिकाग्रेण वीक्षन्ते सूर्यमण्डलम्'। आँख से सूर्यमंडल दीख रहा है। कोई कहे कि 'आँख को हम प्रमाण नहीं मानते, हमें नाक से सूर्य दिखलाओ' तो कैसे दिखाया जाये? नाक से कुछ दीख ही नहीं सकता। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान श्रुति से ही हो सकता है, यह तर्क से हो ही नहीं सकता। सिवाय श्रुति प्रमाण के और कोई उसका ज्ञान करा नहीं सकता। इसलिये ब्रह्म के बारे में तार्किकों की शंकाओं के लिये स्थान ही नहीं है। तार्किक वे जो श्रुति को न मानकर तर्क से हर चीज़ सिद्ध करना चाहते हैं। 'चाहते हैं' यह याद रखना। तार्किकों की भी मान्यतायें हैं, उनके आधार पर वे तर्क भी करते हैं। वे मान्यताएँ तर्क से सिद्ध नहीं होतीं, वैसे ही हम श्रुति से ब्रह्म को वास्तविक मानते हैं। ब्रह्म की वास्तविकता किसी दूसरी तरह सिद्ध होती नहीं॥६७॥

क्योंकि यह तर्क से परे का क्षेत्र है इसलिये आचार्य निर्देश देते हैं—

तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत्।
श्रुतौ तु मायाजीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम्॥६८॥

इसलिये कुतर्क छोड़कर मुमुक्षु को चाहिये कि श्रुति का सहारा ले। श्रुति में तो 'माया जीव-ईश्वर बनाती है' यह दिखाया है।

'तस्मात्' अर्थात् श्रुति को छोड़ करके किसी और प्रकार से कूटस्थ की वास्तविकता नहीं बताई जा सकती इसलिये जो मुमुक्षु है उसको कुतर्क छोड़ देना चाहिये। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्', तर्क तो करो पर कुतर्क न करो। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा, 'दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्' कि श्रुति ने जो बात कही है, उसको सिद्ध करने के लिये तर्क का उपयोग करो, पर श्रुति की बात को काटने के लिये तर्क का उपयोग करना कुतर्क है। इसी को 'दुस्तर्क' कहा। तर्क दुधारी तलवार है। इससे तुम किसी भी बात को काट सकते हो। एक बड़े वकील थे—रासविहारी बोस। शराब पीते थे। उनके साथ चार-पाँच छोटे वकील रहते थे जो यदि नशे में ग़लत बात निकल जाये तो उनको बतला देते थे। किसी के मुकदमे में वे विरोधी बात ही सिद्ध करने लग गये! उनके छोटे वकीलों ने इशारा भी किया पर वे बोलते गये। अन्त में जब छोटे वकीलों ने ज़ोर देकर उन्हें चेताया कि वे प्रतिपक्षी का उपपादन कर रहे हैं तो उन्होंने अदालत से कहा 'विरोधी वकील केवल यहीं तक अपनी बात प्रमाणित करने की चेष्टा करेगा। इसलिये हमने कोर्ट का समय बचाने के लिये पहले ही उसका पक्ष रख दिया। अब हम इसका जवाब भी देते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं।' फिर उसका खण्डन करने लग गये। अतः तर्क ऐसा है जिससे बात सिद्ध भी कर सकते हैं, असिद्ध भी कर सकते हैं इसलिये भगवान् वेदव्यास ने लिखा है, 'तर्काप्रतिष्ठानात्' तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है, किसी निर्णय पर पहुँचने में तर्क समर्थ नहीं है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि यदि संसार के सारे तार्किकों को एक कमरे में बंद कर दो, और कहो 'तुम लोग एक निर्णय पर आओ कि क्या मानते हो,' तो भी वे कभी एक निर्णय पर नहीं आयेंगे। एक तार्किक एक बात सिद्ध करेगा तो दूसरा उसको काट देगा, यही क्रम चलता रहता है। इसलिये मुमुक्षु कुतर्क छोड़े। श्रुतिविरुद्ध नहीं, श्रुति को समझने के लिये तर्क करे। जो मोक्ष चाहता है, उसके लिये निश्चय ज़रूरी है। निश्चय ज्ञान से ही मोक्ष होगा। जो मोक्ष नहीं चाहता, अपना पांडित्य ही सिद्ध करना चाहता है, वह श्रुति का आश्रय नहीं करेगा। जो मोक्ष का इच्छुक है, वह यथार्थ ज्ञान में स्थित होना चाहता है। जो पाण्डित्य का प्रदर्शन करना चाहता है, वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहता केवल अपने अहंकार की पुष्टि करना चाहता है। इसलिये सारे कुतर्क मोक्ष की इच्छा वाले के काम के नहीं हैं। मुमुक्षु तो श्रुति का ही अवलम्बन लेवे। श्रुति में यह स्पष्ट कह दिया है कि आभास से माया जीव और ईश्वर को बना देती है। अतः यही स्वीकारकर कूटस्थबोध का प्रयास कर्त्तव्य है॥६८॥

अब जीव और ईश्वर के कार्यक्षेत्र के बारे में बतलाते हैं–

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत्।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः॥६९॥

ईक्षण से शुरू कर प्रवेश तक सृष्टि ईश्वर द्वारा की जाती है। जाग्रत् से शुरूकर मोक्षपर्यन्त संसार जीवद्वारा किया जाता है। (यह श्लो. ६.२१३ और ७.४ में भी आ चुका है।)

ईश्वर पहले तो ईक्षण करता है। 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' ऐसा विचार करता है। फिर सत्यसंकल्प होने से वह बहुत हो जाता है। पंचमहाभूत के रूप में बन जाता है। महाभूतों के स्वच्छभाग से मन और ज्ञानेन्द्रियों को बना देता है। उनके रजोगुण वाले हिस्से से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ बना देता है। तमोगुण वाले हिस्से से पंचीकरण करके सब संसार बना देता है। फिर वह विचार करता है कि 'मेरे बिना यह चल भी नहीं सकता! क्योंकि मेरा संकल्प था कि मैं एक चेतन हूँ, बहुत चेतन हो जाऊँ इसलिये मुझे ही बहुत होना पड़ेगा'। अतः निर्णय करता है कि 'उपाधियों के बाद मैं इनमें जीवरूप से प्रवेश कर लूँ।' अतः उसने जीवरूप से प्रवेश कर लिया। स्वयं ही जीवरूप से प्रविष्ट हो गया, क्योंकि और कोई चेतन था नहीं।

जब जीवरूप से वह बाह्य जगत् को देखता है तब जाग्रत् अवस्था है। जब संस्कारों से चीज़ों को देखता है तब स्वप्न होता है, उसे जीव ही देखता है। जाग्रत्-स्वप्न से थक जाता है तो गहरी नींद में चला जाता है। वहाँ केवल अज्ञानमात्र है। इस प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये सब जीव की कल्पना हैं, जीव ही इन सबको देखता है और इन सब का विचार करके अन्त में मोक्ष भी वही पाता है। 'मैं बद्ध हूँ' की तरह 'मैं मुक्त हूँ', यह भी जीव की ही कल्पना है, यह ईश्वर की नहीं है। वह न बद्ध है, न मुक्त है। इसी दृष्टि से ईश्वर को सर्वथा स्वतंत्र कहा जाता है। हम लोग परतंत्र हैं, बद्ध हैं। इस बन्धन से छूटने पर मुक्त होंगे। ईश्वर हमेशा स्वतंत्र है। इस प्रकार जीव के द्वारा किया हुआ संसार मोक्षपर्यन्त है।

यहाँ मोक्ष के स्थान पर विमोक्ष यह स्पष्ट करने के लिये कहा है कि पुराण आदि ग्रंथों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि को भी मुक्ति कह दिया है। जो अज्ञान से मुक्ति है वह विमोक्ष है। यह मुक्ति ऐसी है जिसमें मिलता कुछ नहीं है, केवल जो कचरा इकट्ठा किया है वह हट जाता है, तुम जैसे हो वैसे ही रह जाते हो। इसलिये इस मोक्ष के लिये प्रवृत्ति करने को अत्यंत कठिन माना है क्योंकि जीव को लगता है कि प्रयास के फलस्वरूप कुछ मिलना चाहिये। और विमोक्ष है, जिसमें कुछ नहीं मिलेगा। इस प्रकार ईश्वर और जीव द्वारा बनाये कार्यों का संग्रह किया॥६९॥

उचित संस्कार के आधान से निश्चयप्रद विचार सम्भव होने से सही चिन्तन का विधान करते हैं–

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम्।। ७०।।

कूटस्थ सदा असंग ही है। इसमें कभी कोई अतिशय नहीं होता। अतः मन में ऐसा ही विचार किया जाये।

ईक्षण से लेकर के प्रवेश पर्यन्त, स्थिति, विनाश, नियमन, इन सब कार्यों को जब ईश्वर कर रहा है तब भी कूटस्थ वैसा ही असंग है। उसके कार्यों को प्रकाशित करते हुए उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। वह असंग ही रहता है क्योंकि कूटस्थ तो ज्ञानमात्र है। संग होता है राग आदि के द्वारा जो कूटस्थ में है नहीं। इसी प्रकार से जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीव जो कुछ कर रहा है, उस सब को वह कूटस्थ ब्रह्म केवल प्रकाशित, भासित कर रहा है, उससे भी उसके अंदर कोई अंतर आता नहीं। सब स्थितियों में कूटस्थ तो असंग ही रहता है। सभी स्थितियों में कूटस्थ ब्रह्म तो एक-जैसा है। न बन्धन में, न मोक्ष काल में उसमें कोई परिवर्तन है। जिस प्रकार से रस्सी में साँप दीखता है तब भी, जब नहीं दीख रहा है तब भी रस्सी में कोई परिवर्तन नहीं है, इसी प्रकार से ब्रह्म में जब सृष्टि स्थिति लय की प्रतीति होती है एवं अन्य सब प्रतीतिकालों में वह तो एक जैसा ही रहता है। इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, बंधन, मोक्ष इन सब के अन्दर भी वह निर्विकार ही रहता है। सभी परिवर्तनों में कूटस्थ एक जैसा ही है। उसमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता। कोई परिवर्तन या विशेषता उसमें नहीं आती। यह बात जब शास्त्र और युक्ति से निश्चय कर ली तब बार-बार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन के अन्दर वृत्ति बनाकर कूटस्थ की असंगता को मन में बैठाना है। केवल बुद्धि की प्रतीति ही बन्धन है कि 'मैं बद्ध हूँ।' इसी प्रकार 'मैं मुक्त हूँ' यह भी प्रतीति है, यही मुक्ति है। यदि बन्धन वास्तविक होता तो किसी अन्य उपाय से हट जाता। यह क्योंकि मायिक है, इसलिये इसको हटाने के लिये माया के कार्य, अन्तःकरण में ही बार-बार विचार करना पड़ेगा। क्योंकि 'बद्ध हूँ', यह अनुभव अंन्तःकरण को लेकर ही है, अतः अन्तःकरण को लेकर ही मोक्ष का अनुभव होगा। यह निश्चय पहले कर लेना चाहिये। यदि मन में संशय रहेगा तो बार-बार सोचने पर भी निष्ठा नहीं होगी। अतः पहले तो बुद्धि से निश्चय कर लेना पड़ता है कि श्रुति और युक्ति से यही बन सकता है। जैसे ग़लत वर्णन्यास, हिज्जे का अभ्यास हो जाये तो यद्यपि सही न्यास पता एक ही बार सुनने पर चल जाता है तथापि सैकड़ों बार लिखकर अभ्यास सुधारना पड़ता है, इसी प्रकार श्रुति, युक्ति, पर विचार करके निश्चय तो हो जाता है कि ऐसा ही है, पर मन में दीर्घकालीन संस्कार हैं कि 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, दुःखी-सुखी हूँ', व्यवहार में फिर ग़लती होती है कि 'मैं दुःखी हूँ, कर्त्ता हूँ'। दीर्घकाल में जब कूटस्थ के संस्कार स्थिर हो जाते हैं तो फिर यह ग़लती नहीं होती। जब तक शरीर है तब तक शरीर-मन चिदाभास से चलते रहते हैं परन्तु 'चिदाभास मैं हूँ' यह भ्रम सर्वथा मिट जायेगा। अज्ञान के कारण मैं की प्रतीति हो रही है पर मैं तो अकर्त्ता हूँ यह भान बना रहेगा॥७०॥

प्रश्न उठता है कि बन्ध-मोक्ष वास्तविक क्यों न मानें जायें? वास्तव बंध का निवर्तक होगा तो साधन भी सार्थक प्रतीत होगा। किंतु उत्तर है कि बंध सत्य होता तो नित्य मोक्ष असंभव है जब कि शास्त्र मोक्ष को नित्य बताता है। किं च ज्ञानमात्र से बन्धनिवृत्ति बताकर भी बंध को शास्त्र ने ही मिथ्या बता दिया है। साधना का प्रयास तो गोरखधन्धा सुलझाने जैसा है। जैसे गोरखधन्धे को खोलकर उसका समाधान करके कुछ होना नहीं है पर एक बार उलझ जाये तो सुलझाना ही पड़ता है। एक राजा के यहाँ कोई आदमी काम करता था। राजा ने प्रसन्न होकर कहा 'आज तुम राजकोष से जो भी अच्छी चीज़ लगे, ले लेना।' कोष के अध्यक्ष को राजा ने उस व्यक्ति को कुछ भी ले लेने के लिये कह दिया। पर कोषाध्यक्ष चतुर था, सोचा कि दिनभर में तो न जाने कितना बटोर ले जायेगा! वह व्यक्ति खजाने में गया तो प्रारम्भ में ही एक गोरखधंधा पड़ा था। उसने उसको परखा, सुलझाने का प्रयत्न किया। पर समय लगाने पर भी वह नहीं सुलझा तो आगे जाने लगा। अब कोषाध्यक्ष ने कहा 'शुरू में तुमने जिस गोरखधन्धे को उलझाया है, उसे पहले ठीक करना पड़ेगा, कोई चीज़ खराब करके नहीं जा सकते।' वह सुलझा नहीं सका और जाने का समय हो गया। ठीक यही हाल जीव का है। इसने अविद्या को छेड़ दिया है। अतः अविद्या से बन्धन अनुभव हो रहा है। मोक्ष इसको खोलना है। आनंदघन परमेश्वर विद्यमान है पर यह गोरखधंधा मिटे तब उसका भान हो। इसके अलावा साधना से कोई फायदा नहीं है। यह बात कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥७१॥

'नाश, उत्पत्ति, बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त—ये हैं ही नहीं, यह परमार्थता है।' (यह वैतथ्यप्रकरण की कारिका ३२ है)।

'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ'—यह अविद्या को जो छेड़ना हुआ, वहाँ से लेकर 'मैं वद्ध हूँ' यहाँ तक सब गोरखधन्धा ही छिड़ा हुआ है। वस्तुतः उत्पत्ति हुई ही नहीं, सच्ची उत्पत्ति नहीं है। अविद्या को छेड़ दिया तो तुमको उत्पत्ति दीख रही है। जब उत्पत्ति नहीं तो निरोध, नाश भी नहीं है, समापन भी नहीं है। जैसे रस्सी का साँप पैदा ही नहीं हुआ है तो रस्सी का साँप मरता भी नहीं है। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि प्रपंच यदि होता तो हट भी जाता। परन्तु रस्सी में साँप पैदा हुआ नहीं तो उसको मारें कैसे? द्वितीयता की प्रतीति केवल माया से ही है। अविद्या के बिना वह अद्वितीय तत्त्व वैसा का वैसा ही है। उत्पत्ति-नाश करने वाला ही परमेश्वर है। यदि उत्पत्ति-नाश नहीं है तो उन्हें करने वाला परमेश्वर भी नहीं है। इसी प्रकार से जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में जाने वाला कभी बन्धन में नहीं आया। जिस प्रकार से काँच पर धब्बे पड़े हैं, उसमें देखने पर चेहरे पर दाग दिखाई देते हैं। धब्बों वाले काँच से मुख धब्बे वाला ही दीखेगा, चाहे हो जितना भी साफ। साफ काँच में ही वह साफ दीख सकता है। इसी प्रकार अन्तःकरण में दोष भरे हैं, उनमें अपना रूप जीव को दोषी ही दीख सकता है। कर्म-उपासना से भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व के दाग तो मिटते नहीं। योगाभ्यास में कुछ काल तक दाग न दीखने पर भी व्यवहार में पुनः दाग दीख जाते हैं। अतः विचार से बोध की वृत्ति द्वारा अन्तःकरण से स्वतन्त्र अपना स्वरूप समझने से ही निर्दोषता स्थिर होती है। इससे पता लगता है कि मैं कभी बद्ध हुआ ही नहीं था! इसलिये 'न च साधकः'। जो मैंने साधना की वह सारी अन्तःकरण की वृत्तियों को लेकर थी, वह भी *मेरी* साधना नहीं थी। इसी प्रकार से बन्धन से छूटने की इच्छा भी मेरे अन्दर नहीं थी, अन्तःकरण की ही थी। मैं तो हमेशा ही बन्धनमुक्त हूँ, छूटा हुआ हूँ। वास्तविकता यही है॥७१॥

समस्या आती है कि यह सत्य स्थिति जीव को समझायी कैसे जाये। जीव को तो निरन्तर ही यह अनुभव हो रहा है 'मैं सुखी, मैं दुःखी।' सिर पर ईंट गिरी, सिर फूटा। मुझसे बाहर कोई ईंट है, जो गिरती है। ईंट का गिरना तो मेरे सिर फूटने से पहले था। कुछ है, जिसके कारण हमें दुःख-सुख होते हैं। कुछ है जिसकी प्राप्ति के लिए मैं कर्म करता हूँ। यह सार्वजनिक अनुभूति है। यदि उसको केवल यह कहते हैं कि 'ईंट गिरी नहीं। सिर फूटा नहीं।' तो कहेगा कि 'मुझे पागल बनाते हो!' अतः जो जानकार है, वह समझाने के लिए तरीका बनाता है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा।
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत्।।७२।।

सदा वाणी और मन से परे उस तत्त्व को समझाने के लिए श्रुति जीव, ईश्वर और जगत् का सहारा लेकर समझाती है।

जो पारमार्थिक कूटस्थ है उसे वाणी और मन के द्वारा समझ नहीं सकते। मन को तो वह प्रकाशित करता है, मन उसको प्रकाशित कैसे करे? सीधे उसको नहीं समझ सकता। मन में आया हुआ दोष ही मन मिटायेगा। आगे, परमात्मतत्त्व तो स्वप्रकाश है। उसके प्रकाश के लिए मन की ज़रूरत नहीं है और वाणी से उसको जान नहीं सकते। उसको वाणी से नहीं जान सकते यह अनेक मध्यकालीन लोगों ने भी कहा है। वे कहते हैं 'ये सब शास्त्र पढ़कर क्या होगा, परमात्मा थोड़े ही मिल जायेगा!' चाहे जितनी मन की साधना कर लो, उसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। कई समीकरण ऐसे होते हैं जिनका हल नहीं दीखता। पर उसमें यदि तुम कोई संख्या जोड़ दो तो वह समीकरण व्यवस्थित हो जाता है, हल निकल आता है। जब हल निकल आये तो जोड़ी हुई संख्या घटा देते हो ताकि सही उत्तर पता चले। हटाना ही है तो जोड़ना ही क्यों? इसलिए कि बिना जोड़े समाधान नहीं निकलता। इसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्म के अन्दर बन्धन, मुक्ति आदि कोई व्यवस्था नहीं है, जब कि इनकी प्रतीति हो रही है, तो इसका समाधान कैसे होवे? नहीं है—यह तो शास्त्र और ऋषियों का अनुभव है। और, हो रही है—यह हमारा अनुभव है। इस विरोध का परिहार कैसे किया जाये?

आचार्य शंकर कहते हैं कि वेद हज़ारों माता-पिताओं की अपेक्षा हमसे ज़्यादा प्रेम करता है। माता-पिता भी हों पर रोज़ सुबह उनको गालियाँ दो, खाने को कुछ न दो, तो कितने समय तक वे वत्सलता करते रहेंगे? पर सृष्टि के आदिकाल से हम कह रहे हैं 'परमेश्वर नहीं है, है भी तो निर्दय है।' इस प्रकार रात-दिन हम परमेश्वर में गलतियाँ निकालते हैं। रोज़ सूर्य हमें प्रकाश देता है, अनेक रोग दूर करता है। उसे अर्घ्य तक नहीं देते। बिजली का बिल भरना कभी नहीं भूलते क्योंकि बिजली कट जायेगी। पर अर्घ्य न दो तो भी सूर्य कुछ नहीं करेगा। इतने पर भी सूर्य तुमको गर्मी, रोशनी देता है एवं कीटाणुओं को नष्ट करता है। इस तरह परमेश्वर हमारे लिए हज़ारों माता-पिताओं से अधिक वत्सल है। वही वेद के द्वारा हमें वास्तविकता का ज्ञान कराता है। हमारे अध्यात्म अनुभवों की व्यवस्था बनाने के लिए श्रुति जीव का सहारा लेती है कि जीव कोई है जो कर्त्ता-भोक्ता है। इसी प्रकार अधिभूत अनुभव जगत् के सहारे समझाती है कि जगत् कुछ है जो दीख रहा है, व्यवहार का विषय बन रहा है। जैसे प्रत्यग्वस्तु समझाने के लिए जीव का सहारा शास्त्र लेता है वैसे अनन्त व्यापक तत्त्व समझाने के लिए ईश्वर का सहारा लेता है। ईश्वर में शब्द-मन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की गति है, उसके सहारे मन-वाणी से अतीत परमार्थ को लक्षित किया जा सकता है। यद्यपि यह सारा भेद है नहीं तथापि श्रुति ने इसे माना ताकि हमें वास्तविकता समझाई जा सके। वाह्य प्रपंच द्वैतापादक इसलिए नहीं कि एक परमेश्वर का विवर्त है और जीवभेद द्वैतापादक इसलिए नहीं कि परमेश्वर ही जीवरूप में प्रविष्ट है। यों जीवादि के सहारे श्रुति समझा अज्ञात शिवको ही रही है यह भाव है॥७२॥

वास्तविकता समझाने में तत्पर होने से श्रुति ने तत्त्व के बारे में एकरूप वर्णन रखा, समझाने के ढंग विभिन्न अपनाये ताकि जिसे जो अनुकूल पड़े उससे वह समझ ले–

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम्॥७३॥

साधकों को जिस-जिस प्रक्रिया (तरीके) से प्रत्यगात्मा के बारे में स्पष्ट समझ आ जाये वही अद्वैतशास्त्र में सही प्रक्रिया मान्य है–ऐसा भी सुरेश्वराचार्य का (बृ.वा.१.४.४०२) कथन है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इसलिए कहा है कि जिस तरीके से साधक समझ सके कि प्रत्यगात्मा का स्वरूप क्या है, वही तरीका ठीक है। अंदर बैठ कर सारी चीज़ों का प्रकाश करने वाले का वास्तविक रूप क्या है–यह बात जिस तरह समझ में आ जाये, उसी प्रक्रिया का आलम्बन श्रुति करती है। 'पुंसाम्' अर्थात् साधकों को ही व्युत्पत्ति अर्थात् समझ आ सकती है। साधकों में संस्कार विभिन्न प्रकार के हैं अतः विभिन्न ही प्रक्रियायें आवश्यक हैं, एक ही ढंग से समझाना जरूरी भी नहीं, समझना संभव भी नहीं। आचार्य ने ही (वहीं श्लो.४०१) स्पष्ट किया है 'प्रक्रियानियमो नापि पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः' कि वेदान्त में प्रधानता आत्मवोध की है, प्रक्रिया का कोई नियम नहीं कि अमुक ही मानें। जैसे त्रिकोण के तीनों कोणों का जोड़ १८०° होता है– इस निर्णय पर अलग-अलग ढंगों से पहुँच सकते हैं। सभी तरीके ठीक हैं, अच्छे-बुरे का कोई भेद नहीं। इसी प्रकार से कूटस्थ ब्रह्म निर्विकार, अविद्या और उसके कार्यों से असंस्पृष्ट है–जिस ढंग से यह उत्तर आ जाये, बस वही प्रक्रिया ठीक है। वेदान्त शास्त्रों में प्रक्रिया का ठीक होना फल पर निर्भर है, तार्किकता पर नहीं। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट कहा है।

जो वाणी-मन का विषय नहीं है उसे वाणी-मन से समझाना है। क्या, और किसे समझाना है–यह सामने रखना है। साधक की समझ में सही बात आ जावे, बस यही प्रक्रिया है। इसलिए अलग-अलग तरह से श्रुतियों में समझाया गया है। कहीं तीन शरीर, कहीं तीन अवस्थाएँ, कहीं पंचकोष लेकर बतला दिया। सभी दशाओं में उत्तर एक ही आता है। साधक को बोध होवे बस इसीलिए यहाँ प्रक्रिया है। इसलिए वेदान्त शास्त्र में गुरु का इतना महत्त्व होता है। वही तुम्हारे संस्कारों को देख कर बताता है कि कौन-सी प्रक्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुम्हारे लायक है। साधक स्वयं शास्त्र पढता है तो जो प्रक्रिया सामने आयी उससे उसके सन्देह नहीं हटे तो समझता है कि यह उत्तर ही ग़लत है। जब स्वतंत्र रूप से शास्त्रों का अर्थ लगायेगा तब यह कठिनाई होगी ही। गुरु वह है जिसको उत्तर का पता है। वह तो विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा तुम्हारे संदेह दूर कर सकता है। अन्यथा संभव नहीं। इसलिए प्रक्रिया-भेद उपयोगी भी है॥७३॥

प्रतिपादनरीति के वैविध्य से भ्रम भी हो जाता है यह सावधान करते हैं–

श्रुतितात्पर्यमखिलम् अबुध्वा भ्राम्यते जडः।
विवेकी त्वखिलं बुध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ॥७४॥

वेद का समग्र तात्पर्य बिना समझे अविचारवान् भ्रम में पड़ा रहता है, विवेकी तो सब समझकर आनन्द-समुद्र में रहता है।

श्रुति का तात्पर्य वह है जो वह कहना चाहती है। सामान्यतः संसार में देखा जाता है कि एक समस्या का हल एक प्रकार से निकलता है। इसलिए सभी सोचते हैं कि वेदान्त में भी एक प्रक्रिया होवे। अनेक प्रक्रियायें देखते हैं तो संदेह होता है कि ऐसा क्यों। इसके समाधान के लिए अधिकारिभेद को याद रखना पड़ता है। समझने वाले के योग्य उपदेश चाहिए अतः तरीके बदले जाते हैं। समझाने वाला भी अपनी सोच से जो बेहतर तरीका मानता है उसका सहारा लेता है। उत्तर निश्चित होने से सभी आश्वस्त रहते हैं कि तरीका सही है। श्रुति का अखिल अर्थात् जिसमें कुछ छूटे नहीं ऐसा तात्पर्य तो महावाक्य के अर्थ अखण्ड में है। किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए मध्यवर्ती भी अभिप्राय हैं जिन्हें 'खिल' तात्पर्य कह सकते है। खिल अर्थात् शेष; कर्म-उपासना ये शेष हैं, इनमें भी वेदतात्पर्य है। अखिल अर्थात् जो शेष नहीं शेषी है, उसमें तात्पर्य है ही। शास्त्रीय पूजा-पाठ आदि कर्मों के अंगों के भी फल कहे जाते हैं किंतु सम्पूर्ण कर्म किये बिना अंग निष्फल होते हैं। षोडशोपचार पूजा के अन्तर्गत चन्दन चढ़ाने का अमुक फल कहा तो ऐसा नहीं कि आगे विशेषार्घ्य पर्यन्त पूजा न करने पर भी चन्दन चढ़ाने का फल मिल जाये! सम्पूर्ण कर्म कर लेने पर भले ही अंग-कर्मों के फल भी मिलें, केवल अंगसम्पादन निष्फल रहता है। सभी हिस्सों के अनुष्ठान में प्रेरणा के लिए सभी के फल बताये हैं पर मिलेंगे समूची पूजा करने पर। इसी प्रकार मोक्ष के लिए ज्ञान बताया जो संपूर्ण साधना का फल है, वही नित्यानन्द की प्राप्ति है। उससे पूर्व कर्म-उपासना का भी विधान किया जो है सफल लेकिन सम्पूर्ण साधना होने पर। अतः 'कर्म ही करना चाहिए', 'भक्ति ही करनी चाहिए'–ये ही समग्र फल दे देंगे ऐसा समझना जडबुद्धि है। ये अनिवार्य हैं, उपयोगी हैं, सार्थक हैं किन्तु साधना पूर्ण होने पर ही वास्तव में फल मिलता है। ऐसी जडमति वाले भ्रम में पड़ते हैं कि अंग ही पर्याप्त है!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवेकी अखिल को समझने से यथोचित सभी का सम्पादन कर परम फल पा लेता है। नित्यानन्दलाभ के लिए ही वेद का उपदेश है, ऐहिक-आमुष्मिक भोग तो गुडजिह्विकामात्र हैं, मुख्य साधना के लिए प्रलोभनमात्र हैं। मिलते अवश्य हैं पर उनमें वेद का तात्पर्य नहीं है। वास्तविक शिव ही प्रतिपाद्य है, मायिक जगत् बताना वेद का कार्य नहीं। माया व मायिक कल्पित होने से तत्त्वज्ञान से बाधित होते हैं, केवल अधिष्ठान रहता है। कारण में लय नाश प्रसिद्ध है किंतु मिथ्या का बाध होने पर कारण समेत निवृत्ति होती है अतः सिर्फ अधिष्ठान बचता है। अधिष्ठान सच्चिदानन्दस्वरूप है, सत्ता आदि भी उसमें धर्मविधया नहीं रहते। इस परमार्थ सत्य को साधक के हृदय में बैठाने के सभी तरीके प्रक्रियायें हैं। डाक्टरी में एक सिद्धान्त है कि 'जो लग जाये वह दवाई!' बहुधा परीक्षणादि से रोग एवम् उपचार का निर्णय न हो पाने पर भी यदि कोई दवा रोग मिटा दे तो समझ लेते हैं कि वही उपचार था, तदनुरूप रोग था। अतिसक्षम दवा निष्फल चली जाती है, साधारण चूर्ण से रोग ठीक हो जाता है! कदाचित् तो कुपथ्य भी औषध का काम कर देता है! किंतु हमेशा ऐसा नहीं होता। संसार भी एक दीर्घ रोग है। संसार तीनों कालों में है नहीं—यह निश्चय इस रोग की निवृत्ति है। यह जैसे हो जाये वही प्रक्रिया है। विभिन्न तरहों से यह निश्चय विभिन्न अधिकारियों को होता है। एक को जिस प्रकार निश्चय होता है, दूसरों को वैसे ही हो जाये यह नियम नहीं है, सम्भावना अवश्य है। अतः प्रक्रियाएँ अनेक रची गयी हैं, वे दिशानिर्देश करती हैं, अन्य भी प्रक्रियाएँ रची जा ही सकती हैं। नासमझ प्रक्रिया में दोष देखकर सिद्धान्त को सदोष मानने के भ्रम में पड़ जाता है। विवेकी समझ लेता है कि सिद्धान्त बुद्धि में आरूढ करना प्रक्रियाओं का उपयोग है अतः जिस तरीके से जितना भाग समझ आये उतना समझ लेना चाहिए, प्रतीयमान दोष की उपेक्षा कर देनी चाहिए और उस दोष से सिद्धान्त पर आये आक्षेप का प्रक्रियान्तर से परिहार कर लेना चाहिए। प्रमाणबल से वास्तविकता के बारे में निश्चित होने के कारण विवेकी आनन्दसागर में रह पाता है, प्रक्रियादोषों से विचलित नहीं होता॥७४॥

विवेकी के निश्चय का स्वरूप व्यक्त करते हैं—

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः॥७५॥

मायारूप मेघ जगत्-रूप जल की जैसी-तैसी वृष्टि करे, चिद्रूप आकाश को कोई नुकसान या फ़ायदा नहीं है—यह वास्तविकता है।

जैसे आकाश में बादल आते हैं, बरसात करते हैं, चले जाते हैं, परन्तु बरसात से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आकाश गीला नहीं होता, फिर धूप निकलने से आकाश सिकुड़ता भी नहीं है, दोनों स्थितियों में आकाश में कोई फ़र्क नहीं है; इसी प्रकार चित् आकाशरूप है। आकाश का शाब्दिक अर्थ होता है, अवकाश, जो सब चीज़ों के होने के लिए स्थान दे देता है। सब कुछ इसमें हो सकता है फिर भी इसके स्वरूप में अन्तर नहीं आता। आकाश सब घटनाओं को होने की जगह देने पर भी अविकारी है। वैसे ही चित् ज्ञानरूप आकाश है। संसार के सारे अनन्त ज्ञानों को यह होने देता है। पर इन ज्ञानों के होने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। इसे चाहे अवच्छेद की दृष्टि से समझो, चाहे प्रतिबिम्ब की दृष्टि से समझो। जैसे आकाश जगह देता है वैसे ही ज्ञान ही सब को होने देता है परन्तु स्वयं वैसा का वैसा निर्विकार है, उसमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिए पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं कि भगवान् शंकर के पास धेला कौड़ी नहीं है। श्मशान का भस्म, सूखी खोपड़ी, हाथी की छाल का कवच आदि ही हैं। पर सारे देवताओं को सब कुछ उन्होंने दिया है! इसी प्रकार शिव के कारण सारे ज्ञान हो रहे हैं, खुद शिव *के अन्दर* कोई ज्ञान नहीं, वह स्वयं ज्ञानरूप है। वह किसी का ज्ञान नहीं, ज्ञान ही उसका स्वरूप है। उसके कारण अन्तःकरणों में सारे ज्ञान हो रहे हैं। जिस जीव को जिस कर्म से जो सुख-दुःख होना है, वह सब उसी के कारण होता है। कर्मफलदाता वही है।

यह सब क्यों हो रहा है? मायारूप बादल है इसलिए। माया का नमूना तुम्हारा मन है। जैसे तुम्हारा मन सब चीज़ों की कल्पना करा देता है। मन की आँख से प्रतीत भी हो जाता है! परन्तु सचमुच में तो होता कुछ नहीं। मन से करोड़ रुपया बना सकते हो, पर उससे सौदा नहीं खरीद सकते। ऐसी ही माया है। माया से तो सब सम्भव होता है पर वास्तव में होता कुछ भी नहीं है। माया का जो रूप तुम्हारे सामने है वह मन है। जैसे मनरूप बादल स्वप्न के अंदर न जाने कितनी चीज़ों की वर्षा कर देते हैं, इसी प्रकार से मायारूप बादल जगद्रूप जल बरसाता है। सारा ब्रह्माण्ड माया मेघ से बरसा हुआ जल है। माया की विशेषता है कि बिना कुछ हुए लगता है सब हो गया। जैसे इस दृष्टान्त में वृष्टि से आकाश का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता है, इसी प्रकार चिदाकाश के अंदर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर वह तो वैसा का वैसा है। यह सब होने से चिदाकाश की कोई हानि नहीं हुई। लोग सोचते हैं 'अगर हमें संसार की कोई चीज़ दीख गई तो हमारा ज्ञान हिल गया।' किंतु जैसा जगत् का दीखना है वैसा जगत् का नहीं दीखना है! क्योंकि जो चीज़ है नहीं, वह जैसे दीखती है, वैसे ही नहीं दीखती है। मिथ्या की प्रतीति व अप्रतीति दोनों एक जैसे हैं। चाहे जितनी जगत्-प्रतीति होती रहे, चिदाकाश का कोई नुकसान नहीं है। जैसे स्वप्न में करोड़ रुपया मिल जाना है वैसे स्वप्न में करोड़ रुपया खो जाना है। स्वप्न से इसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह फ़र्क है कि स्वप्न में तो सच्चा लगता है, उठने पर ही झूठा लगता है किंतु जब चिदाकाशरूप से जानता है तब जिस समय मिल रहा है उसी समय 'नहीं मिल रहा है' इस बात को जानता है। ठीक जैसे बाजीगर पाँच सौ की गड्डी दिखलाता है; तुम हाथ से छूते भी हो। ये सब करते हुए भी जानते हो कि यह कुछ नहीं है। यदि पाँच सौ की गड्डी उसके पास होती तो तमाशे से पैसे क्यों कमाता! जैसे वहाँ यह देखते हुए जानते हो कि 'यह नहीं है' वैसे ही प्रतीति होते हुए भी ज्ञानी का निश्चय है कि प्रपंच नहीं है। इसलिए जगत् की वर्षा हो या न हो, स्वरूप वैसा ही रहता है। ज्ञानी को जगत् के संदर्भ में न लाभ है, न हानि है। यह वास्तविक स्थिति है॥७५॥

इस प्रकरण के अभ्यास का फल बताते हैं–

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसन्धत्ते निरन्तरम्।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम्।।७६।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य भारतीतीर्थविद्यारण्यस्वामिविरचित-पञ्चदश्यां कूटस्थदीपप्रकरणं समाप्तम्।।

जो इस 'कूटस्थदीप' प्रकरण का लगातार विचार करता है वह स्वयं कूटस्थरूप से अनवरत भासमान रहता है।

जो कूटस्थदीप प्रकरण हमने बतलाया, उसका जो आगे-पीछे के विचारपूर्वक अनुसन्धान करता है वही फल पाता है। केवल पाठ करने का फल नहीं है। गहनता से, विस्तृत रूप से अर्थ-विचार होता है तब अनुसन्धान कहलाता है। यह भी निरन्तरम् अर्थात् बिना व्यवधान के करना चाहिए। जब व्यक्ति गंभीर अनुसन्धान में लगता है, उस समय भोजन करना भी उसके लिए असंम्भव होता है। जैसे तुम मार्च के अन्त में आयकर विभाग को देने के लिए तलपट बना रहे हो तो और कुछ रुचिकर नहीं होता, वैसे अनुसन्धाता को और कुछ सहन नहीं होता। जब इस कूटस्थदीप का ऐसा अनुसन्धान हो कि भोजन-पानी भी विस्मृत हो जाये, तब दीप्ति प्राप्त होती है। बुद्ध का ऐसा ही निश्चय था जब वे बोधिवृक्ष के नीचे बैठे थे कि शरीर रहे या जाये, मोक्ष पाये बगैर उठना नहीं है! ऐसी दृढता से साधना करें तब मोक्षप्रद बोध हो पाता है। ज्ञान का प्रकाश तभी आता है जब साधना पूर्ण हो। लोग पूछते हैं 'हमारी स्थिति क्यों नहीं हुई?' इसीलिए नहीं हो पाती, कि निरन्तर अनुसन्धान नहीं कर पाते जिससे निश्चय की पूर्णता नहीं हो पाती। जब ऐसा हो पाता है तब यह जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कूटस्थ शिव है, वह ऐसा स्पष्ट भान होता है जैसे सूर्य का प्रकाश होता है। और यह दीप्ति स्थायी है, बिन रुकावट की है॥७६॥

इस प्रकार यह आठवाँ प्रकरण पूरा हुआ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवम
ध्यानदीप प्रकरण

ध्यानदीप प्रकरण पंचदशी में विशिष्ट स्थान रखता है। प्रायः लोगों की शास्त्र में पूर्ण श्रद्धा कम होती है। श्रद्धा तो होती है परन्तु ऐसी श्रद्धा नहीं होती जैसी योग्य गुरु की उपलब्धि होने पर होती है। इसलिये ऐसे साधकों के लिए ध्यान के द्वारा उस तत्त्व तक पहुँचने का उपाय बताया जाये यह आवश्यक है। यह विद्यारण्य स्वामी की विलक्षणता है कि पंचदशी में सभी तरह के साधकों को मार्गदर्शन दिया है। पंचदशी के पहले छह प्रकरण विद्यारण्य स्वामी ने लिखे। उनके गुरु भारती तीर्थ जी थे, उन्हें वे बताते रहते थे कि मुझे क्या लिखना है। छह प्रकरण लिखते-लिखते उनका शरीर नहीं रहा अतः उन्होंने जो बतलाया था उसके आधारपर भरतीतीर्थ जी ने ग्रंथ पूरा किया। इसलिये यह प्रकरण भारती तीर्थ जी का लिखा हुआ है। वैसे, मूल ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे लेखकभेद सम्भावित हो। कारण यह है कि भारती तीर्थ जी की दृष्टि में श्लोकों की रचना उन्होंने की है, लेकिन विचार सब विद्यारण्य स्वामी के हैं। प्रायः गुरु-शिष्य बैठते हैं तो परस्पर विचार चलता रहता है, गुरु बताते रहते हैं कि किस विषय पर उनके क्या विचार हैं। तथापि पंचदशीकार के रूप में विद्यारण्य ही प्रसिद्ध हैं। बाण भट्ट की कादम्बरी भी उनके पुत्र ने पूरी की थी किन्तु ग्रन्थ के रचयिता बाण ही प्रसिद्ध हैं। यह ध्यानदीप प्रकरण विशेष करके उन साधकों के मार्ग-दर्शनार्थ है जिन्हें किसी प्रतिबन्धवश श्रवण आदि से वाक्यार्थ का अपरोक्ष नहीं हो पाता। उनके लिये सप्रमाण उपाय सूचित करते हैं–

संवादिभ्रमवद् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यते।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा।।१।।

संवादी भ्रम की तरह ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी क्योंकि मोक्ष मिलता है इसलिये नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत् में अनेक तरह से ब्रह्मोपासना सुनी गयी है।

भ्रम दो प्रकार के होते हैं, एक भ्रम तुम्हें सत्यता की तरफ ले जाता है तथा दूसरा नहीं ले जाता परन्तु हैं दोनों ही भ्रम। स्वप्न है तो भ्रम ही, लेकिन कई सपने देखने के बाद वैसी ही घटना सचमुच में दीख जाती है। तब आश्चर्य होता है तथा याद आता है कि स्वप्न में ऐसा देखा था। स्वप्न में जो देखा था, वह भ्रम था, जाग्रत् में प्रमा हो रही है। 'वहाँ मणि है' इस भ्रम से जाने पर यदि मणि मिल जाये तो भ्रम को 'संवादी' कहते हैं तथा न मिले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो 'विसंवादी' कहते हैं। इस प्रकार दो भ्रम हुए—एक, जो सत्य की प्राप्ति करा देता है और दूसरा, जो सत्य प्राप्त नहीं कराता। अगर विचार करके देखो तो किसी भी चीज़ को बताने में इसी प्रकार भ्रम का सहारा लेना पड़ता है। इसलिये शास्त्रकारों ने (नै.सि.३.१०४) कहा है, 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते' असत्य के रास्ते से सत्य की प्राप्ति होती है। असत्य श्रवण, मनन आदि करते हैं; वे तो ब्रह्म नहीं हैं परन्तु उनमें प्रयुक्त शब्द के वाच्यार्थ से जो लक्ष्य करते हो वह सत्य होता है। जैसे वाच्यार्थ भ्रम होकर भी सत्य को बता देता है, ठीक इसी प्रकार जिस चीज़ का तुम ध्यान करोगे वह तुम्हें प्रकट हो जाती है। यदि तुम सच्ची चीज़ का ध्यान करो तो तुम्हें सत्य की प्राप्ति हो जायेगी। सत्य की प्राप्ति या सत्य का ज्ञान, एक ही बात है। सत्य की प्राप्ति सत्य का अनुभव है। ब्रह्म के स्वरूप को शास्त्रानुसार गुरु से समझने के बाद दीर्घ काल तक ध्यान करने से वैसा ब्रह्म हमें प्रकट हो जाता है। जब झूठी चीज़ ही हमारे सामने ध्यान से प्रकट हो जाती है तो सच्ची चीज़ प्रकट होगी ही। जिस साधक को विवेक वैराग्य शम दम मुमुक्षा—इन सब साधनों से सम्पन्न होकर श्रवण मनन निदिध्यासन करने पर भी तत्-त्वं-पदार्थों का अभेद-ज्ञान नहीं होता वह ध्यान का सहारा ले। यह बोध तो हो जाता है कि गुरु जी कहते हैं तो हूँ ब्रह्म ही, वेद कह रहा है कि मैं ब्रह्म हूँ। यह समझने पर भी लगता नहीं कि मैं ब्रह्म हूँ। अधिकतर साधक इसी प्रकार के होते हैं। शास्त्र और गुरु कहते हैं, युक्ति से ठीक है—यहाँ तक तो मानते हैं परन्तु कहने के साथ ही वैसा ही अनुभव हो जाये, ऐसा नहीं होता।

इसका एक कारण बुद्धि की मन्दता है। जो बुद्धि प्रज्ञासम्पन्न होती है वह तो असली चीज़ झट पकड़ लेती है और फिर छोड़ती नहीं। जैसे बिजली का सम्पर्क शिथिल होता है तो बीच-बीच में बिजली आती है और फिर चली जाती है, इसी प्रकार मन्द साधक की बुद्धि श्रवण आदि के बीच-बीच में तत्त्व को पकड़ती है लेकिन फिर छोड़ देती है। किसी के लिये प्रतिबन्धक यह भी होता है कि योग्य गुरु नहीं मिलता। गुरु केवल शास्त्रज्ञ होने से काम नहीं चलता बल्कि वह ऊहापोह में समर्थ होना चाहिये। भगवान् भाष्यकार ने इस बात को उपदेशसाहस्री में स्पष्ट किया है। शिष्य की शंका समझे कि इस शंका का क्या आधार है, उस शंका को दूर करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। जैसे अपने आपको मारने के लिये एक ब्लेड ही काफी है, ब्लेड लेकर नस काट कर खून बहने दो तो मरने का यह सरल उपाय है, परन्तु दूसरे को मारने के लिये तो तुम्हें अनेक शस्त्र-अस्त्र चलाने आने चाहिये, इसी प्रकार स्वयं समझ की सामर्थ्य तो सरलता से उपलब्ध होती है परन्तु शिष्य की शंका समझकर उसका उत्तर उसे हृदयंगम कराना कठिन होता है। जिस किसी भी युक्ति से समझाओ, सारी युक्तियों में कोई न कोई दोष कहीं न कहीं रहेगा ही। शिष्य जो शंका कर रहा है उसे मिटाना गुरुकार्य है। युक्ति की गलती सामान्य व्यक्ति को प्रतीत नहीं होती है। जितना विचार अधिक होगा उतना ही युक्ति में दोष मिलता जायेगा। शिष्य की शंकाओं का निवारण उसे स्पष्ट हो जाये तो उसका काम बन जाता है। ऐसा कर सकने वाला गुरु मिलना कठिन होता है। कई बार अपना बुद्धि-मान्द्य कारण पड़ता है और कई बार बुद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की शक्ति होने पर भी, प्रज्ञा होने पर भी योग्य गुरु नहीं मिलता। इन सबको प्रतिबन्धक कहते हैं अर्थात् ये सब रुकावटें हैं।

ऐसे साधक के लिये ब्रह्म तत्त्व की उपासना विहित की जा सकती है। उसमें योग्य गुरु की ज़रूरत नहीं है। साधक को स्वयम् ज़ोर लगाकर ध्यान की दृढता प्राप्त करनी है। तुम्हारे सन्देहों को तुम नहीं मिटा सकते। लेकिन ध्यान में तो जो बता दिया केवल वही करना है। इसलिये ध्यान करना तुम्हारे हाथ में है। खूब ध्यान करके उस की स्थिति, सिद्धिप्राप्ति कर सकते हो। श्रुति ने निषेध कर दिया 'यन्मनसा न मनुते' जो कभी भी मन के द्वारा मनन नहीं किया जा सकता; 'अवाङ्मनसगोचरम्' मन और (वाणी) का अविषय है। जब तुम मन से ब्रह्म का ध्यान करते हो तब वह भ्रम इसलिये है कि ब्रह्म ध्येय है नहीं। यह दोष जैसे ध्यान के पक्ष में है वैसे ही ज्ञान के पक्ष में भी है क्योंकि वह शब्द का विषय है नहीं फिर भी शब्द के द्वारा ही समझाना है। ब्रह्म शब्द से बताया नहीं जा सकता फिर भी गुरु उसे बताते हैं। इस प्रकार, ब्रह्म मन का या ध्यान का विषय हो नहीं सकता फिर भी उसे विषय बनाते हैं इसलिये इसे संवादी भ्रम कहा जाता है। उपासना अर्थात् ध्यान ज्ञानरूप न होने पर भी उससे मुक्ति हो जाती है जैसे ज्ञान से होती है। ध्यान से मोक्ष—यह नई, काल्पनिक बात नहीं कह रहे, नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत्के प्रमाण से कह रहे हैं। शास्त्र में अनेक प्रकार की उपासनओं को बताया है जिनसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये यह विचार ग्रन्थकार का स्वकपोल-कल्पित नहीं है।।।१।।

जैसे शब्द खुद ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं हो सकता फिर भी उससे सही ज्ञान होता है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म का ध्यान करने से भी उसका साक्षात्कार हो जाता है। ध्यान के द्वारा मन से वह प्राप्त होने योग्य न होने पर भी ध्यान से प्राप्त हो जाता है। दृष्टांत से संवादी भ्रम का स्वरूप बताते हैं—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।।२।।

मणि-प्रभा और प्रदीप की रोशनी को मणि समझकर उसकी ओर जाने वालों को ज्ञान एक-जैसा मिथ्या होने पर भी प्रयोजन सम्पन्न होने में अन्तर है।

कहीं एक खुली खिड़की में हीरा रखा हुआ है। जब दूर से देखते हैं तो हीरा नहीं दीखता परन्तु हीरे की चमक दीखने से उस चमक को हीरा मान लिया और उधर गये कि हीरा मिल जायेगा। इसी प्रकार, कहीं कोई दीपक रखा है, उसकी भी चमक दीखती है, उस चमक को हीरा समझ लिया और उधर गये। मणि की चमक को मणि समझने पर भी वहाँ जाने पर मणि मिल जाती है जब कि वह चमक हीरा नहीं थी क्योंकि जहाँ चमक दीखी थी वहीं पास में हीरा था। दीपक स्थल में प्रभा, जिसे हीरा समझा था उसके आस-पास मणि नहीं थी इसलिये मणि समझकर जाने पर भी वहाँ मणि नहीं मिलती। मणि की या दिये की चमक को मणि समझना दोनों मिथ्या ज्ञान हैं परन्तु एक अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजन का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संपादक है। एक भ्रान्त मणि के लिये दौड़ा और उसे मणि मिल गई जबकि दूसरा मणि समझकर दौड़ा मणि लेने के लिये फिर भी उसे मणि नहीं मिली, क्योंकि वहाँ दीपक ही है। मणि की हो या दीपक की, चमक को हीरा समझना मिथ्या ज्ञान ही है इसलिये दोनों का मिथ्या ज्ञान एक जैसा है क्योंकि दोनों चमक को हीरा समझ रहे हैं लेकिन वहाँ जाने पर हीरा मिल जाता है, दूसरे को हीरा नहीं मिलता यों अर्थक्रिया में विशेष है। एक जाने की क्रिया का प्रयोजन पाने में सफल हो जाता है, दूसरा असफल हो जाता है। यह दोनों में भेद है। जहाँ भ्रमसिद्ध चीज़ मिल जाये वहाँ संवादी भ्रम है और जहाँ न मिले वहाँ विसंवादी भ्रम है। भ्रम एक-जैसे हैं यह तो निश्चित समझ लेना चाहिये।

आजकल हम लोगों के व्यवहारों में भी ऐसा हैः हम किसी से दस हजार रुपये लेते हैं, वह हमें नोट पकड़ाता है। हम उन नोटों पर देखते हैं, सब के उपर एक जैसा लिखा हुआ है। अगले दिन हम उन नोटों को बैंक में जमा कराने जायें, खजांची उन नोटों में एक नकली नोट निकाल देता है। नोट रुपया नहीं है क्योंकि रुपया तो चाँदी का होता है। रूप्य नाम चाँदी का है। नोट में लिखा रहता है कि 'इसके बदले में पाँच सौ रुपये देंगे ऐसी प्रतिज्ञा है'। जिस चीज़ को देने की प्रतिज्ञा करते हैं वह रुपया है। नकली नोट भी रुपया नहीं, असली नोट भी रुपया नहीं है। परन्तु असली नोट लेकर रिजर्व बैंक में जाओ तो वह पाँच सौ रुपये दे देगा, नकली नोट ले जाओ तो नहीं देगा। मिथ्या होना दोनों तरह के नोटों का एक-जैसा है क्योंकि कागज़ रुपया (चाँदी) नहीं है परन्तु मिथ्या ज्ञान एक-जैसा होने पर भी एक नोट देते हैं तो उसके बदले रुपये मिल जाते हैं, दूसरा नकली देते हैं तो बदले में रुपये नहीं मिलते। इसी प्रकार ॐकार आदि के द्वारा जो उस आत्मा का विचार करता है उसे तत्त्वज्ञान हो जाता है , और किसी चीज़ का ध्यान करता है तो उसकी प्राप्ति नहीं होती है।।२।।

संवादी भ्रम का उक्त दृष्टान्त स्वयं समझाते हैं–

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद् दृष्टा मणेःप्रभा।।३।।

दीपक आले में रखा रहता है, उसकी रोशनी बाहर दरवाज़े पर दीखती है और किसी दूसरी जगह मणि की चमक भी ऐसे ही देखी जाती है।

आले के अन्दर दिया रखा है, उसकी रोशनी बाहर निकलती है, और वह प्रभा उस खिड़की के दरवाज़े में दीखती है। पुराने ज़माने में आले पर दरवाज़ा लगा देते थे, आजकल के ज़माने में काँच लगा हो तो उस काँच में रखे दीपक की प्रभा दीखेगी। इतना फ़र्क है कि यदि खिड़की में शक्करपारे जैसा आकार बना हो तो उसमें से रोशनी, प्रभा उसी आकार के जैसी दीखेगी और अगर वह गोलाकार या अठपहलू आकार का हो तो प्रभा वैसी दीखेगी। कदाचित् दिये की चमक को देखने से 'यह हीरा है' ऐसा भ्रम होता है। इसी प्रकार कहीं मणि रखी हो तो उस मणि की प्रभा भी उसी आकार की दीखेगी। जैसे आकार का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आला है जहाँ दिया रखा है, या जिस शक्ल का काँच कटा है उसी शक्ल की उसकी प्रभा दीखेगी तो वहाँ चमकता हुआ हीरा जैसा दीख सकता है। एक आले में हीरा रखा है, उसकी चमक और दूसरे आले में दिया रखा है, उसकी भी चमक, दोनों के बारे में 'यह मणि है' ऐसा भ्रम संभव है।।३।।

भ्रम भी प्रवृत्ति आदि में निमित्त बन सकता है यह दिखाते हैं–

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि।।४।।

दूर में दो प्रभायें देखकर उन्हें मणि समझकर उनकी ओर दौड़ने वाले दोनों की प्रभा में मणिबुद्धि गलत ज्ञान ही है।

तुम और तुम्हारा साथी, दोनों उस प्रभा वाले स्थल से सौ मीटर दूर हो। दोनों ने चमकने वाली चीज़ देखी और उसे हीरा समझकर लेने के लिये दोनों दौड़े। चमक के अन्दर जो मणि-बुद्धि हुई वह मिथ्या ज्ञान ही है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। इसी प्रकार, 'मैं' के अन्दर भी चेतनता की प्रतीति है 'मैं चेतन हूँ'। इसमें मैं तो अहंकार की वृत्ति है; उस अहंकार की वृत्ति में हमें चेतनता का भ्रम हो रहा है कि यह अहंकार की वृति ही चेतन है, मैं ही चेतन हूँ। ऐसी भी किसी को प्रतीति होती है कि यह सामने कोई विग्रह-विशेष है, मूर्ति-विशेष है जो चेतन है, परब्रह्म परमात्मा है। यहाँ चेतन-दृष्टि उस विग्रह के अन्दर हो रही है लेकिन दृश्य कभी चेतन होता नहीं, चेतन तो द्रष्टा ही होता है। इसलिये दृश्य में चेतनबुद्धिरूप भ्रम वाला जितना भी आगे बढ़े उसे कभी भी परमात्मा का दर्शन हो नहीं सकता क्योंकि वहाँ चेतन है नहीं। 'मैं' भी चेतन नहीं किंतु उस में चेतन का प्रतिबिम्ब है इसलिये अहंकारात्मिका वृत्ति को जब परब्रह्म परमात्मा समझकर उसे ढूँढने जाते हो तो वहाँ मिल जायेगा। द्रष्टा-रूप को छोड़कर किसी दृश्य में ढूँढोगे तो वहाँ परब्रह्म परमात्मा कभी नहीं मिलेगा। भ्रम तो दोनों जगह है। जैसे पदार्थ-शोधन करके समझ आता है कि 'मैं' में ज्ञानरूप चमक वृत्ति की नहीं, ब्रह्म की है वैसे बात को नहीं समझने पर भी 'मैं' की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने पर परब्रह्म परमात्मा का दर्शन हो जाता है, अन्यथा नहीं होता, जबकि मिथ्या ज्ञान दोनों जगह है। 'मैं' को या दृश्य को ब्रह्म समझना मिथ्या ज्ञान है। लेकिन 'मैं' में उपासना करने वाले को चूँकि वहाँ ब्रह्म है इसलिये परमात्मा मिल जाता है, दूसरे को नहीं मिलता।।४।।

भ्रम भी फलकाल में प्रमातुल्य हो सकता है यह दृष्टान्त का निगमन करते हैं–

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता।
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः।।५।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीप-प्रभा की ओर दौड़ने वाले को मणि नहीं मिलती, मणि की प्रभा में मणिबुद्धि से दौड़ने वाले को मणि अवश्य मिलती है।

दीपक की चमक की तरफ जो दौड़ता है वह यद्यपि उसे मणि समझकर गया तथापि उसको मणि मिलती नहीं। मणि की प्रभा को देख कर जो उस तरफ दौड़ा, उसे मणि अवश्य मिल ही जाती है। इसलिये जो कुछ लोग कहते हैं कि प्रतिमा की उपासना करते-करते प्रतिमा में परमात्मा का दर्शन हो सकता है, वह सम्भव नहीं यह इन्होंने यहाँ स्पष्ट किया।।५।।

संवादी-विसंवादी भ्रम का भेद दृष्टान्त पर आरूढ करते हैं–

दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते।।६।।

दीप की रोशनी में मणि की भ्रान्ति विसंवादी भ्रम कहा जाता है। मणि की चमक में मणि की भ्रान्ति संवादी भ्रम कहा जाता है।

पूर्वोक्त बात को ही और स्पष्ट किया कि दीप-प्रभा को मणि समझना विसंवादी भ्रम है और मणि-प्रभा को मणि समझना संवादी भ्रम है। संवादी भ्रम में ब्रह्म की उपासना करने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है जैसे भ्रान्त भी मणि को प्राप्त कर लेता है।।६।।

संवादी भ्रम के अनेक दृष्टांत देते हैं। हर जगह अर्थ यही है कि चीज़ को तुम गलत समझते हो तब भी मिल जाती है तभी संवादी भ्रम होता है–

बाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्राङ्गारानुमानतः।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः।।७।।

भाप को धुआँ समझकर वहाँ अनुमान से अंगारा जानकर प्रवृत्त व्यक्ति को दैवात् अग्नि (अंगारा) मिल जाये तो वह संवादी भ्रम माना जायेगा।

लकड़ी जलने पर जो निकलता है वह तो धुआँ है और पानी को उबालो तो उसमें से जो निकलती है वह भाप है। दोनों में फर्क है। दूर से देखने पर भाप और धुएँ में फर्क पता नहीं चलता। इसलिये तुम दूर से कभी भाप को देखो तो वह भी धुएँ जैसी लगती है। कहीं खूब ज़ोर से पानी उबल रहा है, तुमको तो भाप दीखी लेकिन तुमने समझा कि धुआँ है और तुमने अनुमान किया कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। भाप को धुआँ समझकर तुमने अंगारे या आग का अनुमान कर लिया। यह अनुमान में संवादी भ्रम है। पहले तो प्रत्यक्ष के अन्दर दोनों भ्रम बताये थे। किंतु अनुमानादि में भी दोनों होते हैं। यहाँ तुमने अनुमान किया कि धुआँ है तो वहाँ आग है। वहाँ जाने पर पाते हो कि पानी उबल रहा है पर पतीले के नीचे गेस जल रही है या बिजली का चूल्हा जल रहा है। आग तो है तभी पानी उबल रहा है। भाप को धुआँ समझकर गये तो भी आग मिल गई! 'जहाँ भाप वहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आग' यह अनुमान प्रमाण तो नहीं है, इसलिये 'यदृच्छया' कहा अर्थात् कभी आग मिलेगी कभी नहीं मिलेगी। दूर से बादल भी भाप जैसे लगते हैं, पास जाओगे तो आग नहीं मिलेगी। अनुमान से आग समझी और मिली, परन्तु अनुमान के लिये धूम का जो ज्ञान हुआ वह तो भ्रम था क्योंकि धुआँ था ही नहीं। परन्तु जहाँ भ्रमसिद्ध धुआँ होता है वहाँ आग नियम से नहीं होती, यदृच्छया अर्थात् by chance होती है अर्थात् कभी आग मिलेगी, कभी नहीं मिलेगी। अगर आग मिल गई तो उसे संवादी भ्रम कहेंगे और यदि दूसरी यदृच्छा (chance) हुई कि बादल को धुआँ समझकर गये और वहाँ आग नहीं मिली तो वह विसंवादी भ्रम है। भ्रम से वस्तु कभी मिल जाती है, कभी नहीं मिलती, इसमें कोई कारण नहीं कह सकते।।७।।

प्रत्यक्ष और अनुमान से दोनों भ्रम बता दिये, अब कहते हैं कि शास्त्र के विषय में भी दोनों भ्रम हो सकते हैं–

गोदावर्युदकं गंगोदकं मत्वा विशुद्धये।
सम्प्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः।।८।।

गोदावरी के जल को गंगाजल समझकर विशुद्धि के लिये प्रोक्षण (छिड़काव) कर शुद्धि मिल जाती है–यह संवादी भ्रम माना जायेगा।

अशुद्ध-स्पर्श से व्यक्ति अशुद्ध हो जाये तो गंगाजल छिड़कने से आदमी शुद्ध हो जाता है। घर में जिस बोतल में पानी रखा था तुमने उसे गंगाजल समझकर अपने उपर छिड़क दिया। वह गंगाजल नहीं था पर तुमने उसे गंगाजल समझा तो भ्रम ही है। परन्तु यदि उस बोतल में गोदावरी का पानी रखा था तो गंगाजल न होने पर भी गोदावरी भी चूँकि देवनदी है, पवित्र नदी है, इसलिये तब भी पवित्र तो हो ही गये। अगर उस बोतल में नलके का पानी रखा होता तो उसे छिड़कने से पवित्र नहीं होते। गोदावरी के जल से पवित्रता होती है इसमें शास्त्र ही प्रमाण है क्योंकि पानी तो सब एक-जैसा है, चाहे नलके का हो, चाहे गंगा या गोदावरी का। शास्त्र से ही ज्ञात है कि गंगाजल से शुद्धि होती है। जिसे गंगाजल समझा वह गंगाजल नहीं था, अतः वह तो भ्रम हुआ परन्तु शुद्धि के लिये जिस जल को अपने ऊपर छिड़का वह गोदावरी का जल था अतः पवित्र तो हो गये क्योंकि गोदावरी भी पवित्र नदी है। यह आगम अर्थात् शास्त्र के विषय में संवादी भ्रम बता दिया। अगर वह नलके का पानी होता तो विसंवादी भ्रम हो जाता।।।८।।

और भी दृष्टांत देते हैं–

ज्वरेणाप्तःसन्निपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन्।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः।।९।।

ज्वर से सन्निपात में पड़ा व्यक्ति भ्रम से नारायण को याद करते हुए मरे (तो भी) स्वर्ग पाता है। यह संवादी भ्रम माना जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्वर के कारण जब मरने का समय आता है तब बुखार के अन्दर कफ वात और पित्त तीनों इकट्ठे कुपित हो जाते हैं, उसका नाम सन्निपात ज्वर है। सन्निपात में भ्रम होता ही है। उस भ्रान्ति में किसी ने नारायण का स्मरण किया। नारायण के स्मरण से स्वर्ग की प्राप्ति होगी यह समझकर भगवान् नारायण का स्मरण नहीं किया बल्कि नारायण नाम वाले किसी आदमी को समझकर नारायण-स्मरण किया। परमात्मा समझते हुए नारायण-स्मरण नहीं किया, परिच्छिन्न नारायण का स्मरण किया परन्तु हुआ तो नारायण नाम से ही उसका स्मरण! अंतकाल में वैसा करने से उसकी सद्गति हो ही जाती है, वह स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत एक भक्त का है। उसने अन्तिम समय में अपने पुत्र नारायण का स्मरण किया और उससे उसकी सद्गति हो गई। मरते समय नारायण नाम के स्मरण का विधान है। वह भगवान् का नाम है—यह मानकर स्मरण का विधान किया परन्तु है तो नारायण का नाम अतः निश्चित प्रभाव वाला है। नारायण नामक पुत्र का स्मरण कर के नारायण कहना है तो भ्रम परन्तु चूँकि नारायण का नाम है, इसलिये शास्त्रवचन के अनुसार सद्गति हो जाती है अतः संवादी है। यह भी शास्त्रीय विषय का ही उदाहरण है क्योंकि नारायण नाम से सद्गति होती है इसमें शास्त्र के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है। नाम और रूप दोनों परमात्मा की उपाधियाँ हैं, रूप का ध्यान नहीं भी आया परन्तु नाम का स्मरण हो गया इससे भी सद्गति होती है।।९।।

उदाहरण-उपन्यास समाप्त करते हैं—

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे।
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः।।१०।।

प्रदर्शित ढंग से प्रत्यक्ष के, अनुमान के एवं शास्त्र के विषयों के बारे में करोड़ों की तादाद में संवादी भ्रम होते हैं।

प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र, इन सबके द्वारा जो अनुभव में भ्रम आते हैं, सभी में कोई संवादी भी हुआ करते हैं। जहाँ भ्रम फलदायी होता है वहाँ संवादी और जहाँ भ्रम सफल नहीं वहाँ विसंवादी भ्रम कहेंगे। इसका निर्णय अर्थक्रियाकारिता से होता है कि जो उद्देश्य था वह काम हुआ या नहीं। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं। दुर्गापूजा के समय मिट्टी को थापकर 'यह दुर्गा है' ऐसा मानकर पूजा करते हैं। जगन्नाथधाम में लकड़ी की ही मूर्ति है। प्रायः पत्थर की मूर्ति बनाकर प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। यद्यपि देवता अपने-अपने लोक में कहीं बैठे हैं अथवा स्वर्ग में बैठे हैं, यहाँ देवता तो नहीं हैं, परन्तु उन्हें तत्तद् देवता मानकर मूर्तियों की पूजा करते हैं तो देवता प्रसन्न हो जाते हैं, हमें फल मिल जाता है। मूर्ति न बनाकर, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा न करके केवल मिट्टी का लोंदा लेकर पूजा करेंगे तो कुछ फल नहीं होगा। जो कुछ ऐसी उक्तियाँ हैं कि 'पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहाड़' इत्यादि, वे यह नहीं समझकर हैं कि मिट्टी या पत्थर की मूर्ति की पूजा करने का शास्त्र में विधान है इसलिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी पूजा का फल हो जायेगा। वह देवता नहीं है, परन्तु उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके उसे देवता मानकर पूजा करते हैं तो फल हो जाता है। जैसे जब किसी के पूछते हैं– तुम कहाँ गये थे? वह कहता है 'वृन्दावन गया था'। वहाँ क्या देखा? 'बाँके बिहारी का दर्शन कर के आया।' बाँके बिहारी तो गोलोक में हैं और कभी द्वापर के अन्त में आये थे। तुम्हें वहाँ पत्थर की मूर्ति ही दीखी परन्तु कहते यही हो कि वही तो बाँके बिहारी हैं। वे अपने दिव्य लोक गोलोकधाम में बैठे हैं परन्तु यहाँ वृन्दावन में उनकी पूजा, दर्शन इत्यादि करने से गोलोक में बैठे हुए बाँके बिहारी प्रसन्न हो जाते हैं। यदि संवादी भ्रम न होता तो यों देवताओं की पूजा कैसे होती? आधुनिक लोग कहते हैं कि यह तो मिट्टी या पत्थर की पूजा है पर हम पत्थर की पूजा थोड़े ही करते हैं! यह कभी कोई नहीं कहता कि हम पत्थर की पूजा कर रहे हैं। सब यही कहते हैं कि देवी जी या शिव जी की पूजा कर रहे हैं। इस बात को न समझने से ही गुजरात में एक महात्मा हुए हैं जिन्हें भ्रम हो गया। उन्होंने एक बार कहीं शिवलिंग पर चूहा चढ़ता देख लिया तो कहने लगे 'जो शिव अपनी रक्षा नहीं कर सकते वे तुम्हारी क्या रक्षा करेंगे?' उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि मूर्ति-पूजा बेकार है। कारण कि उन्होंने समझा कि यही शिवजी है जबकि लिंग तो पूजा ध्यान आदि करने के लिये शिवजी का प्रतीक है। है यह संवादी भ्रम अतः फलदायक हो जाता है। उस मूर्ति को छोड़कर किसी भी पत्थर या पहाड़ को पूजोगे तो फल नहीं होगा, वह विसंवादी भ्रम हो जायेगा। मूर्ति में स्वतः देवत्व का अभाव है लेकिन उसे देवता मानकर पूजन करने से तुम्हें फल मिल जाता है, सद्गति हो जाती है। ठीक जैसे अजामिल ने तो पुत्र का नाम समझकर नारायण नाम लिया परन्तु चूँकि नारायण भगवान् का नाम है इसलिये उसका कल्याण हो गया, सद्गति हो गई। इसी प्रकार से मूर्ति का पूजन करने से भगवान् का पूजन हो गया, सद्गति की प्राप्ति हो गई। यह नहीं समझ लेना कि पुराण आदि में ही प्रतीकोपासना विहित है, वेदो में भी पंचाग्निविद्या आदि असंख्य प्रतीकोपासनायें विहित हैं।।।१०।।

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम्।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः।।११।।

संवादी भ्रम न हो तो मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि देवता कैसे हों? पत्नी आदि अग्नि आदि दृष्टि से उपासनीय कैसे हों?

छान्दोग्य (५.८.१) में पाँच अग्नियाँ कही हैं। उन पाँचों अग्नियों में स्त्री को भी एक अग्नि बताया है। स्त्री तो अग्नि नहीं हुआ करती, चाहे जितना स्त्री पर हाथ तापने की कोशिश करो, कुछ गर्मी नहीं आयेगी! परन्तु स्त्री को अग्नि मान कर एवं बाकी भी सारी उपासना करके पंचाग्नि-उपासना हो जाती है जिससे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। जैसे पत्थर की मूर्ति को बाँके बिहारी मानने से सद्गति की प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार स्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को अग्नि मानकर उपासना करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। यह भी भ्रम है क्योंकि स्त्री आग तो है नहीं, परन्तु आग मानकर उपासना करने से फल हो जाता है। यदि संवादी भ्रम न हो तो स्त्री इत्यादि में अग्नि इत्यादि की बुद्धि से उपासना कैसे होती? अग्नित्व के आगे आदि-पद से मन को भी ब्रह्म मानकर उपासना करने की विधि (तै.३.१८), आदित्य को ब्रह्म मानकर उपासना की विधि (छां. ३.१६) आदि का संग्रह है। इस प्रकार की अनेक उपासनायें उपनिषदों में आयी हैं। जैसे स्त्री में अग्निबुद्धि वैसे ही मन में ब्रह्मबुद्धि करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। यद्यपि मन ब्रह्म नहीं है तब भी उसमें ब्रह्मदृष्टि करने से फल हो जाता है। इसलिए शास्त्रीय विधियों की अन्यथा अनुपपत्ति से संवादी भ्रम स्वीकार्य है।।११।।

संक्षेप में संवादी भ्रम की परिभाषा बताते हैं–

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम्।
काकतालीयतःसोऽयं संवादिभ्रम उच्यते।।१२।।

जो वस्तु जैसी नहीं उसे वैसा समझनारूप जिस भ्रम से दैवात् इष्ट वस्तु मिल जाये उसे संवादी भ्रम कहते हैं।

जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा समझना भ्रम है। जैसे चीज़ तो पत्थर है, देवता नहीं है परन्तु उसको देवता समझने से तुम्हें इष्ट फल, सद्गति की प्राप्ति हो जाती है। क्यों हो जाती है–इसमें नियम नहीं कर सकते कि किस भ्रम से इष्ट-प्राप्ति हो जायेगी। यह तो काकतालीय न्याय से होता है। जैसे किसी ताड़ के पेड़ की डाल पर कौआ बैठा और फल नीचे गिर गया। कौए के बैठने से फल नहीं गिरा परन्तु कौए का बैठना हुआ और फल गिरा। ऐसे जो अकस्मात् हो जाये उसे 'काकतालीय' कहते हैं। इसी प्रकार तुमने पत्थर की पूजा की तो तुम्हें फल तब मिला जब पत्थर की मूर्ति बनाकर उसमें प्राणप्रतिष्ठा की हुई थी, अन्यथा फल नहीं मिलता। यों फल के मिलने से भ्रम को संवादी भ्रम कहते हैं।।।१२।।

उक्त रीति से ब्रह्मोपासना वह फल देती है जो ब्रह्मज्ञान का ही सम्भव है, यह निर्णय देते हैं–

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनाऽपि तथा मुक्तिफलप्रदा।।१३।।

संवादी कहलाता अनुभव खुद भ्रम होने पर भी जैसे सही फल देता है वैसे ब्रह्मरूप तत्त्व की उपासना भी मोक्षरूप फल देती है।

जिस प्रकार संवादी भी स्वयं भ्रम है किन्तु फल तो ठीक ही दे देता है इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञेय और ध्येय कभी हो ही नहीं सकता परन्तु उसके ज्ञान या उसकी उपासना करने से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।।१३।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्म का ध्यान कैसे करते हैं यह बताते हैं–

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वम् अखण्डैकरसात्मकम्।
परोक्षमवगम्यैतद् अहमस्मीत्युपासते।।१४।।

वेदान्तों से अखण्ड एकरसस्वरूप ब्रह्म नामक तत्त्व परोक्ष रूप से समझकर 'यह मैं हूँ' यों उसकी उपासना की जाती है।

वेदान्त अर्थात् उपनिषद्। वैदिक सभी उपनिषदों के समन्वय के द्वारा ब्रह्म तत्त्व कैसा बताया है, इतना निश्चय करना पहले जरूरी है। यह निश्चय होना चाहिये कि उपनिषदों में किस ब्रह्मतत्त्व को बताया है। ठीक जिस प्रकार से यह पता होना चाहिये कि लिंग में शिवपूजा, शालिग्राम में विष्णु की पूजा होती है इत्यादि, इसी प्रकार उपनिषदों ने ब्रह्मतत्त्व जैसा बताया है वैसा पता लग जाना चाहिये। किस ब्रह्मतत्त्व का पता लगता है? वह अखण्ड है; देश-काल-वस्तुपरिच्छेद से शून्य है। यह पता तो लगता है परन्तु अपरोक्ष नहीं है कि देश काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न मैं हूँ। इतना पता चलता है कि कुछ है जो देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न है और वह 'कुछ' ब्रह्म है। उसके अन्दर किसी प्रकार का सजातीय विजातीय और स्वगत भेद नहीं है। इसके नज़दीक से नज़दीक हम आकाश को सोच सकते हैं, या काल को सोच सकते हैं। परन्तु सृष्टि के पहले और प्रलय के बाद तो ये भी नहीं हैं। अतः वास्तव में सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदों से रहित हम किसी चीज़ को नहीं जानते हैं। फिर भी शास्त्र से पता चलता है कि कोई ब्रह्म तत्त्व है जो सजातीय विजातीय और स्वगत भेद से रहित है। परोक्षज्ञान के अन्दर यह जानना जरूरी नहीं होता कि वह मैं हूँ। केवल परोक्षरूप से इतना पता लगता है कि वह एकरस और अखण्ड है। उसे परोक्षरूप से जान करके 'वह मैं हूँ' इस प्रकार से उपासना कर सकते हैं। ब्रह्म और आत्मा की एकता शास्त्र बताता है, केवल इतना ही हम जानते हैं, अपरोक्ष तो हमें यह होता नहीं है। अपरोक्ष होने के लिये तत्-पदार्थ और त्वम्-पदार्थ के शोधन की सामर्थ्य होनी चाहिये तभी तत्त्वमसि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होगा। परन्तु परोक्ष ज्ञान में तो कोई रुकावट नहीं, उसे पाकर उपासना कर सकते हैं।

ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान मोक्ष का साधन है और जब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है तब तक मोक्ष नहीं होता। ब्रह्मतत्त्वज्ञान से मोक्ष हो जाता है और मोक्ष हो गया तो ध्यान का कोई प्रयोजन नहीं है। यदि तुमने उसको नहीं जाना तो ध्यान करो कैसे? और जाना है तो उसी से मोक्ष हो ही जायेगा, ध्यान करो क्यों? इस के समाधान के लिये समझना पड़ेगा कि ज्ञान दो प्रकार का है। तुमने अखबार में बाँचा कि बम्बई में ताज होटल में अतिसुन्दर कमरे हैं। कैसे सुन्दर कमरे हैं–यह तो तुम्हें पता नहीं लगता है, वहाँ सुन्दर कमरे हैं, यह परोक्ष ज्ञान तो हो ही जाता है। इसी प्रकार तुमने आज तक जाना है कि कोई चीज़ एक देश (स्थान) में होती है तो दूसरे देश में नहीं होती है। ब्रह्म के बारे में शास्त्र कहता है कि कोई देश ऐसा नहीं जहाँ ब्रह्म नहीं! यह जान तो सब सकते हैं जैसे ताजमहल होटल के कमरे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुन्दर हैं यह सभी जान सकते हैं। एक बार किसी का मकान देखने गये। उसने एक कमरा दिखाते हुए कहा कि यह हमारा शयन का कमरा (bed room) है। हमने देखा तो वहाँ एक गड्ढा था, और तो हमें कुछ नहीं दीखा। हमने उससे पूछा तो उसने बताया कि यह नये ढंग का बिछौना है। उसी समय उसने वहाँ पानी भरकर रबड़ का एक गद्दा बिछाया और लेट गया। हमने सोचा कि वह उसमें डूब जायेगा, लेकिन नहीं डूबा। वह बिछौना पानी के उपर ही रहता है। हमने सोचा, करवट बदलने पर उस पर पानी आ जाता होगा। उसने कहा कि ऐसा भी कुछ नहीं होता, बस यही इसकी विशेषता है। हमें कुछ अंदाज़ तो मिला कि है बिछौना लेकिन बिस्तर जाना जैसा हमने पहले था उससे तो इसका कोई सम्बध नहीं था। इतना ही ज्ञान हुआ कि यह लेटने के काम का है। यह भी परोक्षरूप से ज्ञान हुआ, जब उस पर सोकर रातभर निकाल दी तब पता लगा कि सचमुच उस पर लेटने का अनुभव कैसा है। स्वयं लेटते नहीं तो कई कल्पनाएँ होती रहतीं। जैसे बिस्तर के परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ज्ञान हुए इसी प्रकार आत्मा के बारे में है। बिना जाने उपासना नहीं हो सकती, जानकर उपासना की ज़रूरत नहीं है, ये बातें यह मानकर हैं कि ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, लेकिन परोक्ष ज्ञान भी होता है। जैसे जब उस गड्ढे को बताया कि यह खटिया है, तब खटिया दीखी नहीं लेकिन परोक्ष ज्ञान तो हुआ ही। उसी प्रकार से एकरस अखण्ड का हम लोगों को कोई ज्ञान नहीं है, हम लोगों को तो सब चीज़ें खंडित होने का और अनेकरसात्मक होने का ज्ञान है, परन्तु फिर भी 'ब्रह्म ऐसा नहीं है' इस प्रकार से उपासना करने से कौन रोक सकता है? परोक्षरूप से जानकर उपासना होती है। मोक्ष का कारण तो परमात्मा का साक्षात् अपरोक्ष है परन्तु उपासना या ध्यान परोक्ष ज्ञान से हो जाता है।।।१४।।

उपास्य ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान का परिचय देते हैं–

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत्।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः।।१५।।

शास्त्र से जैसे विष्णु आदि की मूर्ति पता चलती है वैसे बुद्धिसाक्षी आत्मा को विषय किये बिना शास्त्र से 'ब्रह्म है' यह सामान्यरूप से जानना उपासना में उपयोगी परोक्ष ज्ञान है।

शास्त्र यह निश्चय कराते हैं कि भगवान् विष्णु की चार भुजायें हैं। उनके एक हाथ में शंख, एक हाथ में चक्र, एक हाथ में गदा और एक हाथ में पद्म है तथा श्याम मूर्ति है। शास्त्र ने इतना ही कहा। परन्तु वह कैसा श्याम रंग है? हाथ अगल-बगल में चार हैं, दायें-बायें चार हैं या ऊपर-नीचे चार हैं? यह तो जब भगवान् विष्णु के दर्शन होंगे तब पता लगेगा। चार हैं इतना निश्चित है परन्तु हैं कैसे? ऊपर-नीचे भी हो सकते हैं, कंधे से एक हाथ निकला है और बगल से दूसरा निकला है अथवा एक हाथ आगे और दूसरा हाथ पीछे की तरफ निकलता हो यह भी हो सकता है। शंख चक्र आदि किस प्रकार से पकड़े हैं? बीच-बीच में छोड़ते हैं या नहीं? कई शंकाएँ, सम्भावनाएँ बनी रहती हैं, फिर भी हम ध्यान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करते हैं तो विष्णु का साक्षात्कार हो जाता है और इन बातों का ठीक-ठीक पता लग जाता है। इसी प्रकार से ब्रह्म प्रत्यगात्मरूप है। प्रत्यगात्मा अर्थात् बुद्धि का साक्षी, बुद्धि को भी जो जानता है। घड़े को तो मैं जानता हूँ। परन्तु घटज्ञान जिसके द्वारा जाना जाता है वह साक्षी है। घटज्ञान बुद्धि की वृत्ति है। घटाकार वृति बनी तो उसे हम लोग घटज्ञान कहते हैं। वृत्ति में प्रतिबिम्बित तो मैं हूँ और जिस ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह ब्रह्म साक्षी है। 'मैं' से ज्ञानरूप से वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला समझ नहीं आ रहा इसलिये ब्रह्म या साक्षी है यह परोक्ष ज्ञान है। यदि वह बिम्ब मैं समझ में आ जाये, तो अपरोक्ष ज्ञान हो जाये। फिर तो परम आनन्द में, ब्रह्मानन्द में लीन हो जाओ। ब्रह्म की मैं-रूपता का अनुभव प्रत्यग्-व्यक्ति का उल्लेख कहा जाता है। प्रत्यगात्मा को ही मैं अभी हमने समझा नहीं। शास्त्र से ही यह पता लगा कि सद्रूप, चिद्रूप, आंनदरूप और अनन्तरूप ब्रह्म है। ब्रह्म सच्चिदानंद है यह परोक्ष ज्ञान या सामान्य ज्ञान है। इस सामन्य ज्ञान को ही यहाँ ध्यानदीप प्रकरण में परोक्ष कहते हैं। इस बात को उपनिषदों ने भी कहा है 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद' (तै. २.६) अर्थात् ब्रह्म है इतना निश्चय रखने वाला, 'ब्रह्म ही है' ऐसी उपासना करने वाला 'सन्त' समझने योग्य है, वही वास्तव में है। साधारणतः इतना भी 'निश्चय' नहीं होता। इसे यहाँ परोक्ष ज्ञान छठे प्रकरण में (श्लो. १६) बता ही चुके हैं। जिसे शास्त्र पर पूरी श्रद्धा है उसको इतना निश्चय हो जाता है अर्थात् परोक्ष ज्ञान हो ही जाता है। जैसे विज्ञापन (Advertisment) में जिसको विश्वास है उसको यह बाँचकर कि ताजमहल होटल में ऐसा-ऐसा कमरा है, परोक्ष ज्ञान हो जाता है कि ऐसा कमरा अवश्य है। जिसका उस विज्ञापन पर विश्वास नहीं उसे लगेगा 'क्या पता वहाँ कोठरी ही हो, ऐसे ही कमरा लिख दिया'; विज्ञापन में तो बढ़ा चढ़ा कर लिख ही दिया करते हैं। जिस साधन पर श्रद्धा नहीं होगी उससे तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होगा, केवल संदेहमात्र होकर रह जायेगा।

बहुत-सी चीज़ों को विज्ञापन में बाँच लेते हैं, परन्तु वहाँ जाकर देखें तो चीज़ वैसी नहीं होती है। एक आदमी ने बहुत साल पहले अखबार में बड़ा भारी विज्ञापन दिया; तब तक आजकल की कछुआ छाप या बिजली की ऑल आउट (all out) जैसी मच्छर मारने की चीज़ें आई नहीं थीं, पंखा आदि चलाकर मच्छरों को उड़ाते रहते थे; उसने यह विज्ञापन दिया कि हमने एक ऐसी मशीन बनाई है जो मच्छरों को तुरंत मार देती है। उसके कुछ मामूली दाम ही लिखे थे। बहुत-से लोगों ने चिट्ठी लिख कर वह मशीन डाक से मँगा ली। वह आई तो उसमें एक डिबिया में दो पत्थर थे, एक छोटा और एक बड़ा। साथ में हिदायत की पर्ची जिस पर लिखा था कि बड़े पत्थर पर मच्छर रख कर उसे छोटे पत्थर से मार दो! ऐसे विज्ञापन से विज्ञापनों पर अविश्वास हो जाता है। इसी प्रकार से संसार में बहुत-से ग्रंथ और बहुत-से सम्प्रदाय हैं जो परमेश्वर के विषय में अनेक प्रकार की बातें कहते रहते हैं। इससे लगता है कि वेदवाक्य भी ऐसा ही होगा। इसलिये वेदवाक्य पर श्रद्धा नहीं होती है। जैसे जिसे विज्ञापनों पर श्रद्धा है उसको यह परोक्ष ज्ञान होगा कि जरूर कोई मशीन होगी जिससे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मच्छर मर जायेंगे, इसी प्रकार वेद से ज्ञान होने के लिये श्रद्धा तो आवश्यक है, परन्तु इतने से बात समझ में आ गई ऐसा है नहीं क्योंकि ज्ञान परोक्ष रहा। सच्चिदानंरूप परब्रह्म है — केवल इतना ज्ञान हुआ।।।१५।।

विशेष ज्ञान होने मात्र से अपरोक्ष नहीं हो जाता यह दृष्टान्त से समझाते हैं—

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन्।
अक्षैःपरोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते।।१६।।

चार भुजा वाले हैं इत्यादि जानने पर भी इन्द्रियों से मूर्ति को विषय न करता व्यक्ति परोक्ष जानकार ही है क्योंकि तब विष्णु को देख नहीं रहा है।

शास्त्र से इतना पता लगता है कि भगवान् विष्णु चतुर्भुज हैं। 'आदि' पद से सँवाले हैं। शंख-चक्र-गदा-पद्म लिये हुए हैं, यह सब तो शास्त्र से पता लगता है लेकिन सामने किसी मूर्ति को सचमुच में देख नहीं पाते, सामने कुछ नहीं आता है। चतुर्भुज इत्यादि कुछ है इतना मात्र जानते हो। इन्द्रियों से विष्णु का दर्शन नहीं होता इसलिये वह परोक्ष ज्ञान है। भगवान् विष्णु का दर्शन करने पर जो ज्ञान होगा वह अपरोक्ष होगा। भगवान् विष्णु चतुर्भुज कुछ हैं यह ज्ञान परोक्ष होने से इसमें उन बातों का ज्ञान नहीं होगा जो केवल अपरोक्षयोग्य हैं। उन बातों का ज्ञान तो जब भगवान् विष्णु को देखेंगे तभी होगा। इन्द्रियों के द्वारा उनको जिसने नहीं जाना है वह परोक्षज्ञानी है।।१६।।

क्योंकि भगवान् सामने नहीं आये इसलिये वह उनके बारे में सर्वथा अज्ञानी है ऐसा भी नहीं है। वे चतुर्भुज, श्याम , गदा-चक्र-शंख-पद्मधारी हैं आदि जितनी बातें जानी हैं, वे सब ठीक हैं। अतः परोक्ष ज्ञान भ्रम नहीं है यह प्रतिपादन करते हैं—

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम्।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्त्तेर्विभासनात्।।१७।।

परोक्ष होने मात्र से भ्रम नहीं हो जाता क्योंकि जो शास्त्र प्रमाण ही है उससे सत्त्व की अधिष्ठात्री मूर्ति समझ आती है। केवल परोक्ष होना ज्ञान का अपराध भले ही मानें पर इतनी गलती से उसे भ्रम या तत्त्व का ज्ञान नहीं है ऐसा नहीं घोषित कर सकते। अनुमान से आग की परोक्ष भी प्रमा ही होती है। लपटें कैसी हैं, आवाज़ कैसी है, ईधन कैसा है इत्यादि न पता लगने पर भी 'आग है' यह ज्ञान तो समीचीन ही है क्योंकि उस स्थल पर आग है सही। अनुमान के समय धुआँ देखकर इन सबका पता नहीं लगा था, वह परोक्ष ज्ञान था। जितना पता लगा कि वहाँ आग है, वह ज्ञान तो सच्चा ही है। इतने मात्र से तुमने वास्तविक चीज़ को नहीं जाना या चीज़ को ही नहीं जाना ऐसा नहीं है। एक मत है कि अपरोक्ष वस्तु को परोक्ष जानना भ्रम या अज्ञान ही है। उसी के जवाब में यह कह रहे हैं कि अपरोक्ष चीज़ है लेकिन उस चीज़ का भी परोक्ष ज्ञान अतत्त्व-ज्ञान नहीं है। है तो वास्तविक ही, पूरा ज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नही है, केवल इतना ही कह सकते हो। सच्चा ज्ञान वह होता है जो प्रमाण से होता है। सच्चे ज्ञान का ही नाम संस्कृत में प्रमा है। जो प्रमा को उत्पन्न करे वह प्रमाण है। जैसे कोई पूछे कि सामने इस कमरे का दरवाजा सफेद है यह आपको कैसे पता? तो यही कहोगे कि 'हमने आँखों से देखा है।' ऐसे ही तुम्हारी माँ है, यह तुम्हें कैसे पता? तुमने तो अपने को पैदा होते देखा नहीं, पिता जी ने बताया है तो तुम्हें निश्चित विश्वास हो जाता है कि यह मेरी माँ ही है। कोई शंकालु हो तो कहेगा कि बाप झूठ बोल रहा होगा, दूसरी औरत को रखकर पैदा किया होगा, इत्यादि; लेकिन जिसको निश्चित विश्वास है कि पिता जी कह रहे हैं तो मेरी माँ ही है उसे प्रमा है क्योंकि सिवाय इस शब्द के और कोई साधन माँ के ज्ञान का नहीं है। पैदा होते समय तुम्हारी आँखें बन्द होती हैं। कई कहानियाँ बाँच लेते हैं कि अस्पताल में नम्बर इधर का उधर हो जाता है तो बच्चा पलट जाता है इत्यादि। संदेही हो तो उसे कभी निश्चय नहीं होगा कि यह मेरी माँ है। लेकिन जिसे पता है कि पिता सत्यवादी है और कोई कारण नहीं है कि वह हमें धोखा दे, उसे पिता कहता है 'माँ है' तो जान लेता है कि यही मेरी माँ है। ठीक इसी प्रकार वेद कह रहा है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', श्रद्धा होने पर साक्षात्कार के बिना भी वैसा ब्रह्म का ध्यान करोगे तो ब्रह्म का साक्षात्कार हो जायेगा, अपरोक्ष पता तब लगेगा। इसके लिये श्रद्धा करके प्रयत्न तो आवश्यक ही है। चूँकि वेद यथार्थ ही कहता है, वह किसी को धोखा नहीं देता, इसलिये भ्रान्ति का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान प्रमा होना संगत है।।।१७।।

शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान में परोक्षता माननी ही क्यों? इसका उत्तर देते हैं–

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद् भानेऽप्यनुल्लिखन्।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते।।१८।।

शास्त्र से (ब्रह्म के) सच्चिदानन्द स्वरूपका पता चलने पर भी 'वह प्रत्यगात्मा साक्षी है' यह भान न होते साधक ब्रह्मका साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता।

जैसे भगवान् विष्णु सत्त्वमूर्ति हैं, उसी प्रकार जो सच्चिदानन्द है वह साक्षात् मूर्ति है, 'प्रत्यञ्चं साक्षिणं' वही वह मूर्ति है जिसके कारण हम घट पट आदि को जानते हैं। वह जो सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है उसका शास्त्र से भान हुआ लेकिन 'वही यह प्रत्यगात्मा साक्षी है' इसका हमें कोई भान नहीं हो रहा। केवल इतना पता चला कि वह सच्चिदानन्द है। वही साक्षी है– यह पता नहीं है। तत्त्वमसि महावाक्य से हुए ज्ञान में तो वैसे उल्लेख होता ही है। हमें ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान होता अगर महावाक्य बता दिया जाता, परन्तु वह तभी बताया जा सकता है जब तत् और त्वम् पदार्थों को समझने की हमारी सामर्थ्य हो। उसके लिये विवेक वैराग्य शम दम आदि साधन-सम्पत्ति आवश्यक है, अन्यथा अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त में ही मैं-भान होता रहेगा। विवेक आदि साधनों से सम्पन्न होने पर ही पदार्थ-शोधन हो पाता है। तब तक प्रत्यग्भाव का उल्लेख किये बिना ब्रह्म का ज्ञान होता है। है वह नित्य अपरोक्ष, परन्तु उसका साक्षात् ज्ञान होता नहीं। यहाँ सच्चिदानन्द कहे हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु इस के साथ और भी विशेषताएँ समझनी चाहिये। सर्वज्ञात्म महामुनि ने ब्रह्म में चिन्तनीय धर्म बताये हैं–

'नित्यः शुद्धः बुद्धमुक्त-स्वभावः सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति।।'

वह नित्य है, स्वभाव से शुद्ध है जैसे गंगाजल स्वभाव से शुद्ध है। बाकी पानी को तो मंत्र आदि से शुद्ध करना पड़ता है, परन्तु गंगाजल को शुद्ध करना नहीं पड़ता क्यों कि वह स्वभाव से शुद्ध है। स्वभाव से ही वह बुद्धरूप है, ज्ञानस्वरूप है। हम घड़े को जानते हैं, परन्तु हमें उसे जानने के लिये रोशनी चाहिये। हम अंधेरे में प्यासे बैठे हैं, पानी नहीं पी सकते क्योंकि घड़े तक पहुँचें कैसे? बिजली आदि हो या मोमबत्ती आदि जलाओ तब घड़े तक जाओ। अन्धे का काम रोशनी होने पर भी नहीं होता! रोशनी हो और आँखें भी हों, साथ में मन भी हो तब घड़ा दीखे। अगर डट कर भाँग पी ली हो तो पड़े कहते रहोगे 'पानी पिला दो'। कोइ कहे 'पानी पड़ा तो है, पी लो' तो कहोगे 'मुझे नज़र नहीं आ रहा है।' हाथ में पानी भरा लोटा पकड़ाओ तो पी लेगा। ऐसा इसलिये क्योंकि नशे में ज्ञान नहीं है। सारी सामग्री हो तब हमें ज्ञान होता है। ब्रह्म के लिए ऐसा नहीं है। उसको अन्धकार में, अन्धे के हृदय में भी ज्ञान है। भांग के नशे में मन नहीं पर वहाँ भी ज्ञान है क्योंकि वह बोधस्वरूप है, उसे किसी अन्य अवलम्बन की जरूरत नहीं कि अमुक चीज़ें हों तब ज्ञान हो। हम तो साधना करके मुक्त होते हैं लेकिन वह किसी साधना से मुक्त नहीं है, स्वभाव से ही मुक्त है बद्ध को मोक्ष के लिये साधन की ज़रूरत है, ब्रह्म को नहीं। सच्चिदानन्द से यहाँ नित्य शुद्ध आदि सब समझ लेने चाहिये। ध्याता को इन सबका शास्त्र से परोक्षत्वेन भान हुआ, वही प्रत्यगात्मा है, बुद्धि का भी साक्षी है, इस बात को नहीं जाना। इसलिये ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं है।।१८।।

शंका होगी कि ब्रह्म अपरोक्ष है, हमने उसे परोक्ष जाना तो भ्रम क्यों नहीं? समाधान देते हैं–

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात्।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः।।१९।।

परोक्ष भी वह ज्ञान शास्त्र-कथित ही ढंग से सच्चिदानन्द का निश्चय है अतः यथार्थ ज्ञान है, भ्रम तो नहीं है।

हमने ब्रह्म को अपने मन से तो जाना नहीं! शास्त्र ने जैसे समझने को कहा वैसे हमारा यह निश्चय है कि है, ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है। यह हमारे मन की कल्पना तो है नहीं, शास्त्र ने कहा है इसलिये हम जानते हैं। पूरी बात न जानने को भ्रम नहीं कहा जाता क्योंकि जितना जाना उतना सही जाना। पूरा विचार करके देखें तो *पूरी* बात कितनी-सी जानते होंगे!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक पेड़ के बारे में ही कई बातों को जानते हैं, कई बातों को नहीं जानते। जब फराडे ने सब से पहले लोगों को बिजली दिखाई तब छोटा-सा लट्टू जलाकर दिखाया था। किसी बहुत प्रभावशाली लॉर्ड की घरवाली ने उससे कहा 'आप ने इतने ताम-झाम से एक छोटी-सी धूपबत्ती जैसी रोशनी दिखाई, इसका क्या फायदा होगा?' उस समय लोगों ने सोचा था कि वह बिलकुल बेकार चीज़ है परन्तु बिजली का पता भ्रम तो नहीं था। आज जितने बड़े काम बिजली से होते हैं, बिजली की इस सारी शक्ति को तो फराडे ने नहीं जाना, परन्तु जितना जाना उतना तो ठीक ही जाना। हमारे जितने ज्ञान हैं उन्हें विवेचन-पूर्वक देखते हैं तो कोई भी पूर्ण ज्ञान नहीं है। पूर्ण ज्ञान तो सिवाय परमेश्वर के किसी को नहीं है, परन्तु जितना जानते हैं उतना ठीक हो तो प्रमा है। आगे फिर वह ज्ञान धीरे-धीरे और अधिक बढ़ेगा। इसी प्रकार से ब्रह्म सच्चिदानन्द है, यह हमने शास्त्र प्रमाण से जाना। शास्त्ररूप प्रमाण से जितना हमने जाना उतना तो ठीक ही पता लगा, आगे और भी पता लग जायेगा। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, यह हमारा निश्चय है। ब्रह्म कण-कण और क्षण-क्षण में है यह तो हमें पता लग गया भले ही हमें साक्षात्कार नहीं। यह निश्चय है तो कभी ऐसा भी दीख जायेगा, साक्षात्कार भी हो जायेगा। इसलिये शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान भी वास्तविक ही है, भ्रम नहीं है।।१९।।

ब्रह्म के बारे में परोक्ष ज्ञान होता क्यों है? इसका उत्तर देते हैं–

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम्।
महावाक्यैस्तथाप्येतद् दुर्बोधमविचारिणः।।२०।।

यद्यपि शास्त्रों में महावाक्यों द्वारा ब्रह्म प्रत्यग्रूप से (मैंरूप से) ही बताया गया है तथापि अविचारशील के लिये वह समझना अतिकठिन है।

शास्त्र से ब्रह्म का स्वरूप जानकर उपासना की जा सकती है, परन्तु ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये विचार-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। प्रश्न होगा कि शास्त्र से जैसे सत्य-ज्ञान-आनंद को समझ कर उपासना हो सकती है वैसे ही ब्रह्म मैं हूँ – यह भी ज्ञान हो जाना चाहिये क्योंकि शास्त्र में ब्रह्म को प्रत्यगात्मा ही कहा है। उत्तर है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म है यह परोक्ष रूप से तो जान सकते हैं परन्तु ब्रह्म मैं हूँ जानने के लिये विचार आवश्यक है।।२०।।

अपरोक्ष वस्तु प्रमाण रहते भी दुर्बोध रहती क्यों है यह स्पष्ट करते हैं–

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात् पुमान्।
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमेत मन्दधीत्वतः।।२१।।

शरीरादि आत्मा हैं (मैं हूँ) ऐसा भ्रम प्रकट रहते मंदमति होने से व्यक्ति एकाएक ब्रह्म को आत्मा समझने में अक्षम हो जाता है।

जिस चीज़ का तुम्हें जैसा अपरोक्ष अनुभव है, उससे भिन्न यदि उपदेश दिया जाता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो तुम्हें निश्चय न होकर जिज्ञासा होती है कि 'ऐसा कैसे है?' जैसे, अभी कुछ दिन पहले खबर थी कि एक लड़का औरतों के साथ रहकर औरतों की ही खेल-प्रतियोगिता में जीता, उसे कई पुरस्कार भी मिले। फिर पता लगा कि वह लड़की नहीं लड़का है! जिसने उसे अपरोक्षरूप से लड़की जाना है, साथ रहा साथ ही खाया-पिया, सारे व्यवहार किये, उसे 'यह लड़की नहीं लड़का है' यह सुनते ही ज्ञान, निश्चय नहीं होता कि वह लड़का है। उसके मन में प्रश्न होता है कि वह लड़का कैसे है? यदि इस सवाल का जवाब मिल जाये तब तो ज्ञान हो जाता है कि अमुक लक्षण है इसलिये वह लड़का है, अन्यथा कहने पर भी निश्चय नहीं होगा। इसी प्रकार 'मैं ब्राह्मण, मैं सुखी-दुःखी होता हूँ' इत्यादि मेरा अपने बारे में अपरोक्ष ज्ञान है, यह प्रत्यक्ष जानता हूँ। शास्त्र ने कहा 'तू देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न है, अद्वितीय है'। मुझे यही पता नहीं कि इस समय दिल्ली में क्या हो रहा है! इसलिये प्रश्न होता है कि मैं ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ? यदि इस शंका का जवाब मिल जाये तब पता लग जाये कि मैं शरीर-मन नहीं हूँ, सुखी-दुःखी नहीं हूँ इसलिये तत्त्वमसि प्रमाण से ब्रह्म हूँ। यदि सही विचार नहीं हो सका और तुम्हारे संदेहों का जवाब नहीं मिल सका तो वाक्य शास्त्र का होने पर भी अपरोक्ष निश्चित ज्ञान नहीं होगा। तुम उपनिषद् का कुछ और ही तात्पर्य ढूँढोगे। कुछ लोग अर्थ निकालते हैं कि ब्रह्मा जी ने वेद में कहा है 'अहं ब्रह्मास्मि' तो उन्होंने ठीक ही कहा है क्योंकि वे तो ब्रह्म ही हैं। श्वेतकेतु को उपदेश दिया 'तू ब्रह्म है' इसलिये वह भी ब्रह्म रहा होगा। अर्थात् हम सभी ब्रह्म हैं ऐसा वेद का भाव वे नहीं समझते।

देह से अहंकार पर्यन्त ही मेरा स्वरूप है—यह हम अपरोक्षरूप से जानते हैं, किसी के कहने की ज़रूरत नहीं है, साक्षात् जानते हैं। शास्त्र के अनुसार यह भ्रम है, परन्तु यह भ्रम तब पता लगे जब यह समझ आये कि मैं क्या हूँ? अधिष्ठान का साक्षात्कार हो तब भ्रम मिटता है। मिथ्या ज्ञान के जगते हुए अर्थात् बिलकुल स्पष्ट रहते हुए सत्य के प्रति महत्त्वबुद्धि भी नहीं होती। भ्रम का 'जगना' अर्थात् वही ठीक है ऐसा दृढ अनुभव होना, उसके बारे में कोई शंका न रहना। इसी प्रकार बिलकुल सावधानी से मैं जानता हूँ कि मैं शरीर, मन अहंकार हूँ। यह बिलकुल स्पष्ट है, इसमें कहीं कोई संदेह नहीं है। कोई हमें पीछे से मुक्का मारता है तो हमें बिलकुल निश्चित ज्ञान होता है कि *मुझे* मुक्का मारा। इसलिये लोग कहते हैं 'दीवार पर माथा ठोको तो पता लग जायेगा कि मैं शरीर हूँ या नहीं।' ऐसा स्पष्ट भान रहते ब्रह्म ही आत्मा है— इसका अनुभव करने में व्यक्ति समर्थ नहीं होता। 'हठात्' अर्थात् तुरन्त ऐसा ज्ञान नहीं होता। क्यों ऐसा ज्ञान नहीं होता? क्योंकि मन्दबुद्धि है। जिसने पदार्थ-शोधन विचार-पूर्वक कर लिया है उसे तत्त्वमसि सुनते ही ज्ञान हो जाता है। तत्-पदार्थ का निश्चय जिसने सच्चिदानन्दरूप से किया और त्वं-पदार्थ का निश्चय प्रत्यग्-रूप से किया है उसे तुरन्त निश्चय हो जाता है कि एक ही है, यह वही है, मैं वही हूँ। परन्तु जिसने यह विचार नहीं समझ रखा है, वह इस एकता का अनुभव करे यह संभव नहीं है। यह भ्रम विचार से ही निवृत्त होता है।।।२१।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि शरीर इन्द्रिय आदि को मैं-रूप से जानने के कारण अद्वैत का ज्ञान नहीं होता है तो फिर देश-काल-वस्तु से परिच्छिन्न सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से ग्रस्त संसार को देखते हुए ब्रह्म अद्वितीय है, यह परोक्ष ज्ञान भी कैसे होगा? उत्तर है कि परोक्ष ज्ञान की यह विशेषता है कि वह अपरोक्ष का विरोध रहते भी उत्पन्न हो जाता है। ऐसे समझ लोः किसी कुम्हार के यहाँ परई, सिकोरा आदि सब चीज़ें 'एकमात्र मिट्टी है' यह समझ आ सकता है किंतु वे विभिन्न बर्त्तन नहीं हैं—यह 'देखा' नहीं जा सकता। इसलिये परोक्ष ज्ञान तो हो जायेगा पर अपरोक्ष के लिये विशेष योग्यता चाहिये। यदि श्रुति केवल यह कहे कि यह सब ब्रह्म है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तो तुम्हें निश्चय नहीं होता, उल्टा लगता है कि यह सब ब्रह्म कैसे हो सकता है! जब श्रुति ने कहा 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' यह सब बनने के पहले अद्वितीय ब्रह्म था, उसने माया शक्ति से यह सब बनाया; तब समझ में आ जाता है, परोक्ष ज्ञान हो जाता है कि अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, उसी से यह सब बना है। इसलिये कहते हैं कि द्वैतका अपरोक्ष भ्रम अद्वैत के परोक्ष ज्ञान को नहीं रोकता—

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः।
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत्।।२२।।

द्वैतका अपरोक्ष ज्ञान क्योंकि अद्वैत के परोक्ष ज्ञान का विरोधी नहीं इसलिये श्रद्धालु शास्त्र-अध्येता के लिये 'ब्रह्म' इतना ही आराम से समझने योग्य है।

ब्रह्ममात्र अर्थात् प्रत्यक् व्यक्ति का उल्लेख किये बिना। इतना तो आदमी को समझ में भली प्रकार से आता है। परन्तु यह भी किसकी समझ में आता है? शास्त्रदर्शियों की समझ में आता है। जिसने भली प्रकार से शास्त्र का विचार किया है कि सचमुच शास्त्र यही कहता है कि यह सब बनने से पहले अखण्ड चिन्मात्र ही था उसे निश्चय हो जाता है। बनने के पहले का हमें तो कोई अपरोक्ष ज्ञान है नहीं इसलिये हमारे अपरोक्ष ज्ञान का उस स्थिति के बारे में परोक्ष ज्ञान से कोई विरोध नहीं। इसलिये शास्त्र का ही भली प्रकार विचार करके पता लगता है कि यह सब उत्पन्न होने के पहले अद्वितीय ब्रह्म था। शास्त्र से ही अद्वैत-निश्चय होगा। अन्यथा, कोई कहेगा कि यह सब प्रकृति से उत्पन्न होता है, कोई कहेगा कि जीव अपने कर्मों से पैदा कर लेता है, कोई कहेगा कि दुनिया है नहीं, सब हमारे मन का ही खेल है इत्यादि। अनेक बातें लोग कहेंगे। परन्तु जब शास्त्र का अध्ययन करते हैं तब पता लगता है कि शास्त्र एकस्वर से यही कहता है कि सृष्टि अद्वितीय आत्मा से है। यद्यपि बहुत-से लोग शास्त्रों को पढ़ते हैं फिर भी वे यह नहीं मानते कि सब अद्वितीय ब्रह्म से पैदा हुआ है। जिसे शास्त्र पर श्रद्धा है उसीको यह ज्ञान होगा। जिसे शास्त्र पर श्रद्धा नहीं है उसको तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होगा। जो श्रद्धालु है उसे परोक्ष ज्ञान हो जाता है। श्रद्धामात्र से परोक्ष ज्ञान हो जाता है। अपरोक्ष साक्षात्कार के लिये श्रद्धा के साथ बुद्धि, विचार भी चाहिये। प्रश्न होता है कि श्रद्धालु को परोक्ष होता है तो अपरोक्ष ज्ञान क्यों नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता? इसलिये नहीं होता कि हमें यह सारा द्वैत अपरोक्ष दीख रहा है। 'मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी-दुःखी हूँ, यह आदमी है, वह मकान है, यह दीवार है' इत्यादि सब द्वैत हमें अपरोक्ष है अतः अद्वैत का अपरोक्ष सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में वास्तविकता का परोक्ष होना ही संभव है।।२२।।

इसलिये अपरोक्ष भ्रम परोक्ष प्रमा का विरोधी नहीं इसमें दृष्टांत देते हैं–

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत्।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते।।२३।।

'पत्थर है' ऐसा अपरोक्ष ज्ञान परोक्ष ईश्वरता को हटाता नहीं। मूर्त्ति आदि विष्णु हैं इसमें कौन संदेह रख सकता है!

अपरोक्ष तो सामने पत्थर है, सामने साक्षात् पत्थर दीख रहा है। उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके 'भगवान् नारायण बैठे हुए हैं,' यह परोक्ष ज्ञान है। दीखता तो पत्थर ही रहेगा। पत्थर न दीखे तो पूजा ही नहीं कर सकते। शिवरात्रि को भगवान् पर ठण्डा-ठण्डा पानी चढ़ाओगे तो जो ठिठुरन होगी वह भगवान् ही जानें, अपने को तो पता नहीं। अपने को तो पता है कि सामने पत्थर है इसलिये चाहे जितना ठण्डा पानी चढ़ायेंगे। क्यों ठण्डा पानी चढ़ाते हैं? क्योंकि शास्त्र प्रमाण से पता है कि नर्मदेश्वर की पूजा शिवजी की पूजा है। परोक्ष रूप से हम उसे शिव जानते हैं, इसलिए अपरोक्ष शिलाबुद्धि परोक्ष शिव-ज्ञान को नहीं हटाती। मूर्ति को उठाते हैं, अच्छी तरह से पोंछते भी हैं; ऐसा नहीं करते कि कहें 'भगवान् जी, यह तौलिया लो, अपने को पोंछ लो।' अगर अपरोक्ष ज्ञान हो जाता कि 'यह नारायण हैं' तो वैसा करते। भगवान् को भोग लगाते हैं लेकिन एक कौर भी इधर-उधर हो जाए तो दायें-बायें देखते हैं कि कहीं कोई चूहा वगैरह तो आकर नहीं ले गया! अपरोक्षरूप से तो हम यही जानते हैं कि यह पत्थर है। एक दिन गणेशजी ने कई स्थानों पर दूध पी लिय तो कितना हल्ला मचा! तुम्हारा लड़का रोज़ दूध पीता है, तो कोई हल्ला नहीं मचता क्योंकि उसको तुम अपरोक्षरूप से जानते हो कि खाने-पीने वाला है। मूर्ति को तो भोग लगाने का विधान है इसलिए भोग लगाते हैं। इसीलिए स्पष्ट है कि अपरोक्ष शिला-बुद्धि परोक्ष ईश्वरता को नहीं हटाती। प्रतिमा आदि, शलिग्राम आदि, विष्णु हैं इसके विषय में कौन आस्तिक संदेह करता है! कोई भी आस्तिक इस विषय में संदेह नहीं करता। अपरोक्ष भ्रम परोक्ष सम्यक् ज्ञान का विरोधी नहीं है। परोक्ष सम्यक् ज्ञान शास्त्र के द्वारा हुआ और अपरोक्ष तो इन्द्रियों के द्वारा दीख ही रहा है इसलिए दोनों में विरोध नहीं है।।।२३।।

जब कहा कि कौन संदेह करता है? तब प्रश्न उठता है कि लोग नास्तिक भी हैं जो कहते हैं कि पत्थर को क्या सिर झुकाना है! पत्थर से पौधे बड़े हैं, पौधों से जानवर बड़े है, जानवरों से मनुष्य बड़े हैं; ऐसे मनुष्य होकर हम पत्थर को सिर झुकाएँ यह नहीं बनता। एक चूहे को शिवलिंग पर चढ़ते देखकर लोगों ने निर्णय कर लिया कि वह ईश्वर नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः विप्रतिपत्ति या विरोधी मत रखने वाले सुलभ हैं। इसके समाधान में कहते हैं–

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

श्रद्धाहीन को प्रतिमा विष्णु होने में अविश्वास है यह इस प्रसंग में कहना योग्य नहीं क्योंकि वेद-शास्त्रीय सभी प्रसंगों में श्रद्धावान् ही अधिकारी होता है।

जो अश्रद्धालु है उसे तो यह ज्ञान कभी नहीं होगा! शब्द से ज्ञान उसी को होता है जो श्रद्धालु है। अख़बार में आया कि आज सारे हिन्दुस्तान में बाज़ार बंद होगा। किसी ने आकर कहा कि आबू में दूकानें खुली हुई हैं। यदि कहने वाला अपना विश्वासी आदमी है, हम जानते हैं कि वह आप्त है, झूठ नहीं बोलता है और बाज़ार से आ रहा है, वहीं रहता है, तब तो हमें प्रमा ज्ञान हो जाएगा कि आबू में दूकानें खुली हुई हैं और यदि उस आदमी के वचन में हमारी श्रद्धा नहीं है, अख़बार में श्रद्धा है तो उसकी बात सुनकर भी स्वीकारेंगे नहीं। रामकृष्ण परमहंस बताया करते थे कि आजकल के ज़माने में लोगों को अख़बार पर बड़ी श्रद्धा हुआ करती है। एक आदमी आकर कहे 'मैं उधर से आ रहा हूँ, सात नम्बर के मकान की दीवार गिर गई, इसलिए घूमकर आना पड़ा।' तो सामने वाला कहता है कि 'अखबार में कहीं नहीं लिखा है कि दीवार गिर गई, तुम्हें भ्रम हुआ है!' अख़बार में ही श्रद्धालु को तो निश्चय रहेगा कि दीवार नहीं गिरी लेकिन जो वहाँ चक्कर काटकर आ रहा है उस पर यदि श्रद्धा होगी तो प्रमात्मक निश्चित ज्ञान हो जाएगा कि दीवार गिरी है। इसी प्रकार जो वेद आदि सत्-शास्त्रों में श्रद्धा वाला होगा उसको परोक्ष ज्ञान हो जाएगा कि सृष्टि उत्पन्न होने से पहले अद्वितीय ब्रह्म था। जिसको किसी दूसरे पर विश्वास होगा, उसको उसकी कही हुई बात से परोक्ष ज्ञान हो जाएगा, क्योंकि स्वयम् अपनी देखी हुई तो वह स्थिति है नहीं। श्रद्धालु व्यक्ति को ही शब्द से निश्चयात्मक ज्ञान होता है।

वस्तुतः यदि विचार करो तो सभी प्रमाणों के बारे में यही स्थिति है। पहले हमें आँख से दीखता था कि सामने गड्ढा है तो निश्चित ज्ञान होता था कि गड्ढा है, क्योंकि आँख पर श्रद्धा थी। दो-चार बार गड्ढा देखा, पास जाने पर पाया कि गड्ढा नहीं है, तो पता लग गया कि आँख के ऑपरेशन के बाद चीज़ ३० डिग्री पर होती है तो अपने को १० डिग्री पर दिखाई देती है, इसलिए आँख पर श्रद्धा नहीं रह गई। अब चलते हैं तो पहले डण्डे से ठोक कर देखते हैं कि गड्ढा है या नहीं। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण में भी मूल कारण श्रद्धा है। इसी प्रकार अनुमान ज्ञान में व्याप्ति पर श्रद्धा चाहिये कि यह व्याप्ति ठीक है। अँग्रेज़ लोगों में व्याप्ति का प्रसिद्ध दृष्टांत है कि सारे कौए काले होते हैं, 'क' एक कौआ है, इसलिए वह काला है। सफेद कौआ जिसने देख रखा है, जब उसे पढ़ाते हैं तब तुरन्त वह व्याप्ति नहीं जँचती क्योंकि प्रश्न उठता है 'मैंने तो सफेद कौआ देख रखा है, सब कौए काले कैसे हो सकते हैं?' प्रत्यक्ष वस्तु में प्रत्यक्ष के करण में श्रद्धा की ज़रूरत और अनुमान में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके करण व्याप्ति में श्रद्धा की ज़रूरत है। शब्द में भी श्रद्धा नहीं होगी तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होगा कि इस सृष्टि का मूल कारण अद्वितीय ब्रह्म है। जो शास्त्र में श्रद्धा वाले नहीं हैं, उन्हें तो शास्त्रीय बात पर अविश्वास होना ही है, उन्हें शास्त्र का मतलब संगत नहीं लग सकता। जो कहा 'कोई संदेह नहीं कर सकता' वह अश्रद्धालु नहीं, श्रद्धालु की दृष्टि से।

यद्यपि वेद प्रमाण है, उससे निश्चय हो जाना चाहिए तथापि वेदोक्त जो भी चीज़ है, कर्म, उपासना या ज्ञान, सब में श्रद्धालु अर्थात् श्रद्धा वाले को ही अधिकार है। कर्म-विषयक निश्चय में भी श्रद्धा की ज़रूरत है, अन्यथा आजकल के लोग कहते हैं कि 'आग में घी झोंकने की अपेक्षा तो लोगों के पेट में घी झोंको क्योंकि लोग भूखे मर रहे हैं।' अश्रद्धालु को यही जँचता है। उपासना के बारे में भी यही बात हैः लोग कहते हैं कि दुनिया-भर के ग़लत काम करते हो, फिर 'राम-राम' करने से क्या होगा! एक बहुत बड़े विचारक कहा करते थे कि-चाहे राम-राम कहो, चाहे 'कोका-कोला, कोका-कोला' कहो एक ही बात है। वस्तुतः कर्म-उपासना में श्रद्धा वाले को ही अधिकार है। ज्ञान होने के लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान भी अधिकार के अंतःपाती हैं। इसलिए जो श्रद्धालु नहीं है वह तो उनमें अधिकारी ही नहीं है, चाहे जितना पढ़ ले। इसलिए अश्रद्धालु की बात इस प्रसंग में मत करो। श्रद्धालु की दृष्टि से शालग्राम का दृष्टांत है।।२५।।

उक्त दृष्टांत से सन्दर्भानुसार निर्णय सिद्ध करते हैं–

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत्।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसाम् अपेक्षते।।२५।।

प्रामाणिक उपदेश से एक बार में ही परोक्ष ज्ञान तो ठीक-ठीक उत्पन्न हो सकता है जैसे विष्णु की मूर्त्ति के बारे में उपदेश को समझने के लिये मीमांसा की आवश्यकता नहीं पड़ती।

आप्त पुरुष अर्थात् जिस पर तुम्हें विश्वास है, उसने एक बार भी कहा कि ये विष्णु भगवान् हैं, इन पर चन्दन लगाकर अगरबत्ती जला कर तुलसी-दल रखा करो। ऐसा एक बार ही उपदेश हुआ तो परोक्ष ज्ञान पैदा हो जाता है कि ये विष्णु हैं और इनकी पूजा करनी चाहिए। इसके लिए किसी मीमांसा या विचार की ज़रूरत नहीं है कि यह कैसे विष्णु है। इसी प्रकार से कर्म में हैः नारायणाय नमः, माधवाय नमः, गोविन्दाय नमः कहते हुए तीन बार आचमन कर लो। कोई कहे कि ये तीनों नाम एक ही नारायण के हैं तो पहले माधवाय कहकर क्यों न आचमन कर लें? हैं तो सब भगवान् के ही नाम? तो सिवाय यह कहने के कि 'माथा मत खाओ, करना हो तो करो,' और क्या समझायेंगे! यहाँ मीमांसा से कुछ नहीं होगा। मीमांसा का मतलब होता है विचार करना, ऐसे प्रसंग में विचार की कोई ज़रूरत नहीं है। विष्णु गोल-मटोल हैं, खड़े हुए हैं या लेटे हुए? शालग्राम गोल-मटोल है, इसमें विष्णु भगवान् चक्रिका आसन कैसे किए हुए हैं? ऐसे कोई विचार की ज़रूरत नहीं है। केवल यह विष्णु है, इतने से ही काम हो जाएगा।।।२५।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि कर्म-उपासना में विचार की ज़रूरत ही नहीं है तो फिर कर्ममीमांसा, भक्ति-मीमांसा करते ही क्यों हैं? उत्तर समझाते हैं–

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात्।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः।।२६।।

जिसका अनुष्ठान कर्त्तव्य है उसका खासकर निर्णय कठिन होने से कर्म एवं उपासना का विचार किया जाता है। अनेक शाखाओं में बिखरे विषय का साधारण व्यक्ति निर्णय करने में समर्थ नहीं होता है।

कर्म-मीमांसा, देवताकाण्ड आदि सब विचार ही हैं। क्या अनुष्ठान करना है इसका विचार इसलिए करना पड़ता है कि वेद अनेक शाखाओं वाले हैं, उन शाखाओं में कहीं कुछ कहा है, तो कहीं कुछ और ही कह दिया है! एक जगह सब क्रमवार तो कहा नहीं है। बहुत-सी शाखाएँ होने के कारण अनुष्ठान से पहले मीमांसा इसलिए की जाती है कि अमुक अंग अमुक जगह से लेना है यह समझना पड़ता है। विचार इस बात का है कि क्या व कैसे अनुष्ठान करें? ऋषियों ने मीमांसा इसलिए बनाई कि कोई भी सामान्य व्यक्ति वेदों को पढ़कर आगे-पीछे देखकर निर्णय कर सके यह सम्भव नहीं है। ऋषि लोग सब चीज़ों को जानने वाले थे, उन्होंने समझाने के लिए सब बता दिया। सामान्य मनुष्य चूँकि इसका निर्णय स्वयम् नहीं कर सकता, इसलिए मीमांसा की ज़रूरत है।।२६।।

मीमांसा पढ़ना भी तो हम लोगों के बूते का नहीं है! चार अध्याय वाले ब्रह्मसूत्रों में ही हम लोग बहुत परेशान हो जाते हैं तो बारह अध्यायों वाली कर्ममीमांसा कैसे पढ़ेंगे! इतना ही नहीं, हमने एक शाखा ही नहीं पढ़ रखी, उसे हमने देखा ही नहीं तो फिर मीमांसा भी कैसे समझें? इसलिए कहते हैं कि ऋषि लोग बड़े दयालु थे अतः उन्होंने निर्णय भी बता दिया–

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽऽस्तिकः।
विचारमन्तरेणापि शक्तोनुष्ठातुमञ्जसा।।२७।।

मीमांसा से निश्चित किया अनुष्ठान-प्रकार 'कल्पसूत्रों' द्वारा संगृहीत है। आस्तिक व्यक्ति उतने से, विचार किये बिना शीघ्र अनुष्ठान कर सकता है।

मीमांसा में यज्ञयागादि अथवा पूजा-पाठ के जो विस्तार हैं उन सबका विचार किया। जो जानना चाहे वह उसे पढ़े। नहीं पढ़ पाता है तो कोई बात नहीं क्योंकि ऋषियों ने कल्पसूत्रों में निर्णय एकत्र कर दिये। कर्म को कैसे करना है, यह बता दिया कल्पसूत्र, गृह्यसूत्र आदि में। चूँकि उन्होंने वहाँ निर्णय करके बता दिया इसलिये कल्पसूत्रों को देखकर ही अनुष्ठान कर लेना चाहिये। हर एक को सारा विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि क्या कहाँ से लिया, उस शाखा में है या नहीं इत्यादि; वे ऋषि सर्वज्ञ थे, इसलिए उन्होंने जैसा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्णय किया है वैसा स्वीकार कर लेना चाहिए। व्रत, त्यौहार आदि का निर्णय आचार्यों ने लिखा है, उसे देखकर पालन कर लेना चाहिए। सारे पुराणों के आदि-अंत, स्मृतियों के आदि-अंत को देखकर सौ साल की ज़िन्दगी में निर्णय करना हम लोगों के लिए असम्भव है इसलिए ऋषियों ने जो निर्णय करके रख दिया है वैसा ही कर लो। कहाँ से क्या लिया, कैसे लिया, इसको आगे-पीछे क्यों नहीं लिया—इत्यादि सारा विचार हरएक आदमी करने में समर्थ नहीं है। निर्णय का अनुसरण कर अनुष्ठान ठीक प्रकार से कर सकते हैं। तुमको केवल यह पता होना चाहिए कि क्या करना है। यह निर्णय कैसे हुआ? — जिसको यह जिज्ञासा हो वह फिर मीमांसा पढ़ ले।।२७।।

कर्ममीमांसा की तरह उपासना-मीमांसा के निर्णय भी सुलभ हैं—

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम्।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः।।२८।।

ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों में उपासनाओं के अनुष्ठान-प्रकार वर्णित हैं। विचार में अक्षम मनुष्य गुरु से उन्हें सुनकर उपासना करते हैं।

ऋषियों ने उपासना की विधि बताने वाले ग्रन्थों में भी निर्णय किया है। उपासना का अनुष्ठान कैसे किया जाए, यह भी आर्ष ग्रन्थों के अन्दर बताया है। आर्ष इत्यादि ग्रन्थों में बार-बार इस बात को बताया है कि किस प्रकार से आत्मतत्त्व को बार-बार अपने मन में लाया जा सकता है। 'मर्त्याः', जो मरण-धर्म वाले हैं अर्थात् हम लोग। चूँकि हम लोगों की मृत्यु कभी भी हो सकती है इसलिये मनुष्यों को मर्त्य कहा जाता है। विचार से अनुभव होगा लेकिन उसके लिये काफी विचार करना पड़ता है ताकि अपने अन्दर जितने संदेह हैं वे सब निकल जायें। जीव का जीवन अनिश्चित है अतः शीघ्र से शीघ्र उस तत्त्व की प्राप्ति हो जाए, इसलिए मनुष्य को विचार करना चाहिये जो कठिन पड़ता है। प्रायः मनुष्य उतना विचार करने में समर्थ नहीं हो पाता, मन्द बुद्धि इत्यादि के कारण विचार में अक्षम रहता है। इसलिए उपासना को उपाय बताया है। उसको आर्ष ग्रन्थों के द्वारा गुरु से जानकर करना पड़ता है। गुरु से ही सुनना पड़ता है, चाहे जितना विचार कर लिया जाए, लेकिन जैसे यज्ञ के अनुष्ठान का ज्ञान करने के लिए याज्ञिक से ही सीखना पड़ता है वैसे दहर विद्या, शाण्डिल्य विद्या इत्यादि परम्परा से प्राप्त होती हैं, तभी उनका पूरा पता लगता है, अन्यथा ग्रन्थ में लिखा होने पर भी स्पष्ट नहीं हो पाता और जब तक स्पष्ट नहीं होता तब तक उपासना ठीक हो रही है या नहीं—यह पता नहीं लग पाता, जिस प्रकार कर्म को जानने वाला उस कर्म को सम्पादित करने के ढंग न बताए तो हमारा कर्म ठीक से सम्पादित हो रहा है—इसमें शंका ही रहती है।।२८।।

हम-जैसों के लिये मीमांसा का उपयोग भी बताते हैं—

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि सम्भवेत्।।२९।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेद के वाक्यों का स्वयं भी निर्णय करना चाहता व्यक्ति उनकी मीमांसा (अवश्य) करे लेकिन अनुष्ठान तो केवल प्रामाणिक उपदेश से सम्भव है।

वेद-वाक्यों में क्या कैसा विहित है इसका निर्णय बिना वेदवाक्यों के विचार के हो नहीं सकता, परन्तु अधिकतर फलप्रेप्सु अर्थात् फल प्राप्ति की इच्छा वाले ही होते हैं और फलप्राप्ति अनुष्ठानमात्र से हो जाती है। 'क्यों-क्या' के चक्कर वाले कम होते हैं। अधिकतर लोग चाहते हैं कि उस प्रकार को जान लें जिसे करके फल मिल जाए। कर्म व उपासना की यह विशेषता है कि अमुक चीज़ अमुक जगह ही लिखी है इस निर्णय का फल कुछ नहीं होगा जब तक कि अनुष्ठान नहीं करो। इसलिए जो फल को चाहता है वह तो बस तरीका जानकर अनुष्ठान को ही करना चाहता है कि फल मिल जाए। वह आप्त पुरुषों के उपदेश से अर्थात् जो उस कर्म-उपासना का जानकार आदमी है, जिसको उस कर्म-उपासना के बारे में निश्चित पता है, उस के उपदेश से अनुष्ठान सीख ले। जो यह निर्णय करना चाहे कि अमुक पद्धति ठीक है या नहीं, वह मीमांसाका विचार अवश्य करे। यद्यपि ऋषियों ने कल्पसूत्रों आदि के अन्दर निर्णय किया है, फिर भी आज तक इन बातों का विचार किया ही जा रहा है, ग्रन्थ लिखने वाले भी पूर्व-उत्तर पक्ष उठाते-रखते ही हैं। विचार करके तो वे भी उसी निर्णय पर पहुँचेंगे जहाँ ऋषि लोग पहुँच चुके हैं। परन्तु विचार किए बिना उनको संतोष नहीं होता। साधारण आदमी को जाननेमात्र से संतोष हो जाता है। उसको तो जैसा उपदेश मिला, वह वैसा अनुष्ठान करने लग जाएगा। विचार करके किसी नई बात का पता लगेगा यह तो असम्भव है क्योंकि ऋषियों ने जो निर्णय कर दिया वही ठीक है। मन की खाज मिटाने के लिए विचार करते ही हैं। उससे अनुष्ठान में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अनुष्ठान तो वही करना है जो बताया है। जैसे ऋषियों ने कर्म-उपासना को बताया वैसे ही उन्होंने वेदांत को भी बता दिया कि ब्रह्म आत्मा है। ऋषियों ने निर्णय कर दिया कि यही वास्तविक है, तुम्हारे मन में वेदवाक्य का विचार करने की इच्छा है तो करो, अंत में वास्तविक बात तो गुरु के मुख से सुनी हुई ही है।।२९।।

यदि गुरु-उपदेशमात्र पर्याप्त है तो क्या तत्त्वसाक्षात्कार के लिये विचार चाहिये ही नहीं? इसका उत्तर देते हैं कि अवश्य चाहिये–

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम्।
आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित्।।३०।।

कर्म-उपासना के अनुष्ठान-प्रकार के निश्चित ज्ञान की तरह लोगों को केवल आप्त उपदेश से ब्रह्म का साक्षात्कार कभी कहीं सम्भव नहीं।

अनुष्ठान कैसे करना है–इसका ज्ञान गुरु के उपदेश से ही हो जाता है। चाहे विचार न करो तो भी अनुष्ठान के ढंग का ज्ञान हो जाता है, लेकिन ब्रह्मसाक्षात्कार इस प्रकार का नहीं है कि कहने से हो जाए! चाहे जैसा आप्त पुरुष हो, ब्रह्मनिष्ठ गुरु हो, उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपदेशमात्र से कहीं भी ब्रह्मसाक्षात्कार होना सम्भव नहीं होता है। बिना खुद विचार किए अपरोक्ष निश्चय नहीं हो सकता। ऋषियों के निर्णय को आत्मसात् करने के लिये, अपना निर्णय बनाने के लिये विचार आवश्यक है।।३०।।

यदि निर्णय गुरुवचन से ही सिद्ध है तो विचार ज़रूरी क्यों? यह समझाते हैं—

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत्।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः।।३१।।

अश्रद्धा परोक्ष ज्ञान में रुकावट है, अपरोक्ष में नहीं। अविचार अपरोक्ष ज्ञान में रुकावट है (अतः रुकावट हटाने के लिये विचार चाहिये)।

गुरु के उपदेश से परोक्ष ज्ञान हो जाएगा। 'सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है, वही जीव के साक्षीरूप से मेरे अन्दर विद्यमान है' ऐसा परोक्षज्ञान तो विचार के बिना हो जाएगा। परोक्षज्ञान में रुकावट करने वाला श्रद्धा का अभाव है। जो बात कही गई, उसमें यदि तुम्हारी श्रद्धा नहीं है तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होता, उसमें संदेह बना रहता है। विश्वास होगा तो परोक्ष ज्ञान हो ही जाएगा। अविचार उसको नहीं रोकता, उसको तो अश्रद्धा ही रोकती है। परन्तु जो अपरोक्ष ज्ञान या साक्षात्कार है, उसमें अश्रद्धा रुकावट नहीं है, रुकावट तो विचार न करना ही है। अपरोक्ष ज्ञान को रोकने वाली चीज़ अविचार ही है। चाहे जितनी श्रद्धा हो परन्तु 'यह दीखने वाला संसार सच्चा नहीं है' यों यह झूठा, बिना विचार के नहीं लगता। जितनी चिंता हम लोग संसार की चीज़ों के लिए करते हैं उसका सौवाँ हिस्सा भी हम परमात्मा के लिए नहीं करते।

ऐसा क्यों होता है? आदमी कहता है कि 'संसार की कोई चीज़ स्थिर नहीं रहनी है, यह भी ठीक है कि हम मरकर जाएँगे तो ये बच्चे, धन आदि सभी हमारे किसी काम नहीं आने हैं। यह हम जानते हैं, परन्तु फिर भी करना तो पड़ता ही है।' स्वप्न से उठने के बाद क्या कभी चिंता करते हैं कि स्वप्न में हम जवान लड़के को छोड़कर आए थे, उसका ब्याह कौन कराएगा? कुछ नहीं सोचते, क्योंकि जानते हैं कि वह लड़का जितनी देर दीखा उतनी ही देर भी नहीं था। ठीक इसी प्रकार जाग्रत् संसार में जो लड़के पैदा हुए उनके प्रति यह वृत्ति नहीं बन पाती। श्रद्धा तो है कि मरकर जाना है, परन्तु यह जो दीख रहा है वह सच्चा नहीं है—यह निश्चय अनुभव नहीं हो रहा है। यह अपरोक्ष ज्ञान बिना विचार के सिद्ध नहीं हो सकता। परोक्ष ज्ञान तो हो जाएगा कि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित, देश-काल-वस्तु तीनों परिच्छेदों से रहित ब्रह्म है। वह तो 'कोई ब्रह्म' लगता है इसलिए विरोध नहीं आता। विरोध तब आता है जब अपने सिर में दर्द होता है, हमारा जी घुटता है; तब 'मैं सिर से एक नहीं हूँ, सिर से अलग हूँ', यह कैसे हो सकता है? अपरोक्ष ज्ञान तो यह हो रहा है कि 'मैं कर्त्ता-भोक्ता, सुख-दुःख का भोग करने वाला, कर्म करने वाला हूँ। क्या करुँ, सत्संग में बैठने का विचार तो था लेकिन सवेरे दुकान खोलनी पड़ती है, चाबी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरे पास है इसलिए जाना पड़ता है'। सब जानते हैं कि रात को बारह बजे चोर आकर दुकान से माल ले जाते हैं! फिर भी यह निर्णय नहीं होता कि मैं नहीं जाऊँगा तो भी दुकान खुलनी होगी तो खुल जाएगी। अपरोक्ष ज्ञान है जीव-ईश्वर की सद्वितीयता का, सुख-दुःख के भोग का। अपरोक्ष ज्ञान हो रहा है कि संसार है। शास्त्र पर श्रद्धा होने पर भी इस अपरोक्ष ज्ञान को परोक्ष ब्रह्म-ज्ञान बाध नहीं सकता। अपरोक्ष ज्ञान के लिए तो विचार की अपेक्षा है। जब तक विचार नहीं किया जाएगा तब तक ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता। जब विचार से विरोध दूर हो जाता है तब अपरोक्ष ज्ञान प्रकट हो जाता है। इसलिये प्रतिबंध-निवृत्ति के लिये विचार कर्त्तव्य है।।३१।।

प्रश्न होता है कि हम तो बीस साल से सुन रहे हैं और विचार भी करते हैं, रोज़ सत्संग में आ रहे हैं, लेकिन हुआ कुछ नहीं! अभी भी हमें संसार सच्चा ही लगता है। इसलिए केवल विचार करने से क्या होगा? आप तो कोई अनुष्ठान बताईए जिससे यह ज्ञान होता हो या कोई ध्यान ही बताईए जिससे यह हो। दूसरे लोग कह भी देते हैं 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ', अरे! चाहे जितना विचार करो, विचार से कुछ नहीं होगा! अपने भी अनुभव में आता है कि विचार करने से होता नहीं है, अतः लगता है कि जरूर कोई न कोई छिपी हुई चीज़ है जो गुरु जी नहीं बता रहे। इसके उत्तर में विचार का ही महत्त्व कहते हैं–

विचार्याप्यापरोक्षेण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत्।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद् भूयो भूयो विचारयेत्।।३२।।

विचार कर भी ब्रह्मात्मा को अपरोक्ष न समझ पाने पर भी पुनः पुनः विचार ही कर्त्तव्य है क्योंकि उसी का अवसान अपरोक्ष में होता है।

कई अच्छे पंडितों की शंका होती है कि हम वेदान्त पढ़ा तो देते हैं, लेकिन सच्ची बात यह है कि हमें जँचता नहीं है। मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ यह जो ब्रह्म और आत्मा की सर्वथा एकता है, इसे अपरोक्ष रूप से नहीं जानते। कोई संदेह करे तो हम जवाब तो दे देंगे, परन्तु 'ऐसा मैं हूँ' यह नहीं जानते। आचार्य कहते हैं कि दूसरा कोई उपाय नहीं है! जब तक अपरोक्ष ज्ञान न हो जाए तब तक बार-बार विचार ही करो। सिवाय विचार के, अपरोक्ष ज्ञान का और कोई साधन नहीं है, कोई अन्य तरीका नहीं है जो तुम्हें अपरोक्ष ज्ञान दे दे। इसलिए चाहे बीस साल हो जाएँ और चाहे मरने का क्षण आ जाए, जब तक अपरोक्ष ज्ञान न हो तब तक साधक विचार में ही लगा रहे, विचार से ही ज्ञान होगा, और किसी से नहीं होगा। असली प्रतिबन्धक कोई न कोई, किसी न किसी प्रकार का संदेह है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि किसी समय कुछ सुन कर कोई संदेह मिट जाता है, किसी समय कोई और संदेह मिट जाता है। विचार करते-करते, सुनते-सुनते कभी न कभी सारे संदेह मिट जाते हैं। कौन-सा संदेह किस प्रकार समझाने से मिटेगा–यह संदेह मिटने के बाद ही पता लगता है! यह वैसा ही है जैसे एक खिलौना आता है जिस के अन्दर छोटे-छोटे छह छेद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होते हैं और छह ही उसमें छोटी-छोटी गोलियाँ होती हैं। खेल यह है कि सारी गोलियों को उन छेदों में डाल दो। तीन-चार या पाँच तक तो चली जाएँगी, सोचो कि छठी भी बस जाने वाली ही है, तब तक पहले वाली तीन फिर निकल जाती हैं! इसमें कोई कहे कि इन्हें बैठाने के लिए हनुमान चालीसा का पाठ करो, तो चाहे दस साल तक करते रहो, गोलियाँ बैठने वाली नहीं हैं। आचार्यों ने इतनी प्रक्रियाएँ बनाई हैं कि एक प्रक्रिया से निश्चय करने जाते हैं तो कोई संशय रह जाते हैं, उन्हें मिटाने जाते हैं तब तीन संशय और निकल आते हैं! भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं में कोई संदेह किसी से हट जाता है, दूसरा संदेह किसी दूसरी प्रक्रिया से हट जाता है। कई संशय हैं जिन्हें हटाना है पर ऐसी कोई एक प्रक्रिया नहीं जिससे *सारे* संदेह एक-साथ हट जाएँ। हटते ज़रूर हैं, लेकिन कब ?—यह पता नहीं है। विचार करते-करते कभी न कभी सारे संदेह दूर हो जाते हैं। इसलिए जब तक अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक विचार ही करना है, और कोई उपाय नहीं है।।३२।।

हम लोग मरणधर्मा हैं, यदि मरते दम तक भी बात नहीं बैठे तो क्या करें?—

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत्।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति।।३३।।

मरण-पर्यन्त विचार करते रहकर आत्मलाभ यदि न हुआ तो रुकावट दूर होने पर अन्य किसी जन्म में अवश्य होगा।

मरते दम तक आत्मप्राप्ति नहीं हुई तो फिर क्या प्रयास व्यर्थ गया? इसकी अपेक्षा तो हनुमान् जी का अनुष्ठान करते तो बन्दरों के लोक में, दिव्य लोक में तो पहुँच जाते! ऐसे विचार से क्या होगा? उत्तर में आचार्य कहते हैं, ऐसी बात नहीं है कि आत्मप्राप्ति नहीं होगी। किया हुआ विचार बेकार नहीं जाएगा। भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि यह विचाररूप धर्म ऐसा है जो कभी नष्ट होता ही नहीं है, अंततोगत्वा फल देगा ही। व्यास जी ने भी ब्रह्मसूत्र में यह कह दिया है कि ज्ञान यहीं हो जाता है परन्तु यदि यहाँ नहीं हुआ तो जन्मान्तर में विचार फल ज़रूर देगा, व्यर्थ नहीं जाएगा, वहाँ जल्दी हो जाएगा। अविचार प्रतिबन्धक है, कोई न कोई ऐसी शंका रह जाती है जिसका निराकरण नहीं हो पाता है। जैसे ही वह विचार की कड़ी जुड़ेगी वैसे ही बात बैठ जाएगी। सिवाय अविचार के और कुछ प्रतिबन्धक नहीं है अतः ठीक विचार ही उपाय है। इसलिए यदि इस जन्म में नहीं भी हुआ तो अगले जन्म में हो ही जाएगा।।३३।।

इसी बात को प्रमाण-सिद्ध बताते हैं। अंग्रेजी में कहावत है कि भगवान् पर विश्वास रखो, परन्तु बन्दूक में गोली तैयार रखो! यह उपदेश बहुत लोग देते हैं कि विचार करो जिससे ब्रह्मज्ञान हो जाए लेकिन साथ में कुछ न कुछ कर्म भी करो, भक्ति आदि करते रहो ताकि ज्ञान नहीं होगा तो ये काम आएँगे। ऐसा नहीं करो कि कर्म-उपासना बिलकुल छोड़ दो क्योंकि ज्ञान नहीं हुआ तो फिर नष्ट हो जाओगे। अर्जुन ने भी इसी बात को पूछा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था—'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति' कि कर्म-उपासना का सहारा छोड़ दिया और विचार सफल नहीं हुआ तो जैसे हवा में बादल छितर जाते हैं, ऐसे ही क्या हमारा हाल हो जाएगा? अधिकतर लोग कर्म और उपासना के अधिकारी होने के कारण उसी को ठीक समझते हैं, वे ज्ञान का साक्षात् विरोध नहीं करते, परन्तु कहते हैं कि ज्ञान या विचार करना अच्छी चीज़ है मगर कर्म-उपासना भी करनी चाहिए। इसलिए सिद्धान्ती को कहना पड़ता है कि कर्म-उपासना के रहते विचार ठीक से नहीं हो पाएगा। कारण यह है कि चाहे कर्म हो या उपासना हो, सब जगत् में सत्य-बुद्धि लाते ही हैं। कर्म-उपासना का फल सच्चा होगा— इस बुद्धि से ही आदमी कर्म-उपासना करता है। वैकुण्ठ सचमुच है, वहाँ जाकर कल्याण होना है यह मानते हैं तभी तो उपासना करते हैं। ऐसी भावना से द्वैतबुद्धि ही दृढ होगी, अद्वैतबुद्धि दृढ नहीं हो पाएगी। यही चीज़ लौकिक कर्मों के बारे में भी समझ लेनी चाहिए : लौकिक कर्मों में भी मनुष्य की यह बुद्धि होती है कि अमुक काम तो फल पाने के लिए ज़रूरी है। यह हम जानते हैं कि संसार मिथ्या है, लेकिन ज़रूरत पड़े तो करना ही है। जब तक यह 'ज़रूरत पड़ने' की भावना है तब तक कभी भी तत्त्वनिष्ठा नहीं हो पाएगी क्योंकि 'ज़रूरत' के पीछे भावना यह है कि संसार सच्चा है, सच्ची ज़रूरत को सच्चे उपाय से हटाना पड़ेगा। इसलिये 'जरूरत' है ही नहीं। विचार से निश्चय करना है कि वास्तव में जिन चीज़ों के विषय में यह निर्णय करना है कि ये हैं ही नहीं, उन्हें 'हैं' मानकर व्यवहार करना गलत है। प्रतीति हो रही है, प्रतीति को मना नहीं कर रहे हैं, परन्तु प्रतीति वैसे ही हो रही है जैसे रस्सी में साँप दीखता है; साँप की प्रतीति होती है, साँप होता नहीं है। इसी प्रकार आवश्यकता की प्रतीति है, परन्तु आवश्यकता सचमुच में होती नहीं है। इसी प्रकार किसी चीज़ से आवश्यकता पूरी हो गई— ऐसी प्रतीति होती है, वस्तुतः वह आवश्यकता पूरी या दूर होती नहीं है। इसलिए कहते हैं कि कैवल्यार्थी के लिये विचार ही कर्त्तव्य है—

इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम्।
शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः।।३४।।

ब्रह्मसूत्र-रचयिता ने बताया है कि तत्त्वज्ञान के साधन इस जन्म में या परजन्म में सफल हो जाते हैं। वेद कहता है कि संसार में बहुतेरे हैं जो सुनते हुए भी तत्त्व को समझते नहीं।

सूत्रकार भगवान् बादरायण ने (३.४.५१) कहा है 'ऐहिकम् अपि अप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' विचार यहीं फल देता है, इस शरीर में फल दे देता है। अगर विचार की पूर्णता नहीं हुई, कोई प्रतिबन्धक रह गया, तो जब प्रतिबन्धक हट जाएगा तब अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाएगा। जितने संदेह हटाए गए वे तो फिर आएँगे नहीं पर जो दस-पाँच संदेह बचे हुए हैं, वे जैसे ही हटेंगे वैसे ही अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाएगा। इसलिए, मरकर जाएँगे तो यहाँ किया हुआ विचार नष्ट नहीं होगा। लोक में देखा जाता है कि ऐसे-ऐसे बच्चे हैं जो चार साल के होने पर भी स्नातक-स्तर के गणित के सवालों का जवाब निकाल लेते हैं! चार साल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का बच्चा संगीत की ऐसी ध्वनि निकालता है जो बड़े-बड़े गवैयों के लिये कठिन है। क्योंकि पूर्वजन्म में अभ्यास किया हुआ है, इसीलिए वैसा कर लेता है। इसी प्रकार, बहुत से बच्चे चार-आठ साल की उम्र में संसार की अनित्यता का अनुभव करते हैं। ऐसा अनुभव तभी करते हैं जब उनमें पूर्व जन्म के संस्कार हैं जो उस उम्र में उदय होते हैं। इसलिए स्पष्ट है कि विचार का फल अर्थात् तत्त्वज्ञान यहाँ भी हो जाता है या आगे जब प्रतिबंधक हटता है, तब हो जाता है। पुराणों में भी यह बात आती है और स्वयं श्रुति भी कहती है। श्रुति में कहाँ कहा है, इसका एक स्थल बताते हैं—'शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः' (कठोपनिषद् १.२.७) अर्थात् जो सामने उपस्थित लोग हैं, उनमें से बहुतों को बार-बार सुनने पर भी बात समझ में नहीं आती। सौ में से किसी एक को बात ठीक समझ में आ जाती है, बाकियों को नहीं आती। एक बार सुनकर एक को तो बिलकुल स्पष्ट समझ में आ जाती है, दूसरा बिलकुल नहीं समझ पाता, एक को थोड़ी समझ में आती है, थोड़ी नहीं आती, कुछ संदेह रह जाते हैं। ऐसा भेद क्यों है? जिसने तो पहले साधना कर रखी है, उसको तो वह बात एक बार सुनकर ही स्पष्ट हो जाती है। जिस की तत्सम्बन्धी पूर्व साधना नहीं है, उसकी समझ में ही नहीं आता कि क्या कह रहे हैं। जिसने थोड़ा विचार किया हुआ है, उसकी समझ में कम आता है, कुछ नहीं भी आता। प्रतिबंधक शत प्रतिशत हैं, तो बिलकुल समझ में नहीं आयेगा। सुनते हुए भी इसलिए समझ में नहीं आता कि पहले विचार किया हुआ ही नहीं है। यदि पहले का किया हुआ विचार फलोन्मुख है तो बात सुनते ही समझ में आ जाती है। बहुत-से लोग कहते हैं कि वेदान्त बड़ा कठिन है, कुछ समझ में नहीं आता। घण्टी बजाना, पीतल ठोकने की बात तो समझ में आती है! सर्वथा अविचारशील की समझ में बार-बार सुनने पर भी समझ में नहीं आता।।३४।।

फिर वह कब जानेगा? प्रतिबंध दूर होने पर ही उसे समझ आयेगी। इसमें भी श्रुति-वचन सुनाते हैं—

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान्।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु।।३५।।

गर्भ में ही लेटे हुए वामदेव ने पूर्व जन्म में अभ्यास किये विचार से ब्रह्म समझ लिया। जैसे अध्ययन आदि में (पूर्वलब्ध संस्कार प्रभावी देखे जाते हैं वैसे ब्रह्मविद्या में भी है)।

श्रुति ने (ऐ.अध्याय २) वामदेव का दृष्टांत दिया है : वामदेव महर्षि ने खूब वेदान्त-श्रवण किया परन्तु उन्हें ज्ञान नहीं हुआ, मर गए, पुनः गर्भ में आए पर गर्भ में आते ही उन्हें ज्ञान हो गया। उनके जो साथी थे वे अभी श्रवण में ही लगे हुए थे। उनमें से कईयों का उत्साह टूटने लगा था कि इतने साल श्रवण करते हुए बीत गए, कुछ नहीं हुआ। वामदेव को ज्ञान हुआ, सब के मन की बात जानते थे। उन्होंने सोचा कि सब इतनी दूर तो आ गए लेकिन अब इन्हें अश्रद्धा हो रही है! चूँकि गर्भ में लेटे हुए ही उन्हें ज्ञान हो गया था इसलिए गर्भ के अन्दर से ही उन्होंने उन सब को कहा—'अरे! तुम लोग घबराओ नहीं। मैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी तुम लोगों में से ही अमुक नाम वाला था। अब मैं गर्भ में आया हूँ पर गर्भ में आते ही मुझे ज्ञान हो गया है। इसलिए तुम लोग इस विचार के मार्ग को मत छोड़ो, इसी में डटे रहो।' यह बात बिलकुल पक्की, निश्चित है कि जीव ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। श्रुति ने कहा है। 'गर्भ एव शयानो वामदेवः प्रतिपेदे' गर्भ में लेटे हुए ही उन्हें ज्ञान हुआ। गर्भ में ही उन्हें साक्षात्कार हो गया। गर्भ में जाने से उन्हें कुछ नई चीज़ की प्राप्ति नहीं हुई। पूर्व में जो विचार का अभ्यास किया था उससे ही उन्हें ज्ञान हुआ क्योंकि गर्भ में तो कोई उपदेश देने वाला था नहीं। ऐसा कैसे होता है? जैसे अध्ययन में।।३५।।

अध्ययन का दृष्टांत स्पष्ट करते हैं–

बहुवारमधीतेऽपि तदा नाऽऽयाति चेत्पुनः।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत् पुमान्।।३६।।

बहुत बार पढ़ने पर भी उस समय यदि नहीं आता तो अगले दिन बिना पढ़े ही व्यक्ति को पहले पढ़ा याद आ जाता है।

कभी-कभी बहुत बार पढ़ी हुई बात भी याद नहीं आती। दूसरे दिन, न हमने कोई किताब पढ़ी, न कुछ प्रयत्न किया, बिना कुछ किए हुए ही वह बात ठीक स्मरण आ जाती है। इसीलिए याद आ जाती है कि पहले अध्ययन किया हुआ है। कोई कहे कि 'अकस्मात् याद आ जाती है तो फिर पढ़ने की क्या ज़रूरत है? बिना पढ़े भी याद आ जाएगी!' तो ऐसा नहीं होता। जिसने बीस साल तक ख़ूब अध्ययन या पाठ किया है उसी को याद आएगी, रास्ते चलते को तो याद नहीं आएगी। ठीक इसी प्रकार जिसने ख़ूब विचार किया है उसी को कभी अकस्मात्, जैसे वामदेव को हुआ, अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाएगा। *उस समय* उसने कुछ नहीं किया, फिर भी अकस्मात् वह तत्त्व एकदम चमक जाएगा। इसलिए जो अपरोक्ष साक्षात्कार प्राप्त करना चाहता है वह विचार में लगा ही रहे। भगवान् कहते हैं 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम् अपोहनं च' स्मरण होता है तभी जब परमेश्वर स्मरण कराता है। परमेश्वर जब अपोहन कर देता है उस समय स्मृति नहीं आती। परन्तु याद आता वही है जो पहले अध्ययन किया हुआ है। 'स्मरण कब होगा' यह परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है, होगा वही जो तुम्हारा अध्ययन किया हुआ है। इसलिए साधक विचार में तत्पर ही रहे, अन्य साधन में न लगे।।३६।।

पहले (श्लोक ३५ में) कहा था 'अध्ययनादिषु' अब 'आदि' पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं–

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते।।३७।।

खेती, गर्भ आदि जैसे समय से पकते हैं वैसे आत्मविचार भी समय से धीर-धीरे परिपक्व होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समय आने पर ही कृषि, गर्भ आदि चीज़ें पूर्णरूप से पक कर तैयार हो जाती हैं। 'काल' हमारे यहाँ परमेश्वर ही है। जब अर्जुन ने भगवान् से पूछा 'आप कौन हैं जो इस सारे संसार में विश्वरूप में प्रकट हो रहे हैं?' तब भगवान् ने और किसी का नाम न लेकर यही कहा 'कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' मैं काल ही हूँ। काल को हम लोग परमात्मा का साक्षात् स्वरूप मानते हैं। लोक अर्थात् जिस चीज़ को हम लौकते हैं या देखते हैं, जो तुरन्त नष्ट होता रहता है। एक की जगह दूसरी चीज़ तभी आएगी जब बीच में काल होगा। काल के कारण ही सारी चीज़ें नष्ट होती हैं और 'कालेन परिपच्यन्ते' काल अर्थात् परमेश्वर के संकल्प से ही चीज़ें पूर्णरूप से पकती हैं! थोड़ी-थोड़ी पकती जाती हैं परन्तु जब काल पूरा होता है तब पूरी पकती हैं। अमुक चावल साठ दिन में, अमुक पैंसठ या नब्बे दिन में पकता है, परन्तु जिसे हम साठ दिन में पकने वाला समझते हैं वह भी ५८-५९ दिनों तक भी पक ही रहा है। जब काल पूरा पकाएगा तभी परिपक्व होगा। लोक में जब कहते हैं कि समय या काल बड़ा बलवान् होता है तब काल अर्थात् परमेश्वर।

समय की बलवत्ता को कहते हुए बताया है कि वह भी एक काल था जब अर्जुन ने विराट् नगर में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि सब को अकेले ही हराया था, उसका कोई साथी वहाँ नहीं था। वही अर्जुन गाण्डीव लेकर प्रयत्न करता रहा परन्तु वह उसका अपना धनुष ही उसके द्वारा तैयार नहीं हो पाया! फिर उसी गाण्डीव धनुष को डण्डे जैसा लेकर मारने लगा, कहने लगा—'जानते नहीं कि मैं अर्जुन हूँ?' सारे डकैत हँसते रहे कि बड़ा भारी अर्जुन आया है! उसके देखते-देखते यादवों की सारी औरतों को भगा ले गए। कहाँ तो भीष्म, द्रोण आदि सब मिलकर भी उसका बाल बाँका नहीं कर सके और कहाँ वह डाकुओं का कुछ नहीं बिगाड़ सका। इसलिए काल अर्थात् ईश्वरेच्छा को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। जैसे खेती, वैसे ही गर्भ भी काल से परिपक्व होता है। हम जानते हैं कि दसवें महीने में बच्चा पैदा होता है, लेकिन वह भी कोई निश्चित नहीं कह सकता। कई बार सातवें या नौवें महीने में पैदा हो जाता है। हम अंदाज़ कर सकते हैं, परन्तु निश्चित रूप से भगवान् ही जानते हैं। वे परिपाक करेंगे तभी पूर्णतः तैयार होगा। इसी प्रकार अन्य सब चीज़ें भी समय से ही सम्पन्न होती हैं।

जब हम आत्मा के स्वरूप का ब्रह्मरूप से विचार करते हैं तो कोई नहीं कह सकता कि दस बार उपनिषद् की आवृत्ति करेंगे तब निश्चिय होगा या बीस बार आवृत्ति करने से होगा! समय आने पर ही होगा। इसलिए शास्त्रों के अन्दर बार-बार ईश्वरोपासना पर इतना ज़ोर दिया जाता है क्योंकि ईश्वर के अनुग्रह से ही फल होता है। भगवान् भाष्यकार बार-बार इस बात को याद दिलाते हैं कि परमेश्वर के अनुग्रह से ही अज्ञान का बंधन नष्ट होता है क्योंकि जब परमेश्वर अनुग्रह करेंगे तभी विचार पकेगा। जैसे पाक धीरे-धीरे होता है, पता नहीं चलता और तैयार हो जाता है, इसी प्रकार आत्मविचार में भी एक क्षण पहले तक पता नहीं चलता, फिर बड़ा भारी आश्चर्य होता है। भगवान् भाष्यकार कहते (वि. चू. ४८३) हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्।।'

अभी-अभी यह सारा जगत् सच्चा दीख रहा था और अचानक निश्चित ज्ञान हो रहा है कि यह तीन काल में नहीं है! प्रतीति हो रही है, परन्तु है-रूप से प्रतीति नहीं रह गई। इसलिए आत्मज्ञान के मार्ग में बड़ा धैर्य चाहिए, जल्दबाज़ी करने वाले को तत्त्वनिश्चय नहीं हो पाता।

एक बार नारद जी कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक तपस्वी घोर तपस्या कर रहा था। नारद जी भी उधर से निकले तो उस तपस्वी ने उनसे पूछा 'आप कौन हैं?' उन्होंने कहा—मैं नारद हूँ। उसने कहा—'फिर तो आप भगवान् के पास जाते होंगे, ज़रा उनसे पूछ कर आना कि मेरे ऊपर उनकी कृपा कब होगी, मुझे उनके दर्शन कब होंगे?' नारद जी 'ठीक है' कह कर चल दिए। थोड़ी दूर गए तो एक आदमी बड़ी शांति से जप, ध्यान आदि में लगा था, वैसा घोर तपस्वी नहीं था, परन्तु भगवान् का निरंतर चिंतन करता था। उसने भी बात-चीत में पूछा—'आप कौन हैं?' कहा—मैं नारद हूँ। उसने भी वही कहा कि 'भगवान् से पूछ लेना कि हमें उनके दर्शन कब होंगे?' नारद जी तो रोज़ घूमते-घूमते भगवान् के यहाँ जाते ही हैं। बातचीत में उन्होंने पूछ लिया 'एक बड़ा भारी तपस्वी है, उसने मुझ से पूछा था कि भगवान् के दर्शन कब होंगे?' भगवान् ने कहा 'उसे तीसरे जन्म में मेरे दर्शन हो जाएँगे।' फिर नारद जी ने दूसरे के बारे में भी पूछा, भगवान् ने कहा—'उसको कह देना कि जिस पेड़ के नीचे कुटिया बनाकर भजन कर रहे हो' उस पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने जन्म बीतने पर उसे दर्शन हो जाएँगे।' नारद जी फिर जब घूमते-घामते पहले वाले घोर तपस्वी के पास आए तो बताया—'भगवान् ने कहा है कि अब से तीसरे जन्म में तुम्हें दर्शन हो जाएँगे, इसलिए तीन जन्म तो लेने पड़ेंगे।' उसने गुस्से में कहा—'तू झूठा, तेरा भगवान् झूठा। मुझ जैसा घोर तपस्वी, सब तरह से कष्ट सहने वाला, सर्दी को सर्दी नहीं समझता, गर्मी को गर्मी नहीं समझता, गर्मी में भी पंचाग्नि तापता हूँ, सर्दी में गंगा जी के ठण्डे पानी में नहाता हूँ, मुझे तीन जन्मों के बाद दर्शन होंगे! तुम सब झूठे हो, भगवान् आदि कुछ नहीं है। इससे अच्छा तो हम जाकर संसार का आनन्द लें।' अब नारद जी दूसरे भक्त के पास जाने से डर रहे थे कि यह तीन जन्म सुन कर ही घबरा गया तो उससे जब पेड़ के पत्तों जितने जन्म बीतने के बाद की बात कहूँगा तो मेरा क्या हाल करेगा! फिर भी बड़ी तैयार करके, कि कुछ करेगा तो तुरन्त वहाँ से भागूँगा, फिर वहाँ पहुँचे क्योंकि जवाब तो उसे भी देना ही था। उसने नारद जी को बड़े आदर से बिठाया, दूध आदि पिलाया, फिर पूछा, —'आपने मेरे बारे में भगवान् से पूछा होगा।' नारद जी धीरे-धीरे बोले—'पूछा तो था, भगवान ने कहा है कि इस पेड़ में जितने पत्ते हैं उतने जन्म बीतने के बाद तुम्हें दर्शन होंगे।' वह तो यह सुनते ही आनन्द से नाचने लगा कि भगवान् की बड़ी कृपा है! अनंत जन्म तो बीत गए,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पेड़ में पत्ते हैं ही कितने, इतने जन्म भी समाप्त हो जाएँगे। आपने बहुत अच्छा किया कि मुझे भगवान् का निश्चय बता दिया। अब मैं शांति से भजन में ही लगा रहूँगा क्योंकि समय निश्चित हो गया, भगवान् ने स्वयं कह दिया।' ऐसा धैर्य हो तब आत्मविचार पकता है। भगवान् गौडपाद कहते हैं कि कुशा के एक कोने को समुद्र में डुबोकर बाहर छिड़कने से समुद्र को खाली करने जैसा बड़ा धैर्य जिसे हो, वही इस विचार मार्ग में लगे। यह नहीं समझना कि नहीं होगा, बिना किसी प्रकार का खेद मन में लाए हुए साधक इसमें लगा रहता है तो सफल हो जाता है। होगा तो ईश्वरानुग्रह से ही, इसलिए श्रीहर्ष कहते हैं 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसाम् अद्वैतवासना' ईश्वर के अनुग्रह से जीव के अद्वैत के संस्कार दृढ, परिपक्व होते हैं। एक युग में दो-तीन को ही होना बड़ा मुश्किल है, परन्तु जब परिपक्व हो जाता है तब संसाररूपी महाभय से वह छूट जाता है।।३७।।

भगवान् का अनुग्रह तुरन्त क्यों नहीं हो जाता? क्योंकि उसमें रुकावटें हैं–

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम्।।३८।।

वार्त्तिक में यह साफ-साफ बताया है कि तीन तरह की रुकावटों से बारम्बार विचार करने पर भी व्यक्ति तत्त्व को नहीं जान पाता।

बार-बार ऊहापोह और उपक्रम-उपसंहार के द्वारा विवेचन करके, विचार करके यह नहीं सोचना कि इतना विचार कर लिया, कुछ नहीं हुआ तो अब कुछ और ही काम कर लें, घण्टी आदि हिलाने से हो जाए! ऐसा नहीं है। होना तो विचार से ही है। भगवान् शंकर ने सूत-संहिता में बड़े स्पष्ट रूप से कहा है कि और सब प्रकार के चिंतनों की अपेक्षा 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' यह विचार श्रेष्ठ है। साधारण मालिक इस बात से खुश नहीं होता कि नौकर अपने को मालिक बताये। तुम अपने को देवता बताओ तो कौन देवता खुश होगा! कोई खुश नहीं होगा। परन्तु जब हम कहते हैं 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' तब परब्रह्म परमात्मा बड़े प्रसन्न होते हैं। उन्हें यह उपासना सबसे श्रेष्ठ लगती है। भगवान् शंकर कहते हैं कि 'शिवोऽहं' इस भावना से मैं जितना प्रसन्न होता हूँ और किसी भावना से नहीं होता। भगवान् ने गीता में कहा है–'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' सचमुच में ज्ञानी मेरा स्वरूप है। जब कहते हैं 'मैं ब्रह्म हूँ' तब परोक्ष भाव को हटाकर अपरोक्ष स्वरूप को समझते हैं, इसलिए शिव प्रसन्न होते हैं कि 'मेरे वास्तविक स्वरूप को समझ लिया'। इसीलिए करना बार-बार अद्वैत का विचार ही है और वह धैर्य से ही होगा।

इसमें समय क्यों लगता है? क्योंकि तीन प्रकार की रुकावटें है, उन्हें दूर करने में समय लगता है। प्रतिबंधक उसको कहते हैं जो सामग्री रहते कार्य न होने दे। जब तक रुकावट नहीं हटेगी तब तक कार्य प्रकट नहीं होगा। जैसे, पानी बरस रहा है, नदी में पानी बढ़ भी रहा है, फिर भी आगे पानी नहीं आ रहा है तो अवश्य बीच में बंधा बना हुआ है जो उस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पानी को आगे नहीं जाने देता। उस पानी को आगे लाने के लिए न पानी बरसने की ज़रूरत है, न कहीं से पानी लाने की ज़रूरत है; केवल यह ज़रूरत है कि उस बंधे को तोड़ दो, इसके अतिरिक्त और कोई रुकावट नहीं है। जो चीज़ रोक रही है उसे हटाना है। इसी प्रकार, श्रवण-मनन के सन्दर्भ में तीन प्रतिबंधक हैं जो रुकावट डालते हैं, जिन के कारण 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह जो वास्तविक तत्त्व है इसका साक्षात् अनुभव नहीं कर पाते हैं। प्रतिबंधकों की बात अपने मन से नहीं कही है, इस बात को साक्षात् भगवान् सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक में स्पष्ट रूप से कहा है।।३८।।

वार्तिक (बृ.सं.२९४-५) का प्रमाण उद्धृत करते हैं–

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बंधपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा।।३९।।

वह ज्ञान कैसे होता है? वह प्रतिबन्ध के पूरी तरह क्षय से ही होता है। प्रतिबंध भी भूत, भावी या वर्त्तमान हुआ करते हैं।

ज्ञान किस चीज़ से होगा? 'मैं ही ब्रह्म हूँ और ब्रह्म ही मैं हूँ' यह ज्ञान इसलिए नहीं हो रहा है कि तीन प्रतिबंधक हैं। जब तक ये प्रतिबंधक हैं तब तक ज्ञान नहीं होगा। इन प्रतिबंधों को हटाने से ज्ञान हो जाता है, जैसे बंधे को हटाने से पानी मिल जाता है। कोई भूत प्रतिबंधक है, कोई भावी और कोई वर्तमान प्रतिबंधक है। भूत अर्थात् पहले किए हुए कोई कर्म आदि ऐसे हैं जिनके कारण रुकावट है। कोई कर्म भावी अर्थात् आगे फलने वाले हैं और कोई इस समय मौजूद हैं जो ज्ञान होने में प्रतिबंधक हैं।।३९।।

प्रतिबंध-कल्पना का श्रुतिप्रसंग से समर्थन करते हैं–

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते।
हिरण्यनिधिदृष्टांतादिदमेव हि दर्शितम्।।४०।।

सोने के खजाने के उदाहरण से यही दिखाया कि जिसने वेद और उसका अर्थ पढ़ लिया वह भी रुकावट के कारण मुक्त नहीं होता।

जिसने वेद पढ़ लिया और वेद के अर्थ को भी जान लिया वह भी बद्ध रह जाता है। यहाँ वेद का अर्थ उपनिषद् है। जिसने उपनिषदों को पढ़ लिया, उनका भली प्रकार विचार करके अर्थज्ञान कर लिया वह भी मोक्षसे वंचित रह सकता है। केवल उपनिषदें बाँची हों ऐसा नहीं, बल्कि अर्थ या तात्पर्य का भी निश्चय कर लिया है फिर भी प्रतिबंधक के कारण ही मुक्त नहीं होता है अर्थात् अविद्या निवृत्त नहीं होती है। इस बात को श्रुति ने छान्दोग्य (८.३.२) में कहा है कि तुम्हारे बगीचे में ख़ज़ाना गड़ा हुआ है, उस ख़ज़ाने के ऊपर से रोज़ गुज़रते भी हो, फिर भी तुम पैसे के लिए मोहताज हो! तुम्हें कहीं से पैसा कमा कर नहीं लाना है क्योंकि तुम्हारे बगीचे में ही है, उसके मालिक तुम ही हो, तुम्हारा ही बगीचा है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिर भी जब तक वह गड़ा हुआ धन उघड़ न जाए तब तक तुम्हारे किस काम का है! श्रुति ने इस हिरण्यनिधि के दृष्टांत से इसी बात को बताया है कि उसके ऊपर रखा हुआ पत्थर ही प्रतिबंधक है। बाप का गाड़ा हुआ ख़ज़ाना वहीं है, केवल उस पर पत्थर रखा होने के कारण तुम्हारे लिए तो नहीं-जैसा है। इसी प्रकार तुम्हारी हृदय-गुहा के अन्दर तुम्हारे ही पिता परब्रह्म परमात्मा ने उस आत्मरूप को बिलकुल शुद्ध रूप में बिठाकर रखा है, परन्तु जब तक प्रतिबंधक उसके ऊपर पड़े हुए हैं तब तक तुम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। इससे श्रुति ने कहा कि प्रतिबंधक-निवृत्ति के बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकते॥४०॥

तीनों प्रतिबंधक कैसे हैं, यह बताते हुए पहले भूत प्रतिबंध दिखाते हैं—

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबंधतः।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते॥४१॥

संसार में ऐसा किस्सा सुनाया जाता है कि पूर्वकालीन महिषी-प्रेम द्वारा कृत प्रतिबंध से भिक्षु तत्त्व नहीं समझ पाया।

भूत प्रतिबंधक को बताना इसीलिए ज़रूरी है कि प्रायः वर्तमान प्रतिबंधक तो स्वयम् समझ में आता है। नदी के ऊपर बाँध बना हुआ है तो पानी रुका है, यह समझ में आ जाता है। अगर कोई कहे कि 'यहाँ दस साल पहले बन्धा बँधा हुआ था जिसके कारण पानी नहीं बह रहा है' तो कुछ समझ में नहीं आएगा! वर्त्तमान का ही प्रतिबंधक काम रोकता देखा जाता है। परन्तु आत्मज्ञान के लिए ऐसा नियम नहीं है। कोई संन्यासी बनने के पहले जब घर में था, उस समय उसकी एक भैंस बड़ी सुन्दर थी, बहुत बढ़िया दूध भी देती थी। उसने संन्यास लिया तो घर छोड़ दिया, उस भैंस को भी घर में छोड़कर आया। वह श्रवण आदि साधन में लग गया। अब भैंस उसकी नहीं और उसका दूध भी नहीं निकालता, इस समय उसका कुछ पता भी नहीं है। पहले उसे उस भैंस से बड़ा स्नेह था। गुरु जी ने उसको बार-बार श्रवण कराकर देखा तो पाया कि उसका चित्त इधर-उधर जाता था, श्रवण में एकाग्र नहीं होता था। गुरु जी ने पूछा—'आख़िर तुझे क्या याद आती है, क्या घर की कोई बात याद आती है?' उसने कहा—'बाकी कुछ याद नहीं आता, परन्तु मुझे अपनी भैंस बहुत याद आती है। वह बड़ी सुन्दर थी, बढ़िया दूध देती थी। बस वही बीच-बीच में बहुत याद आती है।' अधिक प्रेम था इसलिए उस भैंस में उसे असत्यत्व-बुद्धि नहीं होती थी, बाकी चीज़ों में हो जाती थी। संसार की अन्य चीज़ें सत्य नहीं हैं, यह तो विचार से निश्चय हो जाता था पर बीच-बीच में भैंस की याद आती थी तो लगता था कि भैंस थी तो बहुत अच्छी ही। वह संन्यासी तो हो गया था लेकिन भूत काल का स्नेह ही विचार में प्रतिबंधक बना था इसीलिए उस संन्यासी को तत्त्वज्ञान नहीं हो रहा था। यह लोक में कोई प्रसिद्ध कथा है जिसे सब लोग जानते हैं॥४१॥

गाथा सुनाकर उसके तात्पर्य को बताते हैं कि उस भैंस के स्नेह के रहते ज्ञान कैसे होगा?—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान्।
ततो यथावद्वैदेष प्रतिबन्धस्य संक्षयात्।।४२।।

उसके स्नेह के अनुसार गुरु ने महिषी में ब्रह्मतत्त्व घटाकर बताया, उससे रुकावट दूर हो जाने से भिक्षु सही बात समझ गया।

गुरुजी ने समझ लिया कि बाकी चीज़ों का विचार करते समय इसके अन्दर राग का प्रतिबन्धक नहीं रह रहा है, लेकिन भैंस को याद करते समय सब गड़बड़ हो जाता है। उन्होंने उसी के विवेक को स्पष्ट करना शुरू किया। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस के जीवन में आता है कि उनको भगवती काली से बड़ा प्रेम था। जब उनके संन्यास-गुरु तोतापुरी ने सब चीज़ समझा कर कहा कि 'अब बिलकुल स्थिर होकर ब्रह्मचिन्तन करो' तो थोड़ी देर बाद ही रामकृष्ण परमहंस कहने लगे 'बाकी सब चीज़ें तो मन से हट जाती हैं परन्तु काली की मूर्ति आ जाती है, माँ सामने आ जाती है, उसे मैं नहीं हटा पाता क्योंकि वही इष्ट है, उसमें बड़ा प्रेम है।' तब गुरुजी ने कहा कि विवेक की तलवार से उसके दो टुकड़े करके काट दो! जो अनुभव में आ रहा है वह मिथ्या है और जो अनुभवरूप ज्ञान है वह सच्चा है। इसमें युक्ति भी बताई। फिर जैसे ही उन्होंने उस रूप को दृश्यभाव वाला होने से काट दिया वैसे ही शुद्ध रूप में स्थित हो गए। इसलिए जिस चीज़ से स्नेह होता है उसी का विवेक अधिक करना पड़ता है। जब गुरुजी समझ गए कि केवल भैंस में उसका स्नेह है तब उसका अनुसरण करके उससे कहा 'तू उस भैंस में ही तत्त्व की दृष्टि कर'। उसे तत्त्व का उपदेश किया कि जब नाम-रूप उपाधि वाली भैंस सामने आए तो उस के अन्दर चिन्तन कर कि उपाधि में सदंश, चिदंश और आनन्दांश क्या है? उसने ऐसा चिंतन किया तो नाम-रूप अलग हो गए और सच्चिदानंद बच गया। भिक्षु साधक ने महिषी का ही विवेक कर दिया तो यथावत् सच्चिदानंदरूप ब्रह्म जैसा है वैसा ही उसे साक्षात्कार हो गया क्योंकि जो नाम-रूप के प्रति स्नेहात्मक भूत प्रतिबंधक था वह उस चिंतन से छिन्न हो गया। चूंकि उस भैंस को छोड़ ही आया था इसलिये उसका स्नेह वर्तमान में प्रतिबंधक बन नहीं रहा था। इस तरह, पहले किया हुआ स्नेह भी प्रतिबंधक बन जाता है।।४२।।

भूत प्रतिबंधक को बता चुके, अब वर्तमान प्रतिबंधक को बताते हैं–

प्रतिबंधो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्यय-दुराग्रहः।।४३।।

विषयों में आसक्तिरूप, बुद्धि में सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करने में असमर्थता, अनुभव-प्रमाण से रहित तर्क तथा शास्त्रीय से विपरीत भाव में आग्रह–ये (चार प्रधान) वर्त्तमान प्रतिबन्धक हैं।

वर्तमान प्रतिबंधकों में सबसे पहला विषयासक्ति है। भिक्षुक को तो केवल महिषी में आसक्ति थी, लेकिन प्रायः लोगों को अनेक विषयों में आसक्ति होती है। कुछ के अनुसार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'महिषी' से महारानी समझी जा सकती है। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, इनमें से किसी को एक-दो में तो किसी को पाँचों में आसक्ति रहती है। यह वर्तमान में, साधना-काल में सामने है। जिस चीज़ को पाना चाहते हो वह भी मन के सामने रहती है और जो चीज़ सामने मौजूद है, उससे तो आसक्ति है ही। लता के ऊपर अंगूर लगा हुआ है, सामने दीख रहा है तो मन चटकारा मारता है कि एक तो तोड़कर खा ही लें। कई बार तो अभी अमरूद लगा नहीं है, पेड़ पर फूल ही आया है, तभी मन में हो जाता है कि यह अमरूद खाने को मिलेगा, बड़ा मज़ा आएगा। इसे हटाने का उपाय आगे बताएँगे। दूसरा प्रज्ञामान्द्य है। बहुत से लोगों की समझने की शक्ति, प्रज्ञा बड़ी मन्द होती है। लोक में भी देखा जाता है कि किसी को थोड़ा-सा इशारा मिले तो बात समझ जाता है, किसी को एक ही बार कहो तो समझ लेता है और कोई बार-बार कहने से भी नहीं समझता! मनु महाराज कहते हैं 'यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किं' जिसकी अपनी प्रज्ञा नहीं है वह शास्त्र में कही हुई बात को, तत्त्व को सुनकर समझ ही नहीं सकता। जैसे पानी भरी बाल्टी में एक बूंद तेल डालें तो थोड़ी देर के बाद देखोगे कि वह तेल सारी बाल्टी पर फैल जाता है वैसे प्रज्ञा की तीक्ष्णता होती है तो थोड़ी-सी भी जानकारी को सर्वत्र फैलाकर उसके समग्र रूप को देख लेती है कि इस तथ्य का कहाँ-कहाँ, क्या-क्या प्रभाव हो सकता है। जहाँ प्रज्ञा की तीक्ष्णता नहीं होती है वहाँ केवल जितना कहा है उतना ही समझ आता है।

प्राचीन काल का दृष्टांत है : बढ़िया खीर बनाई, बनाकर बनाने वाले ने सोचा कि स्नान वगैरह कर आएँ तो खीर खाएँगे। पास वाले से कहा, 'देखना, कौए आकर खीर न खा जाएँ।' यह कहकर नहाने चला गया। नहाकर आया तो पूछा 'कौए तो नहीं आए थे?' खीर के पास बैठे हुए आदमी ने कहा 'कौए तो नहीं आए थे, एक कुत्ता आया था और खीर खा गया।' उसने कहा—'तू यहाँ बैठा हुआ क्या कर रहा था?' उसने कहा—'आपने कहा था कौए खीर न खा जाएँ, तो मैं देख रहा था, कौओं को भगाना था। आपने कुत्ते को भगाने को तो कहा नहीं था!' खीर बनाने वाला अपना माथा ठोकने लगा कि इतने परिश्रम से खीर बनाई थी, इसने नष्ट करवा दी। जब कौओं से बचाने को कहा था तो कुत्तों से बचाने को भी समझ लेना था। प्रज्ञामांद्य वाला जितना कहा उतना ही समझता है। उसे यह प्रतीत नहीं होता कि मतलब है कि जो भी विघ्न डाले उससे बचाना। प्रज्ञा की मन्दता होती है तो वह श्रवण नहीं कर पाता चूँकि शब्द लक्षणा से ही ज्ञान देगा जैसे कौए से लक्षणा केवल चिड़िया आदि की ही नहीं, कुत्ते, बिल्ली की भी करनी थी। जो भी खीर बिगाड़े, गिराये गंदी या जूठी करे सभी से बचाने में तात्पर्य है। पहले पंजाब में एक सम्प्रदाय था जिसे चाकूकटिया कहते थे। तुमने खिचड़ी या खीर बनाकर तैयार की, वे अकस्मात् आएँगे और कहेंगे—'देखो-देखो इसमें तो चींटा पड़ा है,' जब तक तुम देखो तब तक चींटा निकालने के लिए उसमें अपना हाथ (या चाकू) डाल देंगे और कहेंगे कि 'अब यह आपके खाने लायक नहीं रही, हम ले जाते हैं'। कौओं से बचाओ का मतलब सबसे बचाना ही समझना पड़ेगा। यह बात लक्षणा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से ही समझ में आती है। मन्द प्रज्ञा वाला लक्षणा नहीं कर सकता शब्द को ही पकड़े रहेगा और शब्द का विषय ब्रह्म है नहीं। प्रज्ञामान्द्य भी अभी, इस समय है; पहले था इसलिए ज्ञान नहीं हुआ—ऐसा नहीं है।

कुतर्क करने वाले को भी ज्ञान नहीं होता। कुतर्क करने वाला यही समझने का प्रयास करता है कि बतायी बात कैसे ठीक नहीं है! इसी प्रकार से वह सोचता है। इसलिए आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है 'दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्' श्रुति जिस बात को कह रही है उसे उसी तरह जैसे समझा जा सकता है, वह युक्ति सोचो। वह बात कैसे कट सकती है, यह मत सोचो। वह बात कैसे समझी जा सकती है, अपने मन में स्थिर हो सकती है, वह युक्ति सोचो। कुतर्की को हमेशा वही तर्क उपस्थित होता है जो श्रुतिमत को काट सके। श्रुत्यर्थ को अभिप्राय से विपरीत तरफ ले जाना कुतर्क है। जिसमें श्रुति के अर्थ का निर्णय करने का प्रयत्न नहीं, बाल्कि श्रुति को तात्पर्य-विरुद्ध कैसे समझा जाए, यह सोचना है, वही कुतर्क है।

विपर्यय-दुराग्रह—जो विपरीत ज्ञान है उसके प्रति दुराग्रह करना कि वही ठीक है। विपर्यय ज्ञान है कि मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ। दुराग्रही कहेगा कि वेद भले ही कहे, फिर भी कर्त्ता तो हूँ ही, भोक्ता तो हूँ ही। विपर्यय के प्रति दुराग्रह कि ऐसा तो है ही, यह भी प्रतिबंधक है। धन के बारे में चाहे जितना समझाएँ कि धन के अन्दर क्या-क्या दोष हैं फिर भी दुराग्रही का यह निर्णय रहता है कि ज़रूरी तो है ही, भले ही बिलकुल दोष की चीज़ है। सिग्रेट पीने वाले को अनेक कारण बताओ कि सिग्रेट पीने से नुकसान होता है, अंत में कहेगा—फिर भी दो-चार प्रतिशत ऐसे भी होते हैं जिन्हें नुकसान नहीं होता! मुझे नुकसान नहीं होगा—यही उसके कहने का मतलब है अर्थात् उसे लगता है कि सिग्रेट पीने से नुकसान नहीं होता। भले ही प्रमाण हो कि नुकसान होता है पर वह कहता है कि कोई नुकसान नहीं होता। विपर्यय में दुराग्रह वाला कहता है कि यह ठीक है कि शास्त्र हमको अकर्त्ता-अभोक्ता कहता है, फिर भी फल होगा तो कुछ करने से ही, बिना किए थोड़े ही हो जाएगा! यह दुराग्रह या अभिनिवेश भी वर्तमान में मौजूद प्रतिबंधक है। विषयासक्ति, प्रज्ञामांद्य, कुतर्क और विपर्यय या विपरीत ज्ञान में दुराग्रह—सभी प्रतिबंधक हैं। जब इन्हें हटा देते हैं तब वहीं पहले किया हुआ जो तत्त्वमसि आदि का विचार है, वह फल दे देता है। ॥४३॥

आत्मज्ञान न होने में कारण तीन तरह के प्रतिबंधक हैं—भूत, भावी और वर्तमान। भूत प्रतिबंधक अर्थात् जिसका पहले अनुभव किया है उसकी स्मृति और वर्तमान प्रतिबंधक अर्थात्, जो मौज़ूद विषय है उसके प्रति आसक्ति, प्रज्ञा की मन्दता, कुतर्क और विपरीत ज्ञान में दुराग्रह। भूत प्रतिबंधक की निवृत्ति का उपाय बताया कि जिसकी स्मृति में स्नेहादि है उसी के अन्दर आत्मदृष्टि करना। अब वर्तमान प्रतिबंधक की निवृत्ति का उपाय बताते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम्।
नीतेऽस्मिन् प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते।।४४।।

उस-उस रुकावट को दूर करने के लिये उचित साधन शम आदि एवं श्रवण आदि से इस (वर्त्तमान) रुकावट का नाश कर प्रतिबन्ध दूर होने से साधक प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता पा लेता है।

श्रुति में कहा है 'शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा'; किसी शाखा में केवल 'समाहितो भूत्वा' कहा है और किसी शाखा में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' कहा है। प्रायः दोनों का समाहार कर देते हैं। विषयासक्ति हटाने के लिए शमादि को साधन बताया। इसलिए उत्तरनारायण उपनिषद् में कहा है 'शमेन शांताः शिवमाचरन्ति'। शम अर्थात् मन को विषयों से दोष-दर्शन के द्वारा हटाना। इसलिए वैराग्य के बाद ही शम आदि को गिना गया। वैराग्य के द्वारा राग के विषयों में दुःख-दर्शन तो हो जाता है परन्तु दुःख-दर्शन के बाद भी उधर मन जाता है, उसको धीरे-धीरे बार-बार विचार करके वहाँ से हटा लेना है। इसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त नहीं होने देना है। इस प्रकार जब शम से शांत हो जाता है तब शिवतत्त्व अपने में प्रत्येक क्षण प्रकट होने लगता है। प्रज्ञामान्द्य को दूर करने के लिए बार-बार श्रवण-मनन का अभ्यास करना है। तेज़ छुरे से काग़ज एक झटके से फट जाता है। भुथरी छुरी हो तो वैसा नहीं कटता लेकिन बार-बार जब उसे धार लगाते हैं तो वही छुरी कागज को काट देती है। ठीक इसी प्रकार जिसकी प्रज्ञा तीव्र होती है वह तो थोड़ा श्रवण करने से ही सब तरह बात को समझ लेता है। लेकिन जिसमें यह सामर्थ्य नहीं है, वह जब बार-बार श्रवण करता है तो बार-बार झटका लगते-लगते, जैसे धार वाली छुरी से काग़ज कट जाता है, इसी प्रकार प्रज्ञामांद्य हटने से ज्ञान हो जाता है। बार-बार श्रवण करना इसी से प्रधान है। कुतर्क को हटाने के लिए मनन प्रधान है और विपरीत-दुराग्रह को हटाने के लिए निदिध्यासन प्रधान है। जिस-जिस प्रतिबंधक को हटाने के योग्य जो हथियार है, उस-उस के द्वारा जब ये प्रतिबन्धक क्षीण या नष्ट हो जाते हैं तब साधक ब्रह्म तत्त्व में स्थित हो जाता है। यहाँ प्रतिबंधक-नाश न कहकर प्रतिबंध-क्षय इसलिए कहा है क्योंकि ये सारे दोष बिना ब्रह्माकार वृत्ति के बने हुए समूल नष्ट नहीं होते। फिर भी उक्त साधनों को करने से इतने क्षीण हो जाने चाहिए कि श्रवण से उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति पर बोझ न रहे अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति को बन जाने दें। जब ये क्षीण हो जाते हैं या इनका बोझ कम हो जाता है तभी प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार वर्तमान प्रतिबंधक की निवृत्ति का उपाय बताया। ॥४४॥

भूत और वर्तमान प्रतिबंधकों को तो हम इन प्रयत्नों से हटा सकते हैं लेकिन भावी प्रतिबंध तो अभी पैदा ही नहीं हुआ है, वह जब सामने आएगा तब पता चलेगा। इस लिए अब उसे बताते हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आगामिप्रतिबंधश्च वामदेवे समीरितः।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः।।४५।।

आगे आने वाला प्रतिबन्ध (अर्थात् प्रारब्धशेष) वामदेव के प्रसंग में कहा गया है। वामदेव का वह प्रतिबंधक एक जन्म में समाप्त हो गया था। भरत का वैसा प्रतिबंध तीन जन्मों में नष्ट हुआ।

अधिकतर प्रारब्ध तो एक जन्म में अपना फल दे देते हैं। प्रारब्ध उसी कर्म को कहते हैं जिसे इस (वर्तमान) शरीर में भोगना है, प्रायोवाद से यही अर्थ है। परन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो कई जन्मों में फल देते हैं। जैसे ब्रह्महत्या कई जन्मान्तरों तक फल देने वाली होती है। संचित कर्म तो वे हैं जो फलोन्मुख नहीं हुए इसलिए वे ज्ञान से चले जाते हैं। परन्तु प्रारब्ध उन कर्मों को कहते हैं जो फलोन्मुख हो गए हैं अर्थात् इस जन्म में फल देना शुरू कर दिया है। हम विवेक वैराग्य के रास्ते लग गए, फिर भी प्रारब्ध तो अपना फल दे रहा है, क्योंकि वह फलोन्मुख हो चुका है। जिस कर्म का फल मान लो सात जन्मों तक भोगना है,उसने फल देना शुरू किया, एक-दो जन्म हुए और हम विवेकादि के मार्ग पर चल पड़े। वह कर्म तो पूरा होने में सात जन्म ले लेगा। प्रतिबंधक केवल पाप का ही नहीं होता है, पुण्य का भी प्रतिबंधक होता है। जो भी कर्म फल देना शुरू कर चुके हैं उनको तो भोगकर ही समाप्त करना पड़ेगा। जिन्होंने अत्यधिक कर्म और उपासना की है वे लोग सृष्टि के आदि में इन्द्र, यम आदि पदों पर परमेश्वर के द्वारा उन कर्मों के फलस्वरूप आरूढ किए जाते हैं। उन्हें वे कार्य इस सृष्टि के अंत तक भी करने पड़ सकते हैं। चूँकि उन की उत्कृष्ट कर्म-उपासना तो थी ही, इसलिए इन पदों पर जा कर उन्हें श्रवण-मनन करने को मिल गया और ज्ञान हो गया। परन्तु उनका वह प्रारब्ध सृष्टि के अंतकाल तक चलना है और उसी से उनको अनेक शरीर भी लेने पड़ते हैं। उन शरीरों के अन्दर उनका तत्त्वज्ञान तो अप्रतिहत रहता है परन्तु चूँकि वे फल भोगने हैं अतः द्वैतका सर्वथा अदर्शन नहीं हो पाता। जैसे सामान्य ज्ञानी को ज्ञान होने के बाद दस-बीस साल जीना पड़ता है और जब तक शरीर नहीं छूट जाता तब तक संसार-दर्शन रहता है वैसे ही उन को प्रलय तक रहता है। उनका भी तत्त्वज्ञान वैस ही दृढ रहता है जैसे प्रारब्धभोग-काल में ज्ञानी का रहता है। जैसे यहाँ दस-बीस साल परमेश्वर के संकल्प के अनुसार शरीर-निर्वाह दीखता रहता है वैसे ही वे लोग अतिदीर्घ काल तक परमेश्वर के संकल्प से सारे कार्यों को करते हुए कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। भगवान् भाष्यकार ने लिखा है कि ऋग्वेद में जो अपान्तरतमा ऋषि हैं वही कलिद्वापर की संधि में व्यास-रूप में अवतरित हुए।

आगामी प्रतिबंध वे हुए जो जन्मान्तर के शेष प्रारब्ध-भोग हैं। उसका निवर्तन संभव नहीं क्योंकि वे प्रारम्भ हो गए। उसमें यह नहीं कह सकते कि उसे भोगने के लिए दस-बीस साल या दस-बीस करोड़ साल लगेंगे। जब तक प्रारब्ध शेष होगा तब तक भोगना पड़ेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वामदेव महर्षि को 'गर्भ एवैतत् शयानो वामदेवः एवमुवाच'(ऐ. ४.५) गर्भ में ही तत्त्वनिष्ठा हो गई। इसलिए उनका तो एक ही जन्म हुआ जिससे भोग समाप्त हो गया। भरत राजा को तीन जन्म की ज़रूरत पड़ी। भरत ऋषभ देव के पुत्र थे, अखण्ड भूमण्डल के अधिपति थे। उन्होंने सब का त्याग किया और जंगल में जाकर तपस्या करने लगे। वहाँ उन्हें एक बार एक हिरण-हिरणी दीखे, हिरणी ब्याहने वाली थी। उसने उछलकर एक नाले को पार किया तो मृग-शावक गिर गया। यह देखकर भरत को दया आ गई, सोचने लगे कि बेचारे शावक का क्या होगा? जा कर उसे उठा लाए और उसका पालन-पोषण करने लगे। उस पर उन्हें इतना स्नेह हो गया कि निरन्तर उसी को सोचने लगे। वही हालत हुई, जैसा कबीरदास कहते हैं 'आए थे हरिभजन को ओटन लगे कपास'! भरत भी सब कुछ छोड़कर जंगल में आए तो थे भजन करने लेकिन दया का ऐसा स्वरूप कि उसी में फँस गए और यही चिंता करने लगे कि इस बेचारे का क्या होगा। इसलिए भाष्यकार ने लिखा है 'जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्' दया और निष्ठुरता, दोनों बंधन में डालती हैं। एक, दया राग के द्वारा और दूसरी, निष्ठुरता द्वेष के द्वारा। इस दया अर्थात् राग के कारण ही उन्हें अगले जन्म में हरिण बनना पड़ा, क्योंकि नियम है कि जो जैसा चिन्तन करते हुए मरेगा उसको वैसे शरीर की प्राप्ति होगी। परन्तु हिरण के शरीर में भी उनका ज्ञान बना रहा कि 'मैं इस प्रकार से लगा तो था परमेश्वर का भजन करके ब्रह्मप्राप्ति करने में पर जंगल में जाकर भी दयावशात् हरिण के स्नेह में फँस गया'।

जब हरिण का शरीर छूटा तब वे अपने पूर्व जन्म को ही याद कर रहे थे, इसलिए पुनः ब्राह्मण के घर पैदा हुए! वहाँ पैदा होकर उन्होंने निश्चय किया कि अब किसी से कुछ संबंध नहीं रखना है क्योंकि थोड़ा-सा संबंध रखा था तो क्या हालत हो गई! माँ-बाप ने जनेऊ आदि का प्रबंध किया तो उन्होंने गायत्री वगैरह भी नहीं ली। बड़े हो गए, कुछ काम ही न करें, किसी से कोई मतलब ही नहीं; घरवालों ने सोचा कि यह महाबेकार लड़का कहाँ से पैदा हो गया! इसलिए उसे जडभरत कहने लगे। घरवालों ने सोचा कि यह और कुछ काम नहीं करता तो इसे खेत में बिठा दें, कम से कम इसे वहाँ बैठा देख कर चिड़िया वगैरह तो खेत को खराब नहीं करेंगी। खेत में प्रायः लोग कपड़े और बाँस को गोल-मटोल बनाकर उसके हाथ पैर निकाल देते हैं और उसे खेत में गाड़ देते हैं जिसे दूर से देखकर लगता है कि कोई आदमी खड़ा है। वह पुतला होने से हवा चलने से हिलता भी रहता है अतः उसे आदमी समझकर चिड़िया वगैरह खेत में नहीं आती। घरवालों ने सोचा, उसे भी इसी काम के लिए खेत में बिठा दें। किन्तु वे तो जडभरत थे! पूर्व स्मृति के कारण महाभय लगता था कि फिर कहीं दुर्दशा न हो जाए। वहाँ बैठे हुए उनका तो ऐसा तत्त्वचिंतन ही चला कि चिड़ियाँ भी उसे पत्थर की मूर्ति समझें क्योंकि वह थोड़ा भी हिलता-डुलता तो था नहीं। इसलिए उसके बैठे रहते भी चिड़ियाँ खेत में खूब दाना चुगती रहीं! अब घर वालों ने कहा कि यह तो इस काम का भी नहीं, बिलकुल निकम्मा है, यह तो बाँस और कपड़े के बने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुतले का भी काम नहीं कर सकता। वह पुतला तो फिर भी आदमी की शक्ल जैसा लगकर कुछ हिलता-डुलता है, यह तो वह भी नहीं कर सकता। भरत तो पूर्व भय के कारण इसी को सोचें कि कहीं फिर न फँस जाएँ। जिसे भाषा में कहते हैं कि दूध का जला छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीता है।

एक बार उधर से एक राजा जा रहा था। उसकी पालकी उठाने वालों में से एक आदमी बीमार हो गया तो उन्हें एक पालकी उठाने वाला चाहिए था। इसे देखा तो सोचा यह खूब हृष्ट-पुष्ट बैठ हुआ कुछ नहीं कर रहा है तो इसे पकड़कर ले आए और पालकी में लगा दिया। वह पालकी में लग गया, पालकी ढोने लगा, क्योंकि इसमें क्या फ़र्क पड़ना था। लेकिन पालकी उठाने वाले तो सुशिक्षित लोग होते हैं कि कैसे पैर रखना है, कहाँ देखना है इत्यादि सब जानते हैं। भरत को तो यह सब कुछ पता नहीं था, चलने लगा तो पालकी थोड़ी ऊपर नीचे होने लगी। राजा ने पूछा—'क्या तुम्हें बोझ लग रहा है?' भरत ने कहा—'मुझे क्या बोझ लगना है! तू पालकी पर बोझ है, पालकी कंधे पर बोझ है, कंधा पैर पर बोझ है, पैर जमींन पर बोझ है; इसमें मुझे कहाँ से भार लग गया!' राजा ने तुरन्त सब से कहकर पालकी नीचे रखवाई और कहा 'यह तो कोई महापुरुष है।' उसको नमस्कार कर के राजा ने बड़ी श्रद्धा से कहा 'आप तो तत्त्वज्ञानी हैं, इसलिए आप मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश दें।' तब उन्होंने राजा को उपदेश दिया जिससे पता लग गया कि वे तत्त्वज्ञान में निष्ठा के कारण ही अन्य किसी कार्य से दूर रहते हैं। एक जन्म तो वह हुआ जिसमें ज्ञान हुआ, दूसरा जन्म हरिण का और तीसरा जन्म जड भरत का था, फिर उनकी मुक्ति हो गई। वामदेव ऋषि का एक ही जन्म में प्रारब्ध समाप्त हो गया और भरत का तीन जन्म में खत्म हुआ। इसलिए कोई नियम नहीं है कि प्रारब्ध-भोग कितने जन्मों में खत्म हो। ॥४५॥

एक या तीन जन्म यों दो विकल्प ही हों ऐसा नहीं है। अतः भगवान् ने गीता में योगभ्रष्ट के बारे में कहा है यह समझाते हैं श्लोक ५० तक

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोप्यनर्थकः।।४६।।

गीता में बताया है कि बहुत जन्म बीतने पर योगभ्रष्ट का प्रतिबन्ध समाप्त होता है। फिर भी विचार व्यर्थ नहीं है।

अर्जुन ने यह प्रश्न किया था (गी. ६. ३७-६) कि आत्मज्ञान के मार्ग में चला हुआ व्यक्ति अगर सिद्धि प्राप्त नहीं करता है तो उसकी क्या गति होती है? उसने कर्म और उपासना तो पहले ही छोड़ दिए तभी श्रवण-मनन का अधिकारी हुआ। ऐसा नहीं है कि कर्म उपासना करते हुए श्रवण-मनन कर नहीं सकता, लेकिन श्रवण-मनन का फल ब्रह्मनिष्ठा तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक कर्म-उपासना को छोड़ नहीं देता। इसलिए कोई कर्म और उपासना तो उसने अपने पास रखे नहीं जिससे उत्तम लोकों को जाए; और ज्ञाननिष्ठा की सिद्धि हुई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं। इसलिए दूसरे जन्म की प्राप्ति होगी। तो क्या जैसे बादल हवा से टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट हो जाता है, ऐसे नष्ट हो जाता है! तब भगवान् ने जवाब दिया कि ऐसा नहीं है। जो तत्त्वविचार में लगा हुआ है, परन्तु साक्षात्कार तक नहीं पहुँचा, वह योगभ्रष्ट कहलाता है, उसके बहुत जन्म बीतने पर वह सिद्धि को प्राप्त करता है। इसलिए एक या तीन जन्मों का नियम नहीं है। कुछ भी प्रतिबंधक जितना-जितना जहाँ-जहाँ होगा उसके अनुसार जन्म बीत जाते हैं। प्रारब्ध-भोग के लिए जितने जन्म चाहिए, जब वे बीत जाते हैं अर्थात् प्रतिबंधक की निवृत्ति के बाद ही ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होकर अपरोक्ष ज्ञान होता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं समझ लेना कि फिर उसका विचार करना व्यर्थ ही गया। विचार भी प्रयोजन-रहित नहीं है क्योंकि जो किया हुआ विचार है वही फिर आगे बढ़कर फल को पूर्ण करेगा। जैसे ही प्रतिबंधक नष्ट होगा, पुनः वहीं से विचार प्रारम्भ होगा और तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति हो जाएगी। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट किया है कि इस मार्ग में कोई प्रत्यवाय नहीं है। ऐसा नहीं है कि बीच में इतना व्यवधान हुआ तो किया हुआ विचार सब खत्म हो जाए! वह तो फल देगा ही॥४६॥

अतः भगवान् ने ही कहा (गी. ६. ४१–४४)–

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते।।४७।।

आत्मवस्तु के विचार के प्रभाव से पुण्य करने वालों के योग्य लोकों को पाकर (वहाँ बहुत समय सुख भोगकर) कुछ कामनाएँ बची रहें तो शुद्ध और धनसम्पन्नों के घर उत्पन्न होता है।

विचार में कमी के दो कारण होते हैंः एक तो समय का अभाव। यदि वह पाँच-सात साल ज़िन्दा रहता तो उसका विचार पक जाता। जितने समय में पकना था उतना समय नहीं मिला और मर गया, अतः भी योगभ्रष्ट हो जाता है। दूसरा कारण है कि भरत की तरह मन दूसरी तरफ चला जाये। वामदेव के लिए तो केवल काल की कमी थी पर भरत के अन्दर हरिण के प्रति दया विचार छूटने में कारण थी। सब साधकों में ये दो सम्भावनाएँ रहती हैं। यदि मन में कोई इच्छा रह जाए तो साधक साभिलाष है। चूँकि अभिलाषा है, इसलिए पुण्यकारी लोकों को अर्थात्-स्वर्ग लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यंत को प्राप्त होता है। उसने पहले किया तो आत्मतत्त्व का विचार ही है, उस आत्मतत्त्व के विचार से उसका इतना पुण्य इकट्ठा हुआ है कि ब्रह्मलोक पर्यन्त भी जा सकता है। इससे भगवान् ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आत्मतत्त्व का विचार सारे कर्म और उपासनाओं का फल देने में समर्थ है अतः मुमुक्षु और कुछ भी न करे, यदि आत्मतत्त्व के विचार में ही लगा रहता है तो जितने कर्म और जितनी उपासनाएँ हैं उन सब का फल उसे मिल जाता है।

मन में प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों है? विचार करोः कर्म और उपासना परमेश्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को प्रसन्न ही तो करती है। परमेश्वर ने श्रुति-स्मृति में आज्ञा दी है, उसके अनुसार मनुष्य कर्म और उपासना करता है तो परमेश्वराज्ञा का पालन करता है इसलिए परमेश्वर प्रसन्न होकर फल देते हैं। आत्मविचार में तो तुम उस परमात्मा के शुद्ध रूप की उपासना ही कर रहे हो, इसलिए यह इतना ज़्यादा पुण्य उत्पन्न करता है कि उन सब से आगे चला जाता है! परमेश्वर के गुणों का विचार, परमेश्वर की शक्ति और सामर्थ्य का विचार, परमेश्वर का हमारे हृदय में साक्षी-रूप से बैठे होने का विचार इतना बड़ा पुण्यकार्य है जिससे अधिक और कोई पुण्य कार्य नहीं है। आत्मविचार करने वाला यही करता रहा है। इसलिए आत्मतत्त्व के विचार के बल से ही उसकी सद्गति है, और किसी कर्म या उपासना की उसे ज़रूरत नहीं है। इसलिए स्मृतियों में कहा है कि प्रतिदिन आदमी यदि वेदांत-श्रवण करता है तो अस्सी कृच्छ्र-चान्द्रायण का फल उसे मिलता है। एक चान्द्रायण व्रत के लिए एक महीना चाहिए, कृच्छ्र चान्द्रायण में तो और ज़्यादा समय चाहिए। ऐसे अस्सी चान्द्रायण करो तो छह सात साल चाहिए यदि बीच में एक भी बाधा न हो। इतने सालों में जितने होंगे उतने प्रतिदिन करते हैं यदि गुरुसेवा और भक्तिसहित वेदान्तों का श्रवण करते हैं। इसलिए उस पुण्य के फल से साधक पुण्यलोकों को प्राप्त करता है।

वहाँ बहुत काल तक दिव्य विषयों के सुख का भोग करता है। क्योंकि कोई न कोई अभिलाषा थी, इसलिए उसने यहाँ पूर्णता की प्राप्ति नहीं की थी, उसकी वह अभिलाषा वहाँ जाकर पूर्ण हो जाती है। जितना भोग भोगना संभव था, वह सब भोग लेने के बाद वह फिर पृथ्वी में आता है। तब वह ऐसों के घर पैदा होता है जो पवित्र और धनवान् हैं। केवल पवित्र होंगे और धन आदि से सम्पन्न नहीं होंगे तो चूँकि है तो वह साभिलाष, इसलिए यहाँ आकर फिर धन आदि की तरफ प्रवृत्त हो सकता है। परन्तु पवित्र होने के साथ-साथ धनवान् होंगे तो उसे सब कुछ उपलब्ध हो ही जाएगा। यदि केवल धनी होंगे और पवित्र नहीं तो कुमार्ग में जा सकता है। इसलिए कहा कि पवित्र भी हों और धनवान् भी हों, ऐसे घरों में पैदा होता है॥४६॥

दूसरा योगभ्रष्ट वह है जिसे अभिलाषा तो कुछ नहीं थी, केवल पूरा समय नहीं मिला इसलिए दृढता नहीं हुई। पूरा समय मिल जाता तो उसका विचार या उपासना दृढ हो जाती। उसे तो पुण्य लोकों में कोई रुचि थी नहीं तो क्या आत्मतत्त्व का विचार उसके लिए काम आया नहीं? भगवान् कहते हैं कि ऐसा भी नहीं है। यदि वह निरभिलाष है तो उसे उन दिव्य लोकों में जाने की कोई ज़रूरत नहीं है वरन् ज्ञाननिष्ठा के लिये बेहतर अवसर पाता है–

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम्।।४८।।

या विषयभोगों के प्रति स्पृहा-रहित साधक ब्रह्मतत्त्वके विचार से आत्मज्ञान-सम्पन्न योगियों के कुल में पैदा होता है। वैसा जन्म दुर्लभ ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा जो निरभिलाष है, निस्पृह है अर्थात् उसका वैराग्य पूर्ण है। उसको किसी चीज की अभिलाषा है नहीं, इसलिए वह उसी ब्रह्मतत्त्व के विचार के बल से उन बुद्धिमानों के कुलों में उत्पन्न होता है जिनको आत्मतत्त्व का दृढ निश्चय है। ज्ञानी पुरुषों के कुल में उत्पन्न होता है। केवल 'धीमताम्' कहते तो कोई शास्त्रीय विद्या वाले पुरुष समझ लेता, इसलिए साथ में 'योगिनां' कहा अर्थात् जो परमात्मा से एकता को प्राप्त हैं, जिनका चित्त हमेशा परमात्मा में ही लगा हुआ है, उनके ही कुल में या घर में उत्पन्न होता है। अतः बचपन से ही उसको आत्मतत्त्व के विचार के संस्कार मिल जाते हैं। जैसे मदालसा के पुत्र उत्पन्न हुए तो वह लोरी ही गाती थी कि 'तू शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्तस्वरूप है, यह सारा संसार तेरे लिए नहीं है'; यही लोरी गाती थी! तुम लोग अपने बच्चों को जहाँ पढ़ाने भेजते हो वहाँ बच्चों को गाकर सुनाते है 'हम्प्टी-डम्प्टी सैट ऑन ए वॉल' और वैसा सीखकर बच्चे भी ऐसा कहते हैं तो लोग खुश होते हैं कि कैसी बढ़िया अंग्रेजी बोलता है! वे श्रीमान् बुद्धिमान् लोग ऐसा नहीं पढ़ाते। वे तो मदालसा की तरह बचपन से ही उपदेश देते हैं कि 'तू नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है, संसार माया का तेरे साथ कोई सम्बंध नहीं है'। ऐसे कुल में जन्म किस पुण्य से हुआ? निरभिलाष द्वारा किये ब्रह्मविचार से हुआ। लेकिन भगवान् कहते हैं कि ऐसा जन्म अत्यधिक दुर्लभ है क्योंकि इस प्रकार के जो निष्ठा वाले श्रीमान् और योगी हैं, उनके घर में जन्म लेना ही असम्भव-सा है। परन्तु जिसका ब्रह्मतत्त्व का विचार निःस्पृह भाव से सम्पन्न हुआ लेकन वृत्ति नहीं बन पाई, उसे ऐसे ही दुर्लभ जन्म की प्राप्ति होती है। दुर्लभ इसलिए कि जिनका अत्यधिक पुण्य है उन्हीं को ऐसे जन्म की प्राप्ति होती है ॥४८॥

दुर्लभ क्यों है, इसको बताते हैं–

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम्॥४९॥

उस जन्म में वह पूर्व शरीर में विचार-सम्पादित निश्चय बिना यत्न के पाता है और पहले से ज़्यादा यत्न में तत्पर होता है। इसीलिये ऐसा जन्म कठिनाई से मिलता है।

इसलिए दुर्लभ है क्योंकि ऐसे कुल में जो जन्म है वह पूर्व देह में जो विचार किया है उसको आगे चलाने के लिए सक्षम है। वहाँ उसी ब्रह्मतत्त्व के विचार वालों की बुद्धि के साथ संबंधवाला वह साधक हो जाता है। तब बचपन से ही उसे, मदालसा के पुत्रों की तरह, उधर ही दृढ वृत्ति बनाने का मौका मिल जाता है। बचपन से ही उसके वैसे विचार पुनः बन जाते हैं इसलिए उसकी निष्ठा बनने में कोई कठिनाई नहीं होती। वह ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर, साक्षात्कार पाकर मनोनाश, वासनाक्षय तक पहुँच सकता है। जैसे थर्मामीटर आदि में पारा बंधा होता है इसलिए स्थिर रहता है। यदि थर्मामीटर गिरकर टूट जाता है और पारा उसमें से निकल जाता है तो चारों तरफ फैल जाता है। फिर उसे इकट्ठा करना बड़ा मुश्किल होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। क्योंकि पारा तरल पदार्थ है इसलिए चारों ओर फैल जाता है। जब तक नहीं फैला है तब तक तो स्थिर है। मन भी पारे की तरह है। पैदा होते समय दूसरे संस्कार चूँकि अभी उद्‌बुद्ध नहीं हैं, इसलिए तब अगर आत्मज्ञान के संस्कार डाल दो तब तो वे दृढ और स्थिर हो जाते हैं और एक बार अगर संसारी कार्यों में बिखर गया तो बुद्धि अनेक विषयों में विक्षिप्त हो जाती है, उन्हीं विषयों में फैल जाती है, वहाँ से बटोर कर उसे फिर आत्मविचार में लगाना बड़ा मुश्किल हो जाता है। बुद्धिमान् योगी के कुल में जन्म होता उसी का है जिसने पूर्व देह में आत्मतत्त्व का विचार किया है, अन्यथा हो नहीं सकता। इसलिए जितना पूर्वजन्म में था उस से भी ज्यादा विचार चूँकि धीमान् योगियों के यहाँ प्रारम्भ में ही मिल जाता है इसलिए उसका यत्न पहले से भी ज़्यादा हो जाता है और वह पूर्णतया ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर सकता है। इन सब कारणों से यह दुर्लभ है।।४९।।

वहाँ उत्पन्न प्राणी ब्रह्माभ्यास में ही लगता क्यों है? इसका जवाब भगवान् स्वयं देते हैं–

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।५०।।

उसी पूर्वकृत अभ्यास से आकृष्ट भी हुआ योगभ्रष्ट अनेक जन्मों में सम्यक् सिद्धि पाता है जिससे मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वह चूँकि योगभ्रष्ट है, इसलिए उस पूर्व में किए हुए अभ्यास से ही प्रेरित होता है। जैसे गाड़ी तेज़ी से चल रही हो और ब्रेक लगाओ तो उसकी गति कम होती है, परन्तु फिर ब्रेक दबाना छोड़ते ही उसकी गति बढ़ जाती है। लेकिन खड़ी गाड़ी को ब्रेक लगाओ या छोड़ो तो कुछ नहीं होता, वहीं की वहीं खड़ी रहती है। इसी प्रकार यह साधक साभिलाष तो है नहीं, निःस्पृह है, परन्तु समय की कमी के कारण मृत्यु के समय तक पर्याप्त विचार नहीं कर सका। मृत्यु से साधना में ब्रेक लगी परन्तु जैसे ही फिर ऐसे शरीर में आया वैसे ही पुनः गाड़ी आगे चल दी। उसने पहले जो अभ्यास किया है उससे ही वह दिशा लेता है, इधर-उधर जाने में मानों स्वतंत्र नहीं है। और कोई स्पृहा उसकी है नहीं और आत्मतत्त्व का विचारक है ही, इसलिए अवश होकर उधर ही जाएगा। अवश का मतलब यहाँ परतन्त्रता नहीं समझ लेना! यहाँ मतलब है कि बिना और कोई विशिष्ट प्रयत्न किए हुए ही उधर चल पड़ता है। जैसे संसारी लोग कोई बड़ी भारी शिक्षा की अपेक्षा नहीं करते कि संसार की तरफ कैसे जाएँ, अपने-आप ही मन संसार की तरफ जाता है। इसी प्रकार इसका मन अपने आप, पूर्वाभ्यास के संस्कारों के कारण आत्मविचार में लग जाता है। वह कोई परतंत्र होकर नहीं जा रहा है क्योंकि अभी संस्कारयुक्त मन के साथ एक है। मन जो कहता है उसी को करने को मनमानी कहते हैं। इसका मन ही कहता है कि परमात्मा की तरफ चलें। इसलिए यह अपने मनके ही वश में है और वे पूर्व के संस्कार ही प्रवृत्त कर देते हैं, इसलिए उसी तरफ आकृष्ट हो जाता है, बहकर चला जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार अनेक जन्मान्तरों में अथवा एकाधिक जन्म में किए हुए भी आत्मविचार के संस्कार सफल होते हैं। अन्य कर्म और उपासनाओं में ऐसा नहीं होता। तुमने यहाँ आधा सोमयाग किया तो अगले जन्म में उसके आगे से शुरू करो, ऐसा नहीं होता, फिर शुरू से ही पूरा करना पड़ता है। ऐसे समझ लो : मान लो तुम पूजा करने बैठे और तुमने एक सौ एक दिन के अनुष्ठान का संकल्प किया। पचास दिनों तक अनुष्ठान करके मर गए तो ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इक्यावन दिन करने से अनुष्ठान पूरा हो जाएगा! वहाँ फिर एक सौ एक दिन करना पड़ेगा। ऐसा इस विचार-मार्ग में नहीं है कि तुमने जो विचार जितना किया वह फिर करना पड़े। किया हुआ विचार झट से फिर उद्‌बुद्ध हो जाएगा। इसलिए 'अनेक-जन्म-संसिद्धः' का अर्थ है कि अनेक जन्मों में की हुई साधना से भी सम्यक् सिद्धि हो जाती है, ब्रह्मज्ञान हो जाता है और इस प्रकार से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यों प्रारब्धरूप आगामी प्रतिबन्धक बता दिया ॥५०॥

एक और तरह का आगामी प्रतिबंधक है, उस पर विचार करते हैं–

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक् सत्यां निरुध्य ताम्।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम्।।५१।।

ब्रह्मलोक पाने की उत्कट इच्छा रहते उसे रोक कर जो आत्मविचार करता है वह साक्षात्कार तो नहीं कर पाता।

ब्रह्मलोक अर्थात् सगुण ब्रह्म का लोक। परब्रह्म तो निर्गुण को कहते हैं और गुणों के सहित ब्रह्म को मायाविशिष्ट चेतन कहते हैं। मायाविशिष्ट चेतन की आराधना भी है तो ब्रह्म की ही परन्तु उपाधि-सहित होने से उसका फल भी उपाधि-सहित हो सकता है। कोई साधक विष्णु भगवान् अर्थात् सगुण ब्रह्म को देखने के लिए वैकुण्ठ लोक जाना चाहता है। कोई शंकररूप से उस सगुण ब्रह्म को देखने के लिए कैलास जाना चाहता है। कोई स्त्रीमूर्ति काली, दुर्गा आदि के रूप में उस सगुण ब्रह्म का दर्शन करने के लिए और उस के साथ रहकर आनन्द भोगने के लिये देवीलोक को जाना चाहता है। यद्यपि ये सब सगुण ब्रह्म की उपासनायें हैं, तथापि अहंग्रहोपासना नहीं हैं। इनमें उपासना करने वाला हमेशा अपने को उपास्य से अलग समझता है। परमेश्वर की तरफ तो जो जिस भाव से जाता है उसके उसी भाव को वह पूरा करता है। भगवान् ने कहा है कि मेरे लिए ये सब एक जैसे हैं 'न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः'। कोई समझे या न समझे, मैं तो जानता हूँ कि सब मेरे ही प्रतिबिम्ब हैं इसलिए किसी के भी साथ न मुझे द्वेष है और न किसी के प्रति राग है। जो जिस भाव से मेरा भजन करता है मैं उसी भाव से उसे ग्रहण करता हूँ। इस उपासक का भाव है कि मेरा जो इष्ट परमात्मा है उसके साथ रहकर में आनन्द भोगूँ। है तो यह सुख की इच्छा, परन्तु यह विषयसुख की इच्छा नहीं है क्योंकि वह किसी विषय से आनन्द नहीं भोगना चाहता, परमात्मा का ही आनन्द भोगना चाहता है। सगुण ब्रह्म का ही लोक ब्रह्मलोक है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वहाँ उसी का दर्शन मिलता है। दर्शन का मतलब केवल आँखों से ही नहीं वरन् कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ और अंतःकरण सब केवल परमात्मा का ही भोग करें, परमात्मा के साथ ही भोग करें—यह ब्रह्मलोक की अभिवांछा है।

'सम्यक् सत्यां'; यह इच्छा मन में होते हुए भी सोचता है कि 'जो भी गुणवाला है वह सचमुच में विनाशी ही है।' मन में इच्छा तो परमात्मा को भोगने की है परन्तु शास्त्रीय विवेक के कारण उसका विरोध कर देता है कि 'मुझे यह नहीं चाहिए, मुझे तो शुद्ध ही चाहिए'। अतः आत्मा का विचार करता है। अन्दर दृढ अभिलाषा परमात्मा के साथ आनन्द में रहने की है, इसलिए उसे 'ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार नहीं हो पाता। इसके द्वारा यह बताया कि हृदय में यदि कोई वाँछा केवल दवाकर रखोगे तो आत्मा का स्वरूप प्रकट नहीं होगा। विचार करने में तो यह बाधा नहीं डालता है परन्तु इस वांछा के कारण ऐसा साक्षात् अनुभव नहीं हो पाता॥५१॥

क्या उसका किया हुआ यह सगुण ध्यान और आत्मविचार व्यर्थ जाएगा? नहीं जायेगा, क्योंकि हैं तो ये दोनों ही परमात्मा से सम्बद्ध अर्थात् सगुण ध्यान भी वह परमात्मा का ही कर रहा है और निर्गुण आत्मतत्त्व का विचार भी वह परमात्मा का ही कर रहा है। इसलिये कहते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते।।५२।।

'वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने अर्थ सुनिश्चित कर लिया' इस वेदवचन के अनुसार वह साधक ब्रह्मलोक में कल्पसमाप्ति तक रहकर वहीं ब्रह्मा के साथ मोक्ष पा जाता है।

उसका राग शिव के प्रति ही है, सगुण शिव का ध्यान करता है, निर्गुण शिव का विचार करता है। अतः सगुण ब्रह्म के ध्यान के बल से तो ब्रह्मलोक में जाता है अर्थात् अपने इष्टदेव के साथ सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, और सार्ष्टि इन सब का भोग करता है और यह भोग करने के बाद जब इस सृष्टि का अंत होता है, यह कल्प समाप्त होता है तब सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है और वह साधक भी अपने इष्ट देव के साथ उस निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है अर्थात् सगुण ब्रह्म के साथ ही वह मुक्त हो जाता है। इस बात में श्रुति प्रमाण है—'वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।' मुण्डकोपनिषद् (३.२.६) इसमें प्रमाण है। वेदांत अर्थात् उपनिषदों में जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप का वर्णन किया गया है उसके विज्ञान के विषय में श्रवण-मनन करके, आगे-पीछे सोचकर युक्तियों के द्वारा भी निश्चय कर निस्संदिग्ध हो गया है कि ब्रह्म ही सत्य है तदतिरिक्त सब मिथ्या है अतः इह लोक व परलोक के सारे भोगों का परित्याग कर देता है। संन्यास ग्रहण करते हुए जब प्रेष लेते हैं तब कहते हैं कि 'भूः भुवः स्वः तीनों मैंने सर्वथा छोड़ दिये'। ऐसे संन्यास-युक्त यति विचार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार अनेक जन्मान्तरों में अथवा एकाधिक जन्म में किए हुए भी आत्मविचार के संस्कार सफल होते हैं। अन्य कर्म और उपासनाओं में ऐसा नहीं होता। तुमने यहाँ आधा सोमयाग किया तो अगले जन्म में उसके आगे से शुरू करो, ऐसा नहीं होता, फिर शुरू से ही पूरा करना पड़ता है। ऐसे समझ लो : मान लो तुम पूजा करने बैठे और तुमने एक सौ एक दिन के अनुष्ठान का संकल्प किया। पचास दिनों तक अनुष्ठान करके मर गए तो ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इक्यावन दिन करने से अनुष्ठान पूरा हो जाएगा! वहाँ फिर एक सौ एक दिन करना पड़ेगा। ऐसा इस विचार-मार्ग में नहीं है कि तुमने जो विचार जितना किया वह फिर करना पड़े। किया हुआ विचार झट से फिर उद्‌बुद्ध हो जाएगा। इसलिए 'अनेक-जन्म-संसिद्धः' का अर्थ है कि अनेक जन्मों में की हुई साधना से भी सम्यक् सिद्धि हो जाती है, ब्रह्मज्ञान हो जाता है और इस प्रकार से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यों प्रारब्धरूप आगामी प्रतिबन्धक बता दिया ॥५०॥

एक और तरह का आगामी प्रतिबंधक है, उस पर विचार करते हैं—

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक् सत्यां निरुध्य ताम्।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम्॥५१॥

ब्रह्मलोक पाने की उत्कट इच्छा रहते उसे रोक कर जो आत्मविचार करता है वह साक्षात्कार तो नहीं कर पाता।

ब्रह्मलोक अर्थात् सगुण ब्रह्म का लोक। परब्रह्म तो निर्गुण को कहते हैं और गुणों के सहित ब्रह्म को मायाविशिष्ट चेतन कहते हैं। मायाविशिष्ट चेतन की आराधना भी है तो ब्रह्म की ही परन्तु उपाधि-सहित होने से उसका फल भी उपाधि-सहित हो सकता है। कोई साधक विष्णु भगवान् अर्थात् सगुण ब्रह्म को देखने के लिए वैकुण्ठ लोक जाना चाहता है। कोई शंकररूप से उस सगुण ब्रह्म को देखने के लिए कैलास जाना चाहता है। कोई स्त्रीमूर्ति काली, दुर्गा आदि के रूप में उस सगुण ब्रह्म का दर्शन करने के लिए और उस के साथ रहकर आनन्द भोगने के लिये देवीलोक को जाना चाहता है। यद्यपि ये सब सगुण ब्रह्म की उपासनायें हैं, तथापि अहंग्रहोपासना नहीं हैं। इनमें उपासना करने वाला हमेशा अपने को उपास्य से अलग समझता है। परमेश्वर की तरफ तो जो जिस भाव से जाता है उसके उसी भाव को वह पूरा करता है। भगवान् ने कहा है कि मेरे लिए ये सब एक जैसे हैं 'न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः'। कोई समझे या न समझे, मैं तो जानता हूँ कि सब मेरे ही प्रतिबिम्ब हैं इसलिए किसी के भी साथ न मुझे द्वेष है और न किसी के प्रति राग है। जो जिस भाव से मेरा भजन करता है मैं उसी भाव से उसे ग्रहण करता हूँ। इस उपासक का भाव है कि मेरा जो इष्ट परमात्मा है उसके साथ रहकर में आनन्द भोगूँ। है तो यह सुख की इच्छा, परन्तु यह विषयसुख की इच्छा नहीं है क्योंकि वह किसी विषय से आनन्द नहीं भोगना चाहता, परमात्मा का ही आनन्द भोगना चाहता है। सगुण ब्रह्म का ही लोक ब्रह्मलोक है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वहाँ उसी का दर्शन मिलता है। दर्शन का मतलब केवल आँखों से ही नहीं वरन् कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ और अंतःकरण सब केवल परमात्मा का ही भोग करें, परमात्मा के साथ ही भोग करें—यह ब्रह्मलोक की अभिवांछा है।

'सम्यक् सत्यां'; यह इच्छा मन में होते हुए भी सोचता है कि 'जो भी गुणवाला है वह सचमुच में विनाशी ही है।' मन में इच्छा तो परमात्मा को भोगने की है परन्तु शास्त्रीय विवेक के कारण उसका विरोध कर देता है कि 'मुझे यह नहीं चाहिए, मुझे तो शुद्ध ही चाहिए'। अतः आत्मा का विचार करता है। अन्दर दृढ अभिलाषा परमात्मा के साथ आनन्द में रहने की है, इसलिए उसे 'ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार नहीं हो पाता। इसके द्वारा यह बताया कि हृदय में यदि कोई वाँछा केवल दबाकर रखोगे तो आत्मा का स्वरूप प्रकट नहीं होगा। विचार करने में तो यह बाधा नहीं डालता है परन्तु इस वांछा के कारण ऐसा साक्षात् अनुभव नहीं हो पाता॥५१॥

क्या उसका किया हुआ यह सगुण ध्यान और आत्मविचार व्यर्थ जाएगा? नहीं जायेगा, क्योंकि हैं तो ये दोनों ही परमात्मा से सम्बद्ध अर्थात् सगुण ध्यान भी वह परमात्मा का ही कर रहा है और निर्गुण आत्मतत्त्व का विचार भी वह परमात्मा का ही कर रहा है। इसलिये कहते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते।।५२।।

'वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने अर्थ सुनिश्चित कर लिया' इस वेदवचन के अनुसार वह साधक ब्रह्मलोक में कल्पसमाप्ति तक रहकर वहीं ब्रह्मा के साथ मोक्ष पा जाता है।

उसका राग शिव के प्रति ही है, सगुण शिव का ध्यान करता है, निर्गुण शिव का विचार करता है। अतः सगुण ब्रह्म के ध्यान के बल से तो ब्रह्मलोक में जाता है अर्थात् अपने इष्टदेव के साथ सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, और सार्ष्टि इन सब का भोग करता है और यह भोग करने के बाद जब इस सृष्टि का अंत होता है, यह कल्प समाप्त होता है तब सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है और वह साधक भी अपने इष्ट देव के साथ उस निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है अर्थात् सगुण ब्रह्म के साथ ही वह मुक्त हो जाता है। इस बात में श्रुति प्रमाण है—'वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।' मुण्डकोपनिषद् (३.२.६) इसमें प्रमाण है। वेदांत अर्थात् उपनिषदों में जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप का वर्णन किया गया है उसके विज्ञान के विषय में श्रवण-मनन करके, आगे-पीछे सोचकर युक्तियों के द्वारा भी निश्चय कर निस्संदिग्ध हो गया है कि ब्रह्म ही सत्य है तदतिरिक्त सब मिथ्या है अतः इस लोक व परलोक के सारे भोगों का परित्यागं कर देता है। संन्यास ग्रहण करते हुए जब वेश लेते हैं तब कहते हैं कि 'भूः भुवः स्वः तीनों मैंने सर्वथा छोड़ दिये'। ऐसे संन्यास-युक्त यति विचार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में प्रवृत्त हैं अतः उनका अंतःकरण सर्वथा शुद्ध होता है जिससे वे लोग कल्प के अंत में ब्रह्मलोक के अन्दर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ जितने भी भगवान् के पार्षद हैं, सब उन के साथ ही मुक्त हो जाते हैं। इसी बात को स्मृति ने (द्रष्टव्य सूत्रभाष्य ३.३.३२) भी कहा—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्।।'

जो सगुण ब्रह्म की उपासना करके अपने-अपने इष्ट लोकों को जाते हैं वे जब कल्पान्त होता है तब अपने इष्टदेव के साथ ही मुक्त होते हैं। चूँकि उन्होंने सब प्रकार की कृतार्थता प्राप्त कर ली है इसलिए वे ब्रह्म पद को प्राप्त होते हैं। यम ने नचिकेता से कहा 'मैंने इस परम पद की प्राप्ति तो की, परन्तु इसके पहले परमेश्वर की कृपा से मुझे यम पद की प्राप्ति हो गई! अब तो कल्पांत में ही परमात्मा के साथ विदेहभाव से एक हो सकूंगा। हे नचिकेता! तू धन्य है कि इस प्रकार के किसी पुण्य-वेग के बिना ही वैराग्यवान् होकर परमात्मपद को प्राप्त कर लेगा।'

इस प्रकार उन्होंने जो सगुण ब्रह्म का ध्यान किया है, उसका भी फल हो गया क्योंकि ब्रह्मलोक में जाकर अपने इष्टदेव के साथ सब प्रकार के भोग्य भोग लिए और चूँकि निर्गुण तत्त्व का विचार किया हुआ है, अतः उस ब्रह्म पद को भी प्राप्त कर लेता है। जो सगुण ब्रह्म की, अपने-अपने इष्टदेव की भक्ति में लगे हुए हैं और साथ में वेदान्त-विचार से 'यह मायिक स्वरूप है, वास्तविक तो अधिष्ठान तत्त्व ही है' यह निश्चय भी जिन्होंने किया हुआ है वे भी दोनों से लाभान्वित होते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती की सब प्रकार से अद्वैत-निष्ठा पूर्ण थी, सारी उपनिषदों का तात्पर्य एकमात्र निर्गुण परब्रह्म परमात्मा में है—इसमें वे निस्संदिग्ध थे, परन्तु साथ में यह भी कहते हैं—कि यह जानते हुए भी कि यह मायिक है, हमारा मन त्रिभंगी मूर्त्ति वाले श्रीकृष्ण के प्रति ही जाता है। अतः अद्वैत-निश्चय होने पर भी सगुण ब्रह्म की तरफ वृत्ति जाए यह देखा जाता है॥५२॥

यहाँ तक तो यह बताया कि जिन्होंने विचार कर लिया और निश्चय भी कर लिया फिर भी साक्षात्कार नहीं होता है तो इसमें कारण कौन-से प्रतिबंधक हैं। परन्तु कुछ साधकों का ऐसा भी प्रतिबन्धक होता है कि विचार सम्भव नहीं रहता यह बताते हैं—

केषाञ्चित् स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः।।५३।।

कुछ साधकों के कर्मों से आत्मविचार में भी रुकावट आती है। वेद भी (कठ. १.२.७) कहता है कि बहुतेरों को परमेश्वर सुनने को भी नहीं मिलता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ लोग अर्थात् जिनके अंतःकरण में मलदोष अत्यधिक होता है, पाप का संस्कार अत्यधिक होता है, उनके लिए तत्त्व का विचार सर्वथा प्रतिबद्ध है, वे विचार ही नहीं कर पाते। ठीक जिस प्रकार से किसी की पीठ पर एक मन का बोझ लदा हो तो वह धीरे-धीरे ही चल सकता है, भाग नहीं सकता जबकि उसी के शरीर पर पाँच मन का वज़न रख दो तो वह वहीं बैठ जाता है, आगे चल ही नहीं सकता, इसी प्रकार जिसके कुछ दोष हैं, वह तो अभ्यास आदि कर के अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त कर लेता है परन्तु किसी पर इतने पाप लदे हुए हैं कि वह विचार ही नहीं कर सकता। ऐसे को परोक्ष निश्चय भी नहीं हो पाता। अनेक लोग ऐसे देखने में आते हैं जो जिस चीज़ को बाँचते हैं उनको वही जँचने लग जाती है! उनको समझाएँ कि इसमें यह दोष है तो वह भी जँच जाता है। फिर कोई दूसरा मिल गया, उसने कोई विपरीत बात कह दी तो वह भी जँच गई! जब तक व्यक्ति स्वयं विचार करके निश्चय नहीं कर पाता है, तब तक दूसरे के कहे हुए निश्चय से स्वयं का निश्चय नहीं होता। ऐसे लोगों की शंका यावत्-जीवन नहीं मिटती। वह उनका दोष नहीं है, उन्होंने जो पहले पाप किए हैं वे सब प्रतिबंधक बनकर बैठे हुए हैं, इसलिए वे विचार ही नहीं कर पाते। उन कर्मों के कारण उनमें विचार ही प्रतिबद्ध हो जाता है। कई लोग कहते हैं कि वेदान्त की कथा सुनते हैं तो सिर दर्द होने लगता है, बड़ा मुश्किल लगता है। कुछ लोग कहते हैं कि हमको वेदान्त की कथा ही ठीक समझ में आती है, बाकी इधर-उधर की कहानियाँ लोग सुनाते हैं, वे नहीं जँचतीं। जिनका विचार प्रतिबद्ध है वे कितना भी पढ़ें, कितना भी सुनें, वे विचार करके निश्चय नहीं कर पाते कि ऐसा ही है। विचार मायने सोचना; वे सोच तो लेते हैं, परन्तु उनके मन में हमेशा संदेह ही रहता है। इसीलिए भगवान् ने गीता में बहुत बड़ा दोष संदेह को माना है 'संशयात्मा विनश्यति'। आत्मा कभी खत्म तो होगा नहीं! अतः भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि आत्मा का ज्ञान न होना ही आत्मा का नाश है। वे आत्मविचार करके निश्चय नहीं कर पाते, संशय में पड़े रहते हैं। यहाँ विचार मतलब यह नहीं समझना कि वे सोच नहीं पाते। मनुष्यमात्र में मन-बुद्धि है ही, इसलिए सोच तो लेता है, जो बात कही जाती है वह समझ भी लेता है, परन्तु निश्चय नहीं कर पाता, विपरीत बातें सुने तो वे भी जँचने लग जाती हैं।

स्वयं वेद ने कहा है 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' यह जो परमात्मतत्त्व है, यह बहुत-से लोगों को सुनने को भी नहीं मिलता। ऐसा नहीं है कि अगर उन के सामने वेदान्त बोलो तो वे मर जाएँगे या बहरे हो जायेंगे। श्रवण का मतलब है—उपनिषदों का तात्पर्य-निर्णय करना। 'श्रवण' शब्द पारिभाषिक है। श्रुति ने कहा है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' आत्मदर्शन का उपाय श्रवण है। सुनने से तो परोक्ष ज्ञान होगा, फिर कैसे कह दिया कि सुनने से आत्मदर्शन हो जाएगा? आचार्यों ने समझाया कि श्रवण का मतलब है 'उपनिषदें यही प्रतिपादन कर रही हैं, और कुछ नहीं' ऐसे निर्णय पर पहुँचना। इसके लिये उपक्रम-उपसंहार इत्यादि, श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण आदि सभी सोचने के तरीके हैं, इनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा निश्चय पर पहुँचा जाता है। इसलिए श्रुति कहती है कि सुनने को भी नहीं मिलता तो मतलब है कि उपनिषदों का ऊहापोह करके, यही तात्पर्य है—इस निश्चय पर नहीं पहुँच पाते। प्रसंगवशात् उपनिषदों में कई बातें आ जाती हैं। उनमें से 'यही तात्पर्य है' यह निश्चय करना पड़ता है। अविचारशील को लगता है कि ऐसा भी कहीं कहा है, वैसा भी कहीं कहा है, तो श्रौत अभिप्राय पता नहीं चलता। बहुत से विदेशी विद्वान् और उनकी जूठन चाटने वाले हिन्दुस्तानी विद्वान् यही कहते हैं कि 'वेदों में तरह-तरह की बातें कही हैं। किसी ऋषि ने कुछ कहा, किसी ऋषि ने कुछ अन्यथा समझा, उन मतों को जानकर हम कुछ निश्चय नहीं कर पाते।' अर्थात् उनसे श्रवण हो ही नहीं पाता यह तथ्य खुद ही श्रुति ने कहा है। इसलिए श्रुति ने आगे जाकर बताया 'नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः' (कठोप० १.२.२३) जिसने अपने दुष्ट चरित्रों को सर्वथा छोड़ नहीं दिया है, जिसका चित्त समाहित या एकाग्र नहीं हो गया है, जिसका मन विषयाकांक्षा से हट नहीं गया है, वह इस तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता। ॥५३॥

क्या ऐसे व्यक्ति के लिए भी कोई उपाय है? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते हैं—

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥५४॥

बुद्धि की अत्यधिक मन्दता से या ज्ञानोत्पत्ति के लिये आवश्यक कारण-कलापसे जो विचार से वंचित है उसे चाहिये कि दिन-रात ब्रह्म की उपासना करे।

विचार करने में जो असमर्थ हैं वे अत्यंत बुद्धिमन्दता वाले हैं। थोड़ी-बहुत बुद्धिमन्दता हो तो ज़्यादा विचार करके निश्चय हो जाता है। जैसा दृष्टांत से बताया कि चाकू अगर भुथरा है तो एक झटके में कागज नहीं काट पाता, बार-बार रोक-रोक कर चलाते हैं तो कागज काट लेते हैं। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है उसे बात जल्दी समझ में नहीं आती, लेकिन संस्कार पड़ते-पड़ते अनेक जन्मों में समझ में आ भी जाती है। परन्तु जिसके पास भुथरी छुरी भी नहीं है, एक छड़ है! चाकू की तरह छड़ भी लोहे की होती है, उससे लकड़ी आदि तो कट-फट जाएगी पर कागज़ काटने में बेकार है। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि अत्यंत मन्द है वह कुछ भी संगतरूप में नहीं सोच पाता। उसका मन इधर से उधर जाता रहता है।

कई लोगों की बुद्धि तो बड़ी तीक्ष्ण है, समझने की सामर्थ्य भी है परन्तु उन्हें उपदेश देने वाला गुरु नहीं मिला जिससे निश्चय कर सकें कि शास्त्र का ऐसा ही अर्थ है, यही तात्पर्य है। जिसने शास्त्र के तात्पर्य का निर्णय करके, ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त करके अनुभव कर लिया है वही शास्त्र का अर्थ निश्चित रूप से समझा सकता है। इसलिए भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है कि उस तत्त्व का साक्षात्कार करने के बाद वेदों में कहाँ क्या कहा है, उसको वह स्पष्ट, निःसंशय रूप से बता सकता है। इस प्रकार उपदेश देने वाला गुरु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं मिले तो भी विचार नहीं हो सकता। अथवा, गुरु मिला भी पर उसके साथ शिष्य नहीं रह पाता है अथवा अधिक समय नहीं मिला और गुरु पहले ही चले गए आदि स्थितियों में सामग्री की कमी रह जाती है। कई बार अपना शरीर कारण बन जाता है, बीमार बने रहते हैं जिसके कारण विचार नहीं कर सकते। यह सब श्रवण-मनन की सामग्री की कमियाँ हैं। बुद्धि भी तीक्ष्ण है, योग्य गुरु भी मिले तो ज्ञान हो जाए लेकिन नहीं होता क्योंकि विचार करने की सुलभता प्राप्त नहीं होती। गुरु मिलने में सबसे अधिक कठिनाई शास्त्र में बताई है कि गुरु में और तदनुकूल शास्त्रों में अत्यंत विश्वास होना कठिन है। 'गुरु जी कह रहे हैं इसलिए ठीक है' ऐसा निश्चय होना अत्यन्तविश्वास है, लेकिन यह प्रायः नहीं हो पाता। इसी प्रकार 'उपनिषद् ही ठीक हैं, दूसरा कुछ ठीक नहीं,' बहुत-सों को यह विश्वास भी नहीं होता। सोचते हैं जैसे उपनिषद् वैसे ही दूसरे ग्रन्थ हैं! उपनिषदें ठीक हैं यह निश्चय हो भी जाये तो इसका यही अर्थ वस्तुतः है जो सम्प्रदाय से आया हुआ है—यह निश्चय नहीं हो पाता, इसलिए विचार नहीं कर पाते।

ऐसे साधक निरंतर ब्रह्म की उपासना करें। प्रतिबंध रहते ब्रह्म के बारे में परोक्ष निश्चय तो हो जाता है, अपरोक्ष नहीं हो पाता। नियम है कि जिस चीज़ का निरंतर चिंतन करोगे वह एक दिन अनुभव में आ जाएगी। इसमें आचार्यों ने एक कीड़े कां दृष्टांत दिया हैः वह कीड़ा जिस समय अपने घर में होता है तब कोई भौंरा आकर उसके घरोंदे के चारों तरफ घूँ-घूँ करता है। अन्दर वाला कीड़ा डरता है कि 'यह मुझे खा जाएगा'। निरन्तर उससे डरते हुए उसी का चिंतन करता रहता है जिससे वह कीड़ा भौंरा ही बन जाता है! ठीक इसी प्रकार से तुम जिस भावना को निरंतर करोगे तद्रूप हो जाओगे। अभी तो लौकिक चेष्टाओं की भावना करते हुए वैसे प्रतीत हो जाते हो, लेकिन तुम वैसे हो नहीं।

एक अनुसंधान हैः जब किसी का ब्याह हो तब लड़का-लड़की के स्वभाव को ध्यान से देखो और ब्याह किए हुए वे साठ-सत्तर साल के हो जायें तब फिर उन दोनों के व्यवहार को देखो तो पाओगे कि शादी करने के समय तो दोनों का विचार सर्वथा अलग ही था परन्तु साठ साल साथ-साथ रहते हुए दोनों के विचार एक-जैसे हो जाते हैं! तब औरत को भी वही चीज़ अच्छी लगने लगती है जो आदमी को अच्छी लगती है। किसी-किसी चीज़ में जो पत्नी को अच्छा लगता है वह पति को अच्छा लगने लग जाता है। हर हालत में, उस उम्र में दोनों का स्वभाव एक-जैसा इसलिए होता है कि दीर्घकाल तक एक-दूसरे का चिन्तन करते-करते दोनें एक-दूसरे के समान हो जाते हैं। इसलिए किसी संस्कृत काव्यकार ने एक जगह लिखा है कि किसी ने राम जी से कहा कि 'आप रात-दिन सीता! सीता! कहते हो, कहीं ऐसा कहते-कहते आप सीता न हो जाओ और फिर दो सीता हो जाएँगी!' राम जी ने जवाब दिया कि 'तुम चिन्ता मत करो। जितना चिंतन करने से मैं सीता हो जाऊँगा उतना मेरा चिंतन करने से सीता भी राम हो जाएगी क्योंकि सीता भी मेरा ही चिंतन कर रही है, इसलिए फिर भी हमारा जोड़ा तो अखण्ड ही रहेगा।' इन दृष्टांतों से यह निष्कर्ष निकला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि जो चीज़ जो नहीं है वह भी उस का चिंतन करते हुए तद्रूप हो सकती है तो हम जो सचमुच ब्रह्म हैं, ब्रह्म का चिन्तन करते हुए ब्रह्म क्यों नहीं हो जाएँगे? इसलिए ब्रह्मोपासना का विधान संगत है।

सृष्टि के पहले श्रुति ने कहा 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' एकमात्र ब्रह्मतत्त्व था। उसके बाद महाभूतों से बुद्धि, मन, इन्द्रियों आदि की सृष्टि हुई और इसके अन्दर एक वृत्ति अहंकारात्मिका हुई, उसमें ब्रह्म का प्रवेश हो गया। श्रुति कहती है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सृष्टि करके उसने ही उसमें प्रवेश किया। स्मृति भी कहती है 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' सब बना कर स्वयं ही जीवरूप से प्रविष्ट हो गया। अहंकार में प्रविष्ट हुए हम उसके साथ एक हो गए हैं। बार-बार शास्त्र कहता है 'तू ब्रह्म है' और हम कहते हैं कि हम तो जीव हैं। हमारा सृष्टि के पहले जो वास्तविक स्वरूप था वही तो इस समय 'मैं' बना हुआ है। अपने उसी स्वरूप का, ब्रह्म का ध्यान करेंगे तो अपने स्वरूप को प्राप्त होंगे, इसमें कहना ही क्या है! यहाँ तक प्रतिबंधक का विचार हो गया॥५४॥

आगे एक प्रधान शंका उठती है कि उपासना किसी चीज़ का विशेषरूप से चिन्तन है। किसी न किसी विशेषरूप से चिंतन करोगे तभी उपासना होगी। निर्गुण ब्रह्म कहो या निर्विशेष ब्रह्म कहो, उसमें तो विशेष है ही नहीं। वह सद्रूप है। किन्तु 'है' यह तो सामान्य हुआ, 'फूल है' यह सविशेष हुआ। 'फूल है'—यह ध्यान तो कर सकते हो लेकिन केवल 'है'—यह ध्यान कैसे करोगे? अगर केवल 'है' को तुमने जान लिया तब तो तुम वैसे ही मुक्त हो जाओगे क्योंकि ज्ञान होते ही मुक्ति हो जाती है और यदि 'सत्' को तुमने जाना ही नहीं तो उसका ध्यान कैसे करोगे? इसी प्रकार चित् है। तुम्हें घड़े का ज्ञान तो होता है, परन्तु केवल ज्ञान तो कभी हुआ नहीं। इसी प्रकार से आनन्द है। तुम्हें रसगुल्ले का आनन्द तो आया है, परन्तु केवल आनन्द का अनुभव तो नहीं हुआ। कह सकते हो कि गहरी नींद में केवल आनन्द होता ही है, वहाँ तो किसी चीज़ का आनन्द नहीं है, फिर भी आनन्द है। परन्तु वह आनन्द स्फुट नहीं होता। इसलिए उसका ध्यान कैसे करोगे? सच्चिदानंद-स्वरूप का ध्यान बिना किसी विशेष के, बिना किसी उपाधि के किया नहीं जा सकता क्योंकि जिस चीज़ को तुम जानोगे उसी की उपासना कर सकते हो और बिना विशेष के सत् आदि को जाना नहीं जा सकता। इसका समाधान करते हैं—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसम्भवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात्॥५५॥

निर्गुण ब्रह्म तत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है क्योंकि सगुण ब्रह्म की तरह निर्गुण ब्रह्म के बारे में वृत्तियों का आवर्तन सम्भव है।

ब्रह्म निर्विशेष है, इसलिए उसकी उपासना नहीं हो सकती है और इस विषय के अन्दर भाष्य, वार्तिक, टीका सब प्रमाण हैं तथा उपनिषद् तो कहती ही है कि ब्रह्म मन-वाणी के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परे है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ऐसा नहीं है। निर्गुण तत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्द के आकार की वृत्तियों की आवृत्ति तो कर ही सकते हैं। सत्यम्, ज्ञानम्, आनन्दम्, ब्रह्म इसकी आवृत्ति कर सकते हैं। जब 'घड़ा है' कहते हैं तो इसमें 'है' परमात्मरूप ही है, यह चिन्तन कर सकते हैं। ॐकार का ध्यान भी संभव है। ॐकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति को बताता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में रहने वाला जो 'मैं' वही ब्रह्म है। सगुण ब्रह्म का ध्यान यहाँ दृष्टांत इसलिए कहा कि प्रायः श्रुतियों में जो उपासनाएँ आई हैं वे या किसी कर्म का अंग होती हैं या कोई सामान्य फल देने वाली होती हैं। परन्तु सगुण ब्रह्म की उपासनायें क्रममोक्ष देती हैं। ब्रह्म निर्गुण होने पर भी जैसे सगुण ब्रह्म का ध्यान कर सकते हैं वैसे ही वह निर्गुण है—ऐसा भी ध्यान कर सकते हैं। इतना याद रखना कि सगुण ब्रह्म के ध्यान में भी ब्रह्म का ही ध्यान कर रहे हैं। जटाजूटधारी और त्रिशूलधारी परमात्मा का ध्यान कर रहे हो अथवा जटाजूट और त्रिशूलधारण का ध्यान कर रहे हो? दोनों का प्रकार एक लगता है पर है अन्तर। इसलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि ॐकार परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों को बताता है। ॐकार ही ब्रह्म का नेदिष्ठ नाम है, इसलिए ॐकार दोनों को बता रहा है। जब उपाधि प्रधान होगी, ॐकार-प्रधान उपासना होगी, तब तो सगुण की उपासना हो जाएगी और यदि ॐकार से प्रतिपादित का ध्यान करते हुए ॐकार का ध्यान करोगे तो वह निर्गुण की उपासना होगी। जैसे सगुण ब्रह्म की उपासना होती है, ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्दरूप प्रत्ययों की आवृत्ति हो सकती है॥५५॥

प्रश्न होता है कि फिर इस शास्त्र का क्या होगा कि वह वाणी और मन का अविषय है? उत्तर देते हैं—

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च सम्भवेत्॥५६॥

शंका हो कि वाणी और मन से अगम्य वह परतत्त्व उपासना के योग्य नहीं तो यह भी मानना होगा कि वाणी और मनसे अगम्य का ज्ञान सम्भव नहीं!

वाणी और मन का वह अविषय है अर्थात् ब्रह्म को न वाणी से बता सकते हो और न मन उसको जान सकता है। जिसे वाणी से नहीं जान सकते, गुरु तुमको उसका उपदेश नहीं दे सकते और मन से तुम स्वयम् जान नहीं सकते। बिना मन से जाने उसका ध्यान कैसे करोगे? इसलिए उसकी उपासना सम्भव नहीं है। निर्गुण-उपासना न स्वीकारने वाले यदि ऐसा कहें 'तदा' तब उपासना का पक्षधर कहेगा कि जो वाणी और मन का विषय नहीं है उसको जान भी कैसे सकते हो? वह वाणी और मन क़ा विषय ही नहीं है और जानने के साधन तुम्हारे पास ये ही हैं। दूसरे को बताना हो तो वाणी का प्रयोग और स्वयम् समझना हो तो मन का प्रयोग करना पड़ता है। इसलिए निर्विशेष ब्रह्म जाना भी तो नहीं जा सकता!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तात्पर्य है कि उक्त तर्क से निर्विशेष का ज्ञान भी असंभव होने से उसके ज्ञान का पक्षधर इस तर्क का प्रयोग नहीं कर सकता। ॥५६॥

निर्विशेष का ज्ञान मानने वाले कहते हैं कि वह वाणी का अविषय है—इस प्रकार से तो जान ही सकते हैं! 'वाणी का विषय नहीं' इस बात को तो सुन भी सकते हैं। इसलिए उपनिषदों ने तरीका ही यह लिया कि उस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताई और जितना कुछ तुमने आज तक अनुभव किया है, उस सब का बाध करते-करते जो इससे पहले शुद्ध था वहाँ पहुँच जाओगे। यही एकमात्र समझने का तरीका है। वाणी सभी विषयों को कहेगी, फिर उनका बाध कर देंगे तो निर्विशेष तत्त्व बच जाएगा। उपासनावादी इस रीति को भी अपने अनुकूल कहते हैं—

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः।।५७।।

यदि ज्ञानी उसे यों जान सकता है कि वह वाणी आदि के अविषयभूत आकार वाला है तो वाणी आदि के अविषय आकार वाला है—यों उसकी उपासना कोई क्यों न करे?

जैसे, वागादि का वह विषय नहीं है इस प्रकार से उसे जानते हैं, निषेध करते-करते जिसका निषेध नहीं हो सकता वही वह है, यह जान सकते हैं; अंगुल्या निर्देश नहीं हो सकता, लेकिन जो-जो 'होता' है उसका निषेध करके ही वह समझ में आता है; इसी प्रकार से वह वाक् (वाणी) आदि का अगोचर है—इस प्रकार से तुम उसकी उपासना क्यों नहीं कर सकते? जितनी चीज़ों का बाध कर सकते हैं उन सब का निषेध करने के बाद जो शेष रहता है वह ब्रह्म है—यों उसकी उपासना हो जाएगी। जैसे तुम किसी से कहते हो कि 'पेटी में जगह करो, मुझे भी कुछ सामान रखना है।' क्या तुम्हारे पास कोई तरीका है कि कहीं जगह बना दो? केवल उसमें रखे हुए कपड़ों को निकाल देते हो तो जगह बन जाती है। चीज़ों को निकालने के बाद जो बचे वही जगह है। इसी प्रकार यह सारा संसार वाणी और मन का विषय है, वाणी और मन के विषयों को तुमने हटा दिया तो जो बचा वही ब्रह्म है। यह जैसे जानने की प्रक्रिया है, उसी ढंग से उपासना भी की जा सकती है॥५७॥

निर्गुण को शास्त्र में ज्ञान के योग्य माना है, उपासना के योग्य नहीं। इसमें मूल कारण है कि ज्ञान चीज़ जैसी है उसको वैसा प्रकट कर देता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं करता। उपासना के अन्दर जो चीज़ जैसी है नहीं उसको वैसा सोचना है। जो जैसा है नहीं उसको वैसा सोचकर जो जैसा है वैसा कैसे प्रकट हो जायेगा? यह मूल प्रश्न है। उपासना दृष्टि वालों का कहना है कि दो तरह से चीज़ को जाना जाता है—एक परोक्ष दूसरा, अपरोक्ष। अतः परोक्ष जानकर यथावस्तु भी उपासना सम्भव है। इस पक्ष में यह समझना आवश्यक है कि अपरोक्ष आत्मस्वरूप का परोक्ष भी ज्ञान हो ही सकता है। परोक्ष करके उपासना हो जायेगी और जब उसका अपरोक्ष होता है तब ज्ञान सफल हो जायेगा। उपासना मानने वाले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहारा इस बात का लेते हैं अनेक जगह शास्त्रों में कहा है कि जिस का यावज्जीवन चिन्तन करते हुए अंतिम काल में भी चिन्तन हो जाये, उसकी प्राप्ति हो जायेगी। जैसे यह बात अन्य विषयों में घटेगी वैसे ब्रह्म पर भी घटेगी। इसलिये ब्रह्म की उपासना हो जायेगी। चूंकि ब्रह्म अपरोक्ष है इसलिये अपरोक्ष रूप से यदि ज्ञान है तो अपरोक्ष रूप से प्राप्ति हो जायेगी। यदि ऐसा नहीं हो पाया तो उपासना के फलस्वरूप सगुण ब्रह्म को जायेगा क्योंकि ब्रह्म का चिन्तन करता ही रहा है, और वहाँ जाकर मुक्त हो जायेगा। इसलिये ब्रह्म की उपासना सम्भव है, इस बात को कहते हैं–

सगुणत्वम् उपास्यत्वाद् यदि वेद्यत्वतोऽपि तत्।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम्।।५८।।

यदि उपासना का विषय होने से सगुणता का आपादन किया जाये तो ज्ञान का विषय होने से भी सगुणता होगी। यदि लक्षणा वृत्ति से ज्ञेयता संगत है तो लक्षणा से समझे की उपासना भी की जाये इसमें क्या हर्ज है!

उपासना-विरोधी यदि यह कहता है कि उसकी उपासना करते हैं इसलिये उपासना का विषय होने से वह सगुण हो जायेगा, अन्य कोई गुण न भी हो तो उपास्यत्व गुण तो है ही! तो उपासनावादी कहता है कि वह जाना जा सकता है तो ज्ञेयता भी गुण हो जायेगा! ज्ञानवादी कहता है–जैसे प्रकाश चीज़ को प्रकाशित करता है, उसके उपर कोई ढक्कन नहीं लाता वैसे ही ज्ञान अज्ञान को दूरमात्र करता है, अतः जब कहते हैं कि ज्ञान से ब्रह्म को जानते हैं तब इसका इतना ही मतलब है कि ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है। ब्रह्म तो स्वप्रकाश है, इसलिये अपने आप ही प्रकट है। वह जाना जाता है, वेद्य है–यह बात लक्षणा के द्वारा कहते हैं। जैसे अनात्मा जाना जाता है वैसे आत्मा जाना नहीं जाता। अन्तःकरण की वृत्ति से अज्ञान नष्ट हो जाता है, बाकी ब्रह्म तो स्वप्रकाश है इसलिये वेद्यत्वरूप गुण उसमें नहीं आता है। इस पर उपासनावादी कहते हैं कि तब तो उपासना में भी यही बात हैः उपासना अन्तःकरण में करने से वह उपासना का विषय होता नहीं है, परन्तु उसके द्वारा वह प्रकट हो जायेगा इसलिये उसे उपास्य कह दिया गया। जैसे अज्ञान-निवृत्ति से उसका ज्ञान हो जायेगा, वैसे ही उपासना से वह प्राप्त हो जायेगा, इतने मात्र से उसे उपास्य कहते हैं।।५८।।

ब्रह्म की उपासना का श्रुति ने निषेध किया है इसलिए उपास्य कैसे मानें? इस शंका का भी समाधान है–

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि।।५९।।
विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम्।।६०।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'उसे ही तुम ब्रह्म जानो, इसे नहीं जिसकी उपासना की जाती है' इस वेदवाक्य से (केन. १.१.४) यदि ब्रह्म की उपासना-योग्यता की मनाही है तो 'ज्ञातसे अन्य ही है' इस वेदवाक्य से (के.१.१.३) उसकी ज्ञान-योग्यता भी नहीं है! जैसे किन्हीं वेदवचनों से ही उसे ज्ञेय मानना ठीक है वैसे वेदवचनों के अनुसार ही उसकी उपासना भी की जाये यह ठीक है।

केनोपनिषद् में कहा है 'यन्मनसा न मनुते' मन उसके बारे में कुछ जान नहीं सकता, बल्कि उसके कारण मन सोच पाता है। मन तो जड है, ब्रह्म के सम्बन्ध से ही वह चेतन की तरह आचरण करता है। जिसके साथ सम्बद्ध हुआ अर्थात् जिसके प्रतिबिम्ब वाला हुआ वह ज्ञानरूप होता है वह ब्रह्म है न कि जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकार की श्रुति के द्वारा यदि ब्रह्म की उपासना का निषेध कहते हो तो उसी केनोपनिषद् में श्रुति ने कह दिया है कि वह जाने गये से भिन्न है, न जाने गये से भी भिन्न है। अतः मानना पड़ेगा कि वह जाना नहीं जा सकता। शंका होगी कि यदि वह जाना नहीं जा सकता तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' श्रुति का क्या अर्थ होगा? समाधान है कि 'अविदिताद् अन्यद्' वह अविदित से भी अन्य है अतः नहीं भी नहीं जाना जा सकता। जैसे सूर्य किसी से प्रकाशित नहीं है पर वह अप्रकाशमान भी नहीं है। जो चीज़ प्रकाशित नहीं होती वह अप्रकाशित रहती है अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होता, दीखती नहीं है। लेकिन सूर्य बिना किसी से प्रकाशित हुए भी दीखता ही है। इसी तरह ज्ञानरूप होने से आत्मा ज्ञात नहीं पर अज्ञात भी नहीं। इसलिये श्रुति ने जैसे उसकी उपास्यता का निषेध किया वैसे विदित से और अविदित से भी अन्य बताया। श्रुति ने अगर उसकी उपास्यता का निषेध किया है तो वेद्यता का भी निषेध किया है। यदि श्रुति ने कहा है अतः उसकी वेद्यता है तो आत्मोपासना की, ब्रह्मोपासना की भी विधियाँ सुलभ होने से उसकी उपास्यता भी है। विदित हुए बिना भी वह अविदित नहीं है इस तरह उसे समझना पड़ता है। मन किसके कारण जानता है? आत्मा के कारण ही मन जानता है। 'मैं' जो अहंकार है यह तो बुद्धिवृत्ति है क्योंकि यह मैं (वृति) गहरी नींद में नहीं रहता। गहरी नींद में 'कुछ नहीं जान रहा' ऐसा अनुभव नहीं होता क्योंकि मैं नहीं है। स्मृति से सिद्ध होता है कि वहाँ कुछ नहीं जाना जा रहा था। स्मृति उस मैं के कारण है जो गहरी नींद में था और अभी भी है। दो मैं हुए–एक मैं जाग्रत् काल में है, सुषुप्ति काल में नहीं है, और दूसरा मैं जाग्रत् काल में भी है तथा सुषुप्ति काल में भी है। उसे श्रुति ने कहा है कि वह विदित और अविदित से भिन्न स्वप्रकाश है। वेद्य या वेदन का विषय वह नहीं है। ठीक इसी प्रकार से उसकी उपासना भी की जा सकती है जिससे उसमें उपास्यता नामक विशेष नहीं आता। ॥५९, ६०॥

निर्विशेष की उपासना का विरोध उसके ज्ञान को मानने वाला नहीं कर सकता यही समझाते हैं–

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम्।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत् समम्।।६१।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेद्यता, ज्ञेयता अवास्तविक (मिथ्या) हो सकती है तो उपास्यता वैसी क्यों नहीं हो सकती? वृत्ति से व्याप्त होनामात्र वेद्यता हो तो उपास्यता भी वृत्तिव्याप्तिरूप ही है।

ज्ञानवादी कहते हैं कि वास्तविक वेद्यता नहीं है, अज्ञाननाशमात्र को ही ज्ञान कह देते हैं। इसलिये ब्रह्म वस्तुतः वेद्य नहीं है। अंधेरे कमरे में एक सेब के ऊपर उलटा घड़ा रखा हुआ है और एक जलते दीपक पर भी उलटा घड़ा रखा है। घड़ा तो दोनों पर रखा हुआ है। परन्तु घड़े को फोड़ने पर उसके नीचे रखा हुआ सेब तो नहीं दीखेगा, दीपक दीख जायेगा क्योंकि उसमें अपना प्रकाश है। सेब देखने के लिये घड़ा फोड़ना भी जरूरी है और उस पर टॉर्च मारना भी ज़रूरी है। सेब पर जब टॉर्च की रोशनी डालोगे तभी दीखेगा। घड़े पर टॉर्च डालोगे तो सेब नहीं दीखेगा क्योंकि सेब पर घड़ा पड़ा है। इसलिये दोनों काम करोगे तभी सेब दीखेगा; घड़ा भी फूटे और प्रकाश भी पड़े तब सेब दीखेगा। ऐसे घड़ा फोड़ने पर दीपक को देखने के लिये किसी टॉर्च की जरूरत नहीं है, केवल घड़ा फोड़ने से ही काम चल जाता है क्योंकि दीपक स्वप्रकाश होने के कारण किसी से प्रकाशित होने की जरूरत नहीं रखता है। इसी प्रकार से घड़े के ऊपर अज्ञान है इसलिये हम घड़े को नहीं जान रहे हैं। आँख के द्वारा तुम्हारे मन की वृत्ति अज्ञान तो नष्ट कर देती है लेकिन वृत्ति भी जड है, इसलिये वहाँ ज्ञानरूपी रोशनी की जरूरत है। अन्तःकरण की जरूरत इसलिये है कि वह अनावृत हो सके, परन्तु दिखाने वाला ज्ञान भी आवश्यक है। परन्तु ब्रह्म स्वप्रकाश है, अज्ञान के द्वारा तो वह भी ढका हुआ है। अज्ञान के हटते ही ज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म प्रकट हो जाता है। वेद्यता शब्द का सामान्यतः अर्थ यह होता है कि अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान से प्रकाशित होना; यह ब्रह्म में नहीं है, अर्थात् अज्ञान नष्ट करना ही जरूरी है, आगे ज्ञान से प्रकाशित करने की जरूरत नहीं है क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश है। इसलिये ब्रह्म की वेद्यता, वेदन की योग्यता अवास्तविक है क्योंकि अज्ञान नष्ट ही करना है, ज्ञान नहीं करना है। इसी तरह उपासनावादी कहते हैं कि उपास्यता को भी अवास्तविक क्यों नहीं मान लेते? ब्रह्म की प्राप्ति की जरूरत नहीं है क्योंकि वह हमेशा स्वरूप से प्राप्त है। जैसे ज्ञानपक्ष में वृत्तिव्याप्ति है, फलव्याप्ति नहीं है वैसे उपास्यता में भी होना संगत है। जैसा शास्त्र ने बताया है वैसा परोक्षरूप से समझकर ब्रह्माकार वृत्ति बनानी है और चूँकि वह प्रत्यगात्मरूप है इसलिये जब भी मिलेगा प्रत्यगात्मरूप से *मिलेगा* ही, दूसरा रहकर मिलना नहीं है! इस प्रकार, विस्तार से स्पष्ट किया कि आत्मा की उपास्यता सम्भव है। ॥६१॥

प्रमाण-सिद्ध होने से ब्रह्मोपासना श्रद्धेय है यह निगमन करते हैं–

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत् कस्ते द्वेषस्तदीरय।
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात्।।६२।।

पूछो कि हमें उपासना से अधिक प्रेम क्यों है तो तुम बताओ कि उससे तुम्हें इतना द्वेष,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विरोध क्यों है? उपासना में प्रमाण न हो ऐसा है नहीं क्योंकि बहुतेरे वेदप्रसंगों में उसका विस्तार मिलता है।

उपासनावादी बार-बार घूम-फिर कर कहता है कि वह उपास्य है तो इसमें उसका इतना आग्रह क्यों है? इस पर वह ज्ञानवादी से प्रतिप्रश्न करता है कि उपासना से ज्ञानवादी को इतना द्वेष क्यों है? उपासनावादी तो यह नहीं कहते कि आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता, वे तो मान लेते हैं कि ज्ञेय हुए बिना ज्ञान हो सकता है। ज्ञानवादी ही हठ कर रहा है कि उपास्य हुए बिना उपासना नहीं हो सकती है। उपासना में प्रमाण हैं ही। उपासक कहता है कि हमें उपासना से ज्ञान होगा और ज्ञान से मोक्ष होगा, इसलिये शास्त्र में जो कहा कि मोक्ष तो ज्ञान से होगा वह यथावत् स्वीकार है॥६२॥

जिन बहुत-सी श्रुतियों में उपासना बतायी है उनमें से अनेक श्रुतियों को कहते हैं—

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता।।६३।।

नृसिंहोत्तरतापनीय, प्रश्नोपनिषत् का शैब्यकृत प्रश्न, कठोपनिषत्, माण्डूक्य आदि उपनिषदों में सभी जगह निर्गुण की उपासना बतायी गयी है।

निर्गुण उपासना को उत्तरतापनीय में बहुत विस्तार से बताया है। आत्मा की ॐकार के साधन से कैसे उपासना की जाये? शैब्य के इस प्रश्न के जवाब में निर्गुण उपासना को प्रश्नोपनिषत् में बताया है। ॐकार के सहारे से उस परब्रह्म, परम पुरुष का ध्यान या उपासना कैसे करें—यह प्रश्न ५ में स्पष्ट किया। कठोपनिषद् (१. २.१४- १७) में भी कहा है। वहाँ बताया कि यह जो ॐकार है, यह अक्षर ही ब्रह्म है, इसलिये ॐकार का ध्यान ब्रह्म का ही ध्यान है। इसीलिये यह परमात्मा का श्रेष्ठ आलम्बन है। माण्डूक्य उपनिषद् के अन्दर भी बताया है कि ॐ यह अक्षर ही सारा जगत् है। इस प्रकार से उस ॐकार की उपासना बहुत स्थलों पर बताई है। 'आदौ' आदि पद से छान्दोग्य (१.१.१) तैत्तिरीय (१.८), मुण्डक (२.२.३) आदि अनेक उपनिषदों में ॐकार की जो निर्गुण उपासनायें बतायी हैं सभी का संग्रह है। वादी ने कहा था कि निर्गुण उपासना में प्रमाण नहीं है अतः उसे जवाब दिया कि बहुत-सी उपनिषदें प्रमाण हैं ।। ६३।।

उपासना होती है तो उसका कोई न कोई ढंग भी होता है। किसी उपासना में भस्म-रुद्राक्ष धारण किये हुए हैं, किसी में भगवान् तिलक लगाये हुए, तुलसी-माला पहने हुए हैं ऐसा ध्यान है आदि अलग-अलग नियम हैं। इस प्रकार ॐकार की उपासना का क्या प्रकार है? निर्गुण की उपासना कैसे की जाये? इसके उत्तर में कहते हैं—

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम्।।६४।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्गुण उपासना के अनुष्ठान का तरीका 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थ में बताया गया है। कहो कि यह उपासना ज्ञानलाभ का ही उपाय है तो इसे मना कौन करता है।

यह ठीक है कि कल्पसूत्र आदि में ॐकार की उपासना का विस्तार नहीं किया है, परन्तु इसकी उपासना के अनुष्ठान का प्रकार पूरी तरह से भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने पंचीकरण नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कर दिया है। वहाँ जो प्रकार बताया है वही ब्रह्म की उपासना का ढंग है। अन्य उपासना के आचमन आदि अंग इसमें प्रयुक्त नहीं हैं, उन सब की इसमें कोई ज़रूरत नहीं है। न कोई विशिष्ट माला और न कोई विशिष्ट तिलक आदि करना है। उसके प्रारम्भ में ही आचार्य शंकर कहते हैं कि यह उपासना परमहंसों के लिये है। जब तक मनुष्य सब कामनाओं को छोड़ नहीं देता तब तक शुद्ध ॐकार की उपासना का अधिकारी नहीं होता। अगर कामना हो भी परन्तु तुम चाहते हो कि मेरे मन से चली जाये, तब तो इसका अनुष्ठान कर सकते हो। परन्तु यदि तुम्हारे मन में है कि मेरी कामनायें पूरी हो जायें, तो इसके अधिकारी नहीं हो। चूँकि ॐकार परब्रह्म का भी प्रतीक है और अपर ब्रह्म का भी, इसलिये ॐकार के द्वारा यदि तुम अपर ब्रह्म का ध्यान करो तो ॐकार के द्वारा सारी कामनाओं की पूर्ति भी हो जाती है किंतु उसका ढंग अलग है, पंचीकरण वाला नहीं। परब्रह्म की ॐकार से उपासना करते हो तो वह मोक्ष दे देती है। यद्यपि भाष्यकार ने तो इस ध्यान को ज्ञान का साधन बताया है अर्थात् इससे ज्ञान होता है यह कहा है तथापि यहाँ बतायी बातों से विरोध नहीं क्योंकि ध्यानदीप के ढंग में हमने भी यह मना कहाँ किया कि यह ज्ञान का साधन नहीं है! पंचीकरण की विधि से इसका अनुष्ठान करने से ज्ञान की प्राप्ति अवश्य होती है जिससे मोक्ष मिल जाता है। ॥६४॥

अनुष्ठाता-दौर्लभ्य अंगीकार करके प्रामाणिकता का प्रसंग पूरा करते हैं–

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन् मानुतिष्ठतु।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति।।६५।।

कोई व्यक्ति इस उपासना का अनुष्ठान नहीं कर रहा तो मत करे, लोगों की गलती से उपासना का क्या बिगड़ता है!

प्राचीन काल में तो बुद्धिमान्द्य, गुरु की उपलब्धि न होना इत्यादि समस्यायें नहीं थीं, इसलिये विचार के द्वारा ही इस तत्त्व को प्राप्त कर लेते थे। आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने परमहंसोपनिषद् की व्याख्या में कहा है कि दो तरह के लोग होते हैं - एक, जिन के शुभ कर्म और शुभ वासनायें इकट्ठी हो गयीं अर्थात् जो कृतोपास्ति हैं, और दूसरे, जिनके शुभ कर्म और उपासना इकट्ठी नहीं हुई। दोनों तरह के साधक होते हैं - कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति। कृतोपास्ति तो इस ॐकार के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अकृतोपास्ति तात्कालिक भी मन की शांति करने में समर्थ होते हैं। विचार करते समय उनके मन में इधर-उधर का कोई विचार नहीं आता परन्तु चूँकि कर्म-उपासना का बल नहीं है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिये विचार काल से अतिरिक्त काल में फिर संसार की प्रतीति प्रधान हो जाती है। अकृतोपास्ति साधक समझ लेने पर भी उस समझी हुई बात पर स्थिर नहीं रह पाते जिसे लौकिक भाषा में कहते हैं 'गंगा गये तो गंगादास, जमुना गये तो जमुनादास,' सत्संग सुनते हुए लगता है कि परमात्मा ही सब कुछ है, परन्तु जैसे ही घर पहुँचे, लगता है कि बीबी-बच्चे भी तो कुछ हैं ही! अकृतोपास्ति समझ तो लेते हैं परन्तु समझनेमात्र से उनकी कृतार्थता नहीं होती इसलिये उसके बाद उन्हें मनोनाश और वासनाक्षय के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिये या ऐसे लोग देखे जाते हैं जो विचार करके तत्त्वनिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं अथवा दूसरे देखे जाते हैं जो ॐकार से अपरब्रह्म, सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं। उनके मन में कामनायें हैं इसलिये चाहते हैं कि कामना पूरी हो जाये, साथ ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाये। इसलिये प्रतीत होता है कि निर्विशेष की उपासना का कोई अनुष्ठान नहीं होता अन्यथा कोई अनुष्ठान करने वाला भी होता। किंतु यह आक्षेप निरर्थक है क्योंकि यह तो पुरुष का, अधिकारी का अपराध हुआ कि नहीं करता। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ऐसी उपासना है ही नहीं। सत्यवादी दुर्लभ होने से जैसे सत्य का अपलाप उचित नहीं वैसे उपासक न मिलने से उपासना का अपलाप संगत नहीं। ॥६५॥

लोकदृष्टि की प्रधानता ही सर्वाधिक सुलभ है, इससे शास्त्रीय पद्धतियाँ हेय नहीं समझी जा सकतीं यह स्पष्ट करते हैं–

इतोप्यतिशयं मत्वा मन्त्रान् वश्यादिकारिणः।
मूढा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम्।।६६।।

सगुणोपासना से भी अधिक विशेषता मानकर मोहग्रस्त लोग वशीकरण आदि प्रयोजन वाले मंत्र जपें, उनसे अधिक अविचारशील लोग केवल खेती ही करते रहें (इतने से जैसे ईश्वरोपासना आदि असिद्ध नहीं होती वैसे अविवेकी अनुष्ठान नहीं करते इतने से निर्विशेष उपासना अपलापके अयोग्य है)।

मूढ व्यक्ति कहता है कि विष्णु शंकर आदि की उपासना करो तो भी पता नहीं कि कब फल होगा, इससे अच्छा तो शीघ्र सिद्धि देने वाले अनुष्ठान हैं! यह अपने अनुभव को कह रहे हैं : विद्यारण्य स्वामी के मन में एक हिन्दू राज्य-स्थापन की इच्छा थी, इसलिये इन्होंने गायत्री का अनुष्ठान शुरू किया। कई पुरश्चरण करने पर भी कुछ फल नहीं हुआ। तब इन के मन में आया कि यह सब अनुष्ठान, सन्ध्या-वन्दन आदि सब बेकार की चीज़ें हैं! पुरश्चरण एक बार गलत हो सकता है, सारे तो गलत नहीं हुए होंगे, इसलिये सब निष्फल लगे। उनके मामा ने देखा कि वे संध्या आदि नहीं कर रहे थे। पूछा तो इन्होंने कहा कि 'सब बेकार है, संध्यावंदन से कुंछ नहीं होता। मैंने गायत्री के इतने पुरश्चरण किये, किसी एकाध में कोई भूल रह भी गई हो, सभी तो गलत नहीं हुए। फिर भी कुछ फल नहीं हुआ इसलिये ये सब गप्पे हैं।' तब मामा ने कहा 'मैं तुम्हें इक्तालीस दिन का अनुष्ठान बताता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हूँ, वह नियम से कर लो और उससे कुछ नहीं हो तो फिर सब छोड़ देना।' उन्होंने वह अनुष्ठान जैसे ही पूरा किया पीछे से आवाज़ आई 'तुम्हें जो माँगना है सो माँग लो।' विद्यारण्यने कहा 'माँग तो लूँ, लेकिन सामने आकर क्यों नहीं कहते, पीछे से क्यों बोलते हो?' पीछे से ही जवाब मिला 'मैं तुम्हारा सामना नहीं कर सकता! तुमने इतने गायत्रीपुरश्चरण किये हैं कि तुम्हारे ब्रह्मतेज से मैं भस्म हो जाऊँगा! मेरी भी उपासना की है अतः वर तो दे सकता हूँ पर सम्मुख नहीं आ सकता।' उन्होंने पूछा कि 'यदि ऐसा है, और मेरे पुरश्चरण सफल हुए हैं तो मुझे भगवती का साक्षात्कार क्यों नही हुआ?' तब देवता ने कहा 'बात ऐसी है कि पूर्व जन्म में तुझ से एक बड़ा भारी पाप हुआ था इसलिये इस जन्म में तुम्हें गायत्री का दर्शन नहीं होगा।' विद्यारण्य स्वामी ने पूछा 'क्या ऐसा कोई उपाय है जिससे दर्शन हो जाये?' उस वाणी ने कहा 'शरीर रहते हुए शरीर बदलने का एक ही उपाय है कि संन्यास ले लो। संन्यास दूसरा जन्म माना जाता है, इसलिये संन्यास लेने पर तुम्हें दर्शन हो जायेगा।' आचार्य ने विचार किया 'संन्यास तब लूँ जब मेरी कामनायें जायें परन्तु मैं चाहता हूँ कि हिन्दूराज्य स्थापित करूँ। सनातन धर्म की रक्षा करूँ'। फिर किसी प्रकार से विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की, उसके बाद भी बहुत साल वहाँ मन्त्री रहे और इक्यासी साल की उम्र के बाद इन्होंने संन्यास लिया फिर एक सौ बीस साल तक जिये। जैसे ही इन्होंने प्रेषोच्चारण किया वैसे ही भगवती सामने प्रकट हो गयीं क्योंकि पहले ही पुरश्चरण किये हुए थे। भगवती ने कहा 'जो वर चाहो माँग लो।' आचार्य हँसकर बोले 'जब मुझे माँगना था तब तो आई नहीं, अब मैनें संन्यास ले लिया, अब मुझे कुछ नहीं चाहिये, आपको नमस्कार है।' भगवती ने कहा 'मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं जायेगा। अब मैं तुम्हारी जीभ पर बैठूँगी और तुम्हारे लिखे हुए ग्रन्थ अमर हो जायेंगे।' फिर उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे।

यह चूँकि उनका अनुभव था, इसलिये कहते हैं कि विष्णु शंकर आदि की उपासना पता नहीं कब फल देगी, इसलिये मारण, मोहन, वशीकरण आदि शाबर मंत्रों का अनुष्ठान तांत्रिक करें, इससे वैदिक अनुष्ठानों की क्या हानि! मूढ लोग वे जो संसार के पदार्थों में फँसे हैं, फल चाहते हैं इसलिये मोहग्रस्त हैं। वे शाबर आदि जप कर लेते हैं लेकिन विष्णु शंकर आदि का पूजन नहीं करते हैं इतने मात्र से यह मानना ठीक नहीं कि यह पूजन आदि सार्थक नहीं है। मूढ तो कम से कम देवताओं को मान कर जप किया करते हैं, परन्तु जो अतिमूढ हैं वे कहते हैं 'अनुष्ठानों में क्या रखा है, शास्त्रीय नियमों में क्या पड़ना है! उसमें कितना कष्ट होता है; भूखे रहो तो कष्ट, ठण्डे पानी से नहाओ तो कष्ट; इसलिये सब से बढ़िया है कि खेती करो, खाओ-पियो मौज करो।' ऐसे अतिमूढ केवल संसारी क्रियाओं को ही करते हैं। उनसे कुछ आगे तंत्र-मंत्र में जाते हैं, उनसे जो कुछ श्रेष्ठ हैं वे परमेश्वर की उपासना करते हैं। उससे भी श्रेष्ठ हो तब तो परब्रह्म का उपासक हो। इसीलिये यह करने वाले जल्दी दीखते नहीं हैं। इतने मात्र से यह नहीं कह सकते कि 'हमने देखा नहीं तो यह निर्गुणोपासना हो नहीं सकती।' साधनानुष्ठान इसपर निर्भर करता है कि तुम्हें क्या चाहिये। संसार-इच्छुक विभिन्न साधना अपनायेंगे, ज्ञाननिष्ठा में असमर्थ मुमुक्षु निर्गुण की उपासना करेंगे। ॥६६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाम-रूप की जाति के फल चाहना सरल होने से उनके साधनों के अनुष्ठाता सुलभ ही होंगे, निर्गुणोपासक दुर्लभ ही होंगे, यह प्रसंगवश समझा दिया। अब उपासना का विस्तार करते हैं–

तिष्ठन्तु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते।
विद्यैक्यात् सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत्।।६७।।

मूढ जैसे हैं वैसे रहें, उनकी और चर्चा व्यर्थ है। जिसका प्रकरण चला है वह निर्गुण उपासना बतायी जाती है : क्योंकि विद्या एक है इसलिये सब शाखाओं में कहे गुणों का इसमें उपसंहार कर लेना चाहिये।

जो मोहग्रस्त लोग हैं उनकी बात छोड़ो। वे दृश्य के मोह में फँसे हुए हैं अर्थात् चाहते हैं कि कुछ न कुछ दृश्यरूप चीज़ें मिलनी ही चाहिये। जो केवल बन्धन की निवृत्ति चाहते हैं, उनके लिये यह निर्गुण उपासना कर प्रकरण चल रहा है। यह उपासना कैसे करनी है? सगुण उपासनायें तो गुणों के भेद से अलग-अलग हैं। निर्गुण एक अखण्ड ही है। इसलिये उपासना के प्रकरण में आता है 'सर्व-वेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषाद्' (ब्र.सू.३.३.१) कि सारे वेदान्तों में अर्थात् उपनिषदों में एक-सी उपासनाओं को बताया है। अतः कहीं कह दिया 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और कहीं कह दिया 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' तो वहाँ कहे अनंत को यहाँ कहे आनन्द के साथ जोड़ लेना चाहिये। वेदान्तों में अलग-अलग कहे हुए जो प्रत्यय अर्थात् विज्ञान हैं उन सबको उपासना के लिये मिला लेना चाहिये। ब्रह्म-विचार के लिये जैसा बताया है, उपासना के लिये भी उसे वैसा समझना है। निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान एक-जैसा ही होना है क्योंकि उसमें कोई भेद तो है नहीं, इसी प्रकार निर्गुण उपासना भी एक-जैसी होगी इस लिये तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कौथुमी आदि सभी शाखाओं के अनुसार ध्येय तत्त्व भी समझ लेना पड़ेगा। सारी शाखाओं में कहे हुए जो गुण उन सबको निर्गुणोपासना में उपसंहृत कर लेना पड़ेगा। ॥६७॥

निर्गुण ब्रह्म के दो प्रकार के गुण बताये हैं - एक तो वह क्या नहीं है; दूसरे, वह क्या है। केवल 'क्या है' वालों का उपसंहार करें या केवल 'क्या नहीं है' वालों का उपसंहार करें? यह शंका होती है। समाधान में कहते हैं–

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः।
आनन्दादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता।।६८।।

विधिमुख से कहे आनन्द आदि गुणों का उपसंहार (समावेश) व्यास जी ने 'आनन्द आदि ब्रह्मधर्म हैं' (३.३.११) इस सूत्र में समझाया है।

जितने भी विधेय गुण हैं जैसे आनन्द, विज्ञान, परम, प्रत्यगेकरस इत्यादि सभी जो 'ब्रह्म क्या है?' के उत्तर में बताये गये हैं, उन्हें मिला कर स्वरूप समझना पड़ेगा। ऐसा स्वयम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यास जी ने बताया है। जिसका प्रतिपादन करना है वह ब्रह्म प्रधान होने से, उसके जो गुण आनन्द आदि बताये गये हैं उन सब को उपसंहृत अर्थात् एकत्र कर समझना चाहिये। उक्त सूत्र में भगवान् वेदव्यास ने यही बताया है। इसलिये सभी विधेय गुणों का उपसंहार हो जाता है।। ६८।।

निषेध्य गुणों के लिये भी व्यास जी ने कहा है–

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताक्षरधियां त्विति।।६९।।

इसी प्रकार व्यास जी ने 'अक्षरविषयक सब निषेध ज्ञान सभी अक्षर-प्रसंगों में समझने चाहिये' (३.३.३३) इस सूत्र में 'अस्थूल' आदि शब्दों से कहे निषेधयोग्य गुणों का एकत्रीकरण बताया है।

'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्' (३.३.३३) सूत्र में व्यास जी ने बताया है कि जितने भी 'ब्रह्म क्या नहीं है' यों निषेध-मुख से बताने वाले शब्द हैं उन सबका भी उपसंहार कर लेना चाहिये। अर्थात् जैसे ज्ञान के लिये विहित और निषिद्ध सभी धर्मों का ब्रह्म में संग्रह होता है उसी प्रकार उपासना के लिये भी हो जायेगा। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, वह अत्यंत सूक्ष्म या अणु भी नहीं है, छोटा भी नहीं है। 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्', 'अशब्दम्' अस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि में बताया है कि वह देखने लायक भी नहीं है, पकड़ने लायक भी नहीं है, शब्दरहित है, स्पर्शरहित है, रूप-रहित है, अव्यय है अर्थात् उसमें कभी किसी प्रकार की कमी-बेशी नहीं होती। इस प्रकार जितने विधेय (भावात्मक) गुण हैं तथा अस्थूल आदि जो निषेध्य (अभावात्मक) गुण हैं उन सबका उपसंहार कर लेना चाहिये। वेदान्तदृष्टि से भावों की तरह अभाव भी गुण ही समझे जाते हैं क्योंकि सभी विशेषतायें गुण कहलाती हैं। कर्मकाण्ड में जैमिनि ने भी इस रीति को स्वीकार किया है कि सभी अंग अपने प्रधान के आधीन होते हैं। उसी प्रकार यहाँ समझ लेना चहिये कि विधेय और निषेध्य सारे गुणों वाला परमेश्वर है॥६९॥

निर्गुण की उपासना में सारे गुणों को मिलाना विरुद्ध है क्योंकि निर्गुण में तो कोई गुण होता नहीं? इस आक्षेप का परिहार करते हैं–

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः।
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु।।७०।।

निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की विद्या (उपासना) में गुण एकत्र करना संगत नहीं यह उलाहना व्यास जी के प्रति दिया जाना चाहिये मेरे (ध्यानदीपकार के) प्रति नहीं!

निर्गुण ब्रह्म के सारे गुणों का उपसंहार करो अर्थात् निर्गुण को समझने के लिये सारे गुणों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को मिला कर समझो! यह तो कोइ बात नहीं बनी क्योंकि उसमें कोई गुण है ही नहीं? इस पर कहते हैं कि इसीलिये हमने दोनों तरह के गुणों के सम्बन्ध में व्यास जी की बात प्रमाणरूप से कह दी। अतः यह उपालम्भ कि निर्गुणों में गुणों का उपसंहार युक्त नहीं, यह दोष व्यास जी पर लगाया जाये, मुझ पर नहीं। तात्पर्य है कि यह दोष ही नहीं है। ॥७०॥

व्यास जी का निर्देश गलत हो नहीं सकता अतः निर्गुणोपासना में गुणोपसंहार कैसे संगत है यह समझाते हैं–

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत् तुष्यतां त्वया।।७१।।

स्वर्णमय दाढ़ी वाली सूर्य आदि मूर्तियों का इस उपासना में संग्रह न होने से (सत्य, अस्थूल आदि गुणों का संग्रह) यदि विरुद्ध नहीं है (यह समझ पाओ तो) सन्तोष करो कि यह सिद्धान्त शास्त्र व युक्ति के अनुकूल है।

कुछ गुण उपाधियों के कारण हैं, कुछ स्वरूपभूत हैं। हिरण्यश्मश्रु अर्थात् सोने की मूँछ वाली सूर्य आदि की मूर्तियाँ औपाधिक हैं। रुद्राष्टाध्यायी में भी कहा है 'नमो हिरण्यबाहवे' आदि। ऐसी मूर्तियों को, गुणों को एकत्र करने के लिये यहाँ नहीं कहा जा रहा है, इसलिये निर्गुणत्व अविरुद्ध है। हिरण्यश्मश्रु आदि गुण औपाधिक हैं अर्थात् उपाधियों के द्वारा हैं जबकि सत्य ज्ञान अनंत आनन्द इत्यादि स्वरूपभूत हैं अर्थात् वे ब्रह्म का स्वरूप हैं। स्वरूप को समझने के लिये जिसका चिन्तन किया जाता है वह गुण की तरह प्रतीत होता है, परन्तु गुण होता नहीं है। जैसे आग का स्वरूप गर्मी है, फिर भी कहा जाता है कि आग का गुण गर्मी है। गर्मी के अतिरिक्त कोई आग होती हो, ऐसा नहीं है, जहाँ गर्मी है वहाँ आग है, इसलिये गर्मी आग का स्वरूप है फिर भी समझने के लिये कह दिया जाता है कि आग का गुण गर्मी है। इसी प्रकार ब्रह्म सत्यरूप, आनन्दरूप, ज्ञानरूप है, यह सब ब्रह्म का स्वरूप है फिर भी समझने के लिये कह दिया जाता है कि इन गुणों का उपसंहार करो। निर्गुण में गुणों के उपसंहार का मतलब इतना ही है कि उसके स्वरूप-प्रतिपादक वाक्यों का अर्थ इकट्ठे समझना है, चाहे विधिमुख से, चाहे निषेधमुख से उसे कह दिया हो। हिरण्यश्मश्रु आदि जो औपाधिक मूर्तियाँ हैं उनका ग्रहण नहीं करना है। इसलिये निर्गुणत्व अविरुद्ध रहा क्योंकि ये गुण ब्रह्म में नहीं हैं, उसका स्वरूप ही हैं। इसीलिये व्यास जी ने निर्गुणविद्या के प्रकरण में ऐसा कहा है। ॥७१॥

सत्य, अस्थूल आदि को ब्रह्म 'में' यदि नहीं समझना है तो उपसंहृत करने योग्य उपास्य गुण कैसे हुए? इसका उत्तर देते हैं–

गुणानाम् लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तः प्रवेशनम्।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम्।।७२।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रसंग में समझे गये गुण ब्रह्म के ज्ञान में उपयोगीमात्र हैं—यदि यह स्वीकारो तो यही सही, ब्रह्मरूप तत्त्व की उपासना की जाये।

स्वरूप को जो गुणवाला कहा गया है, वह लक्ष्यरूप ब्रह्म को लखाने के लिये है। सत्य शब्द का एक अर्थ तो लोकप्रसिद्ध है। जो चीज़ जानी जाते हुए नहीं है यह सिद्ध नहीं होती उसे सत्य कहते हैं, जैसे यह दीवार है, यह सच्ची बात है क्योंकि जब तक व्यवहारयोग्य है तब तक दीवार कभी असिद्ध नहीं होगी। दीवार पैदा हो सकती है, नष्ट हो सकती है परन्तु 'यह दीवार झूठी है' ऐसा सिद्ध नहीं होगा। इसलिये जो कभी झूठा सिद्ध न हो वह सत्य का वाच्य हुआ। झूठी सिद्ध न होना इस विशेषता में सत्य-पद की लक्षणा हो जायेगी। इसी तरह से ज्ञान का वाच्यार्थ अंतःकरणवृत्तिविशिष्ट चेतन है। 'मैंने घड़े को जाना या मुझे घड़े का ज्ञान हुआ,' यहाँ जाना या ज्ञान का वाच्यार्थ अन्तःकरणवृत्ति से विशिष्ट ज्ञान है। ज्ञान-शब्द का अर्थ है अंतःकरणवृत्तियुक्त चेतन। युक्तता चाहे विशिष्टरूप से कहो चाहे उपलक्षित रूपसे कहो। इसी अर्थ में ज्ञान-शब्द लोक में प्रसिद्ध है। बिना अन्तःकरण की वृत्ति के जो ज्ञानरूप है वह इसका लक्ष्य हो जायेगा। इसी प्रकार से अन्तःकरण की वृत्ति शान्त रहने पर जो बना रहता है वह आनन्द है। इसीलिये आनन्द को आनन्दमय कोश, सुषुप्ति के द्वारा बताया क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण की वृत्ति नहीं रहती है और आनन्द रहता है। इस प्रकार ये गुण उसे लक्ष्य बनाकर कहते हैं, वाच्य बनाकर नहीं कहते। इस लिये निर्गुण तत्त्व के अन्दर उनका प्रवेश नहीं है, ये सब उसको बताने के लिये ही हैं। व्यास जी ने उपसंहार (संग्रह) किया इसलिये कि वे ब्रह्मतत्त्वरूप हैं अतः ब्रह्म को लखा देते हैं, धर्म नहीं बनते।

शंका होती है कि उपासना में तो गुणों सहित का चिन्तन होता है जबकि लक्ष्य करने पर लक्षक को छोड़ दिया जाता है। दूज का चन्द्रमा नहीं दीख रहा तो कहते हैं कि वह सामने नीम के पेड़ की ऊपर की दो डालियों के बीच में देखो। वह उन डालियों के बीच में देखता है तो उसे चन्द्रमा दीख जाता है। चन्द्रमा उन डालियों के बीच में है तो नहीं। कहने वाला भी जानता है कि दो डालियों के बीच में चन्द्रमा नहीं है, सुनने वाला भी जानता है कि दो डालियों के बीच में नहीं है फिर भी दो डालियों के बीच में देखने से चन्द्रमा दीख जाता है। चन्द्रमा में दो डालियों का प्रवेश नहीं, देखने में मदद के लिये हैं। किंतु यदि दो डालियों के बीच में चन्द्रमा का ध्यान करना हो तब तो दो डालियाँ बनी रहेंगी। इसलिये ज्ञान के प्रसंग में सबका उपसंहार संगत बन जात है, उपासना में कैसे संगत है? समाधान है 'एवमेव ब्रह्मतत्त्वम्'; गुणों से लक्षित तत्त्व के रूपमें यहाँ चिन्तन विवक्षित है। जिस उपाधि के द्वारा ज्ञान हो रहा है उससे रहित वह ब्रह्मतत्त्व है—इस प्रकार से उपासना करो। तत्त्व के अन्दर न प्रवेश करते हुए ही वे गुण उसको बता देते हैं। 'सत्यादि विधेय और अनणु आदि निषेध्य गुणों से लक्षित वस्तु मैं हूँ'—ऐसे चिन्तन का, बार-बार ऐसी वृत्ति बनाने का यहाँ विधान है। जब तक प्रयास से है तब तक उपासना एवं अनायास यह अनुभव हो तब ज्ञान है। आकार एक ही है, परोक्षता रहते उपासना तथा साक्षात्कार होने पर ज्ञान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मस्वरूप के परोक्ष ज्ञान की पुनरावृत्ति, विरोधी ज्ञान न उत्पन्न होने देना, यहाँ उपासना है। ॥७२॥

उपासना का आकार व्यक्त करते हैं–

आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः।
अखण्डैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते।।७३।।

'आनन्द आदि एवं अस्थूल आदि द्वारा इन श्रुतिवचनों में जो आत्मा लक्षणा वृत्ति से कहा गया है वही अखण्ड वस्तु मैं हूँ,' इस प्रकार मोक्षेच्छुक उपासना करते हैं।

आनन्द आदि गुणों के द्वारा वह लक्षित होता है अर्थात् आनन्द आदि गुणों के द्वारा उसका विचार चलता है। आत्मा अखण्ड एकरस है। जैसे चन्द्रमा सुदूर आकाश में है, परन्तु दो डालियों के बीच में देखने का प्रयत्न करना है इसी प्रकार आत्मा अखण्ड एकरस है, परन्तु उपासक आनन्द आदि गुणों के द्वारा उसका साक्षात्कार करेगा। आनन्दादि विधेय और अस्थूल आदि निषेध्य, दोनों तरह के गुणों द्वारा लक्षित अखण्ड एकरस आत्मा मैं हूँ–यह उपासना का ढंग है। अखण्ड है इसलिये गुण-गुणिभाव वहाँ नहीं है, आनन्द वाला वह नहीं है, वरन् आनन्दरूप है। ऐसे ही ज्ञानवाला वह नहीं है, ज्ञानरूप वही मेरा वास्तविक प्रत्यगात्मरूप है–इस प्रकार ब्रह्म तत्त्व की उपासना बन जाती है। ॥७३॥

ज्ञान और उपासना में भेद स्पष्ट करते हैं–

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु।
वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।।७४।।

ज्ञान और उपासना में अन्तर क्या है? सुनोः ज्ञान वस्तु के (विषयके) अधीन होता है, उपासना कर्त्ताके (उपासक के) अधीन होती है।

प्रश्न है कि आकार समान है तो फिर ज्ञान और उपासना दोनों में फ़र्क क्या रह गया? फ़र्क बताते हैंः वृत्ति का आकार एक ही है किन्तु ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है तो आनन्द आदि स्वरूप प्रतीत होता है, दृश्यरूप प्रतीत नहीं होता, मैं–ऐसा अनुभव होता है। जब वस्तु का बोध होता है तब जैसी चीज़ है वैसा ही होता है। जो चीज़ जैसी है वैसी दीखेगी, इसमें तुम कुछ नहीं कर सकते। कुत्ता सड़ रहा है तो बदबू आयेगी, इसमें तुम कुछ नहीं कर सकते। केसर डालकर चन्दन घिस रहे हो तो सुगन्धि ही आयेगी, इसमें भी तुम कुछ नहीं कर सकते। जैसी चीज़ है वैसा ही ज्ञान होगा, इसमें जानने वाले की कुछ स्वतंत्रता नहीं है। जो है सुगन्धि उसे बदबू समझ लो–यह तुम्हारा स्वातन्त्र्य है, यह उपासना हो जायेगी। समझना तो तुम्हारे हाथ में है, कर्तृतंत्र है, यह वस्तु के हाथ में नहीं है। तुम चाहे हज़ार साल सोचते रहो कि यह बदबू सुगन्धि है, लेकिन वह बदबू ही रहेगी, सुगन्धि हो नहीं जायेगी। ज्ञान वस्तु के अधीन होता है। जैसी चीज़ है वैसा ही ज्ञान होगा जबकि उपासना, करने वाले के अधीन है। 'सत्य-अस्थूल आदि अखण्ड एकरस हूँ' यह प्रामाणिक अनुभव ज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है तथा अनुभव रहे कि 'कर्ता-भोक्ता हूँ' और शास्त्रवश समझूँ कि 'अखण्ड हूँ,' तो उपासना है। उपासना जितनी देर चलती है उतनी देर ब्रह्मदृष्टि करोगे, परन्तु जैसे ही उपासना का काल समाप्त हुआ वैसे ही फिर तुम जीवभाव की वृत्ति वाले ही रह जाओगे, तुमको भूख लगेगी, सुख-दुःख होंगे। तुम चाहे जितनी निर्गुण ब्रह्म की उपासना, अहंग्रहोपासना कर लो, परन्तु तुम कर्त्ता-भोक्ता ही रहोगे। जब ज्ञान होता है तब 'मैं कर्त्तादि नहीं हूँ ब्रह्म हूँ, अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं वरन् साक्षिमात्र हूँ' यह अनुभव स्थायी रहता है। इस ज्ञान के होने के बाद प्राणों को भूख लग सकती है, इन्द्रियों को विषय-दर्शन हो सकता है, मन सोच सकता है, परन्तु यह सब तुम नहीं करोगे। बोध और उपासना के अन्दर यह आधारभूत अन्तर है। प्रत्यगात्मा सचमुच ब्रह्मरूप है, इसलिये प्रत्यगात्मा को ब्रह्म *जानना* तुम्हारे हाथ में नहीं है। आचार्य शंकर एक जगह कहते हैं कि जो अपनी ब्रह्मस्वरूपता को जान लेता है वह न चाहे तब भी उसकी मुक्ति हो ही जायेगी! जैसे तुम नहीं चाहते कि बदबू आये लेकिन बदबू है तो बदबू ही आयेगी, ठीक इसी प्रकार से तुम नित्यमुक्त हो अतः *जानोगे* तो अपने को नित्यमुक्त ही जानोगे। फिर चाहकर भी कर्त्ता-भोक्ता हो नहीं सकते। उपासना यत्नसाध्य होने से यत्नपर्यन्त वृत्ति रहती है, आगे-पीछे नहीं। यह बहुत बड़ा फ़र्क ज्ञान और उपासना में है। ॥७४॥

उपासना व ज्ञान का भेद ही व्यक्त करते हैं–

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत्।
स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारं दहत्यखिलसत्यताम्॥७५॥

ज्ञान उत्पन्न होता है विचार से। न चाहने से ज्ञान का निवारण नहीं होता। संसार में भासती सारी सत्यता को अपने केवल जन्म से ज्ञान जला देता है।

उपासना तुम्हारे करने से होती है, ज्ञान तुम्हारे करने से नहीं होता, ज्ञान तो विचार से ही होता है। 'ब्रह्म क्या है?' जब इसका यथाशास्त्र विचार करते हो तब ब्रह्म का ज्ञान होता है। ज्ञान के लिये 'ब्रह्म ऐसा है' यह नहीं सोचना है। ब्रह्म कैसा है–केवल इसको जानना है। विचार से जो ज्ञान होगा वह तुम्हें इच्छा न होने से निवृत्त नहीं होगा। जो चीज़ जैसी है वैसी ही दीखेगी। जैसे तुम नहीं चाहते कि तुम्हें बदबू आये फिर भी बदबू है तो आयेगी, इसी प्रकार मैं मुक्ति की इच्छा न भी करूँ तो भी स्वयं की प्रमा यही संभव है कि नित्यमुक्त हूँ। इसलिये एक विशेषता हुई कि ज्ञान वस्तु के अधीन होता है अतः दूसरी कि विचार से पैदा होता है। उपासना, करने वाले की इच्छा के अधीन है। तीसरी विशेषता है कि ज्ञान उत्पन्न होते ही संसार में हर चीज़ की सत्यता सर्वथा नष्ट हो जाती है। संसार में कहीं भी सत्यत्व-बुद्धि नहीं रह जाती। ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सबकी असत्यता स्पष्ट हो जाती है। अनादिकाल से चली आई जो बुद्धि (निश्चय) है कि यह संसार है, वह बुद्धि सारे संसार से हट जाती है। ॥७५॥

सत्यता-निश्चय हटने का प्रभाव दिखाते हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः।
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते।।७६।।

तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से ही साधक कृतार्थ हुआ सनातन तृप्ति पा जाता है। यों जीवित रहते मोक्षका अनुभव कर प्रारब्ध के क्षयको साक्षी बना देखता रहता है।

जब ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब चीजों की असत्यता और प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का निश्चय हो गया तो जो कुछ किया जा सकता है वह सब कर लिया; और कुछ करने को बाकी नहीं रह जाता। अगर संसार में कुछ करने को बाकी रह गया तो समझ लो कि असत्यता और प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का निश्चय नहीं हुआ। ठीक जिस प्रकार से तुमने सिनेमा में देखा कि कोई चोरी करके भागा। लेकिन क्या तुम उसको पकड़ने के लिये उसके पीछे भागोगे? नहीं, क्योंकि जानते हो कि वह खेल है, असत्य है। न चोर की रिपोर्ट दर्ज करानी है, न और कुछ करना है; खेल खत्म पैसा हजम। इसी प्रकार से जैसे ही संसार की सत्यता पर पटाक्षेप हुआ वैसे ही संसार का खेल भी खत्म है, कुछ करने को बाकी नहीं रहा। चूँकि अपने परम आनन्दस्वरूप का स्पष्ट भान है इसलिये तृप्ति हमेशा रहने वाली है। तृप्ति आ गई इसलिए भी करने को कुछ रहा नहीं। सर्वथा तृप्त ही पूर्ण आनन्द में है। इसी को शास्त्र में जीवन्मुक्ति कहा है। उसके बाद जो अविद्यालेश है उसके कारण थोड़ा-सा खेल दीखता है। वह प्रारब्धक्षय-रूपी खेल कब खत्म हो—इसको देखतामात्र रहता है। यह उपासना की अपेक्षा बोध में मुख्य विशेषता है।

प्रश्न का हृदय यह था कि मन की वृत्ति से तुम जानते हो और मन की वृत्ति ही तुम उपासना में बनाते हो तो मन की वृत्ति एक-जैसी अतः उपासाना भी ज्ञान है। उत्तर का भाव है कि मन की वृत्ति बनती दो प्रकार की है। ऐसे समझ लो : एक तो तुम रसगुल्ला खा रहे हो। रसगुल्ला खाना मन की वृत्ति है। नशे या नींद में मनोवृत्ति न बनने से 'रसगुल्ला खा रहा हूँ' यह ज्ञान नहीं होता। जीभ पर रसगुल्ला रखा और मन की वृत्ति रसगुल्ले के स्वाद के आकार की बनी तब रसगुल्ले का स्वाद आया। मन की वृत्ति से ही रसगुल्ले का स्वाद पता चलता है। दूसरा मन की वृत्ति बनाने का प्रकार है कि तुम यहीं बैठे हुए मन से सोचते हो कि 'मैं कलकत्ते के बाग बज़ार में जाकर नवीन चन्द्र की दुकान में रसगुल्ला खा रहा हूँ'। क्योंकि पहले भी वहाँ तुम्हारा खाया हुआ है, इसलिये तुम्हें रसगुल्ला और उसका स्वाद याद तो आ ही रहा है पर स्वाद को *जान* नहीं रहे। वृत्ति रसगुल्ला जीभ पर होने से भी बन रही है, रसगुल्ले को याद करके भी बन रही है। दोनों में क्या फ़र्क है? दोनों एक-जैसे हैं परन्तु जिसने रसगुल्ला खाया है वह जानता है कि दोनों बिलकुल अलग भी हैं। मन की वृत्ति एक-सी होने पर भी एक जगह तो चीज़ के द्वारा तुम्हें ज्ञान हुआ, दूसरे में चीज़ का योगदान नहीं, तुमने ही वृत्ति वैसी बनायी। यही फ़र्क ज्ञान और उपासना में है। ज्ञान के अन्दर तो ब्रह्म जैसा है वैसा तुम जान रहे हो जबकि उपासना में वैसा दर्शन नहीं, फिर भी वैसा बार-बार सोच रहे हो। यह दोनों में फ़र्क है। ॥७६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है जिसे अनिच्छा निवृत्त नहीं कर सकती। परन्तु विचार भी कोई तभी करेगा जब इच्छा है! विचार करने की तो इच्छा होनी चाहिये, परन्तु विचार से क्या ज्ञान होगा यह अपने हाथ में नहीं है। ज्ञान से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। उपासना इससे भिन्न है, उसमें विचार की ज़रूरत नहीं है–

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन्।
चिन्तयेत् प्रत्ययैरन्यैरनन्तरितवृत्तिभिः।।७७।।

श्रद्धालु साधक आप्त उपदेष्टा पर विश्वास कर निःशंक हो विरोधी वृत्तियों से चिन्तन करे–यह उपासना हो जाती है।

ज्ञानमार्ग के साधक में विचार अत्यावश्यक है और उपासनामार्ग का साधक श्रद्धालु होना अत्यावश्यक है। यद्यपि श्रद्धा की ज़रूरत तो विचार मार्ग में भी है, तथापि किस प्रकार से विचार करना चाहिये–इसीमें श्रद्धा की ज़रूरत है, आगे, विचार से ज्ञान तो स्वतः उत्पन्न होगा। जो श्रद्धालु विचार नहीं कर सकता उसको तो जैसा आप्त, प्रामाणिक पुरुष का अर्थात् गुरु का उपदेश है कि यह उपास्य का स्वरूप है, उसी प्रकार की उपासना करनी है। भगवान् विष्णु के चार हाथ हैं, इसमें विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि चार ही क्यों, पाँच हाथ क्यों नहीं! यह सब विचार नहीं किया जाता, आप्त ने कह दिया तो चार ही हाथ हैं, उसी का ध्यान होगा। जो विचार करने लगे कि चार हाथ क्यों हैं, वह उपासना का अधिकारी नहीं होगा। उपास्य का स्वरूप क्या है, यह बात उपदेश से पता लग जाती है। कोई बात समझ में नहीं आये तो वापिस गुरु से पूछो, उसमें अपनी युक्तियों से विचार करने से काम नहीं चलेगा।

जो विश्वास भी नहीं कर सकता और उसमें विचार की भी सामर्थ्य न हो तो वह इन दोनों मार्गों का अधिकारी नहीं है जैसे वर्तमान काल के लोग! वे हर चीज़ के बारे में पूछेंगे कि 'ऐसा क्यों, ऐसा क्यों नहीं', और जब उनसे विचार करने लगो तो कहेंगे कि 'इसमें तो सिर दर्द होता है, जी घबराता है'। अगर विचार करने की सामर्थ्य हो तो उससे घबराहट नहीं होगी। अगर विचार करने की सामर्थ्य नहीं तो जैसे गुरु जी ने कह दिया वैसा विश्वास करो कि ऐसा ही है। जो उन्होंने कहा है उससे भिन्न विजातीय प्रत्यय अर्थात् चिन्तन न करे। उन्होंने विष्णु भगवान् का ध्यान करने को कहा और उनके चार हाथ बताये तो वैसा ही ध्यान करना है। यदि अन्य आकार की वृत्तियाँ बनती रहीं तो ध्यान, उपासना नहीं होगी। प्रायः लोगों की यह शंका रहती है कि विष्णुपुराण बाँचते हैं तो उसमें विष्णु को ही सब कह दिया गया है और गणेश-पुराण में गणेश को ही सब कुछ कह दिया। ऐसा विरोध क्यों? उत्तर तो सीधा है कि गणेश के उपासक के लिये वैसा लिखा गया है और विष्णुभक्त के लिये विष्णुपुराण लिखा है। दोनो बाँचोगे तो गड़बड़ी के अतिरिक्त और कुझ नहीं लगना है। पुराण क्योंकि स्मार्त हैं अतः किसी पुराण में विष्णु प्रधान होंगे लेकिन अन्य देवताओं का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी वर्णन आयेगा ही। सिद्धान्त है कि विष्णु-उपासक विष्णु को प्रधान मानकर बाकी सबको गौण माने और गणेश का उपासक गणेश को प्रधान मानकर बाकी सबको गौण माने। ऐसा कोई पुराण नहीं है जिसमें सारे देवताओं को न कहा हो। सबकी पूजा करनी है, लेकिन अन्य सब गौण हैं, इष्ट देवता के पार्षद हैं, और वह प्रधान देवता है। विचारक दोनों को बाँचेगा और तब विचार करके इस निर्णय पर पहुँचेगा कि किसी भी गुणवाला प्रधान नहीं है, इन सब गुणों को छोड़कर जो निराकार है वही प्रधान है, उसी की भिन्न-भिन्न उपाधियों में स्थिति कही है। विचार करने का मार्ग अलग है, उपासना का मार्ग अलग है। उपासना के मार्ग में श्रद्धा ही चाहिये। अन्यथा दूसरे प्रत्ययों या ज्ञानों से ध्यान अनंतरित न रहकर बीच-बीच में दूसरी बातें भी आती रहेंगी। बहुत से लोग देवभेद में आग्रही होकर विभिन्न देवताओं की आराधना करते रहते हैं जिससे कोई भी एक प्रत्यय दृढ नहीं होता। अन्य वृत्तियों का व्यवधान न रखे तभी उपासना-मार्ग में अधिकारी बनेगा। एकनिष्ठ प्रत्यय-प्रवाह होने पर ही उपासना की सिद्धि होगी। इसलिये स्मार्त पंचदेव-पूजा में सभी को मानते हैं, परन्तु मध्य में उपास्यको रखते हैं। विष्णु-उपासक विष्णु को मध्य में रखकर और गणेश का उपासक गणेश को मध्य में रखकर उपासना करेगा, बाकी को चारों तरफ रख देगा। स्मार्त किसी देवता को मना नहीं करता है, उन सभी को पार्षद मानता है। इस प्रकार अविचारशील श्रद्धालु उपासना में तथा विचारशील श्रद्धालु ज्ञान में अधिकारी है, यह भी इन दोनों में अन्तर है। ॥७७॥

उपासक के लिये चिन्तन-काल कितना चाहिये यह सूचित करते हैं—

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवाऽऽमृति धारयेत्।।७८।।

जब तक 'उपास्य ही मेरा वास्तविक स्वरूप है' यह दृढ भावना न बने तब तक इसके लिये चिन्तन करता रहे, तदनन्तर मरण-पर्यन्त वही भाव कायम रखे।

यह उपासना कब तक करे? जब तक चिन्त्य के स्वरूप का अभिमान न हो जाये अर्थात् जिसका चिंतन कर रहा है उसमें 'यही मैं हूँ' ऐसा अभिमान न हो जाये। जब तक यह अभिमान न हो जाये कि 'यह देव ही मैं हूँ और कुछ नहीं हूँ' तब तक अन्य कोई प्रत्यय बीच में न लाते हुए उसका चिंतन करता रहे। ज्ञान में तो जब निश्चय हो गया, उसके बाद फिर प्रारब्धक्षय को देखता है। फिर उसको और कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। उपासना में ऐसा नहीं है। 'मैं उपास्य ही हूँ, इससे भिन्न नहीं' ऐसा अभिमान होने के बाद भी मरने तक इसको धारण करना पड़ेगा। अर्थात् लगातार अभिमान करना पड़ेगा क्योंकि ऐसा ज्ञान, अनुभव तो है नहीं। अगर तुम दूसरा चिंतन करने लगे तो वह प्राप्त हुआ अभिमान हाथ से निकल जायेगा। ठीक जैसे रेल में तुमको अपने नाम का टिकट नहीं मिला और तुमने देवदत्त के नाम का टिकट ले लिया तो तुम्हें मन में बार-बार याद रखना पड़ेगा कि कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाम पूछे तो 'देवदत्त' कहना है, उम्र पूछे तो ५५ साल कहना है अर्थात् 'मैं देवदत्त हूँ और ५५ साल का हूँ' यह धारण करना है। परन्तु तब भी तुमको ज्ञान तो है कि 'मैं यज्ञदत्त हूँ और पचास साल का हूँ।' इस बात को याद नहीं करना पड़ता। जहाँ भी जाओ, कोई पूछे तो फट बता दोगे। मैं देवदत्त ५५ साल का हूँ नहीं, टिकट उसके नाम का लिया है तो याद रखना होगा, यदि तुमने उधर ध्यान नहीं दिया तो पकड़े जाओगे। इसी प्रकार तुम जिस इष्ट का ध्यान कर रहे हो तद्रूप हुए तो हो नहीं, केवल अभिमान है अतः ऐसा यदि याद नहीं करते रहे तो जीव ही रह जाओगे। इसलिये जब तक मर न जाओ तब तक इसको धारण करके रखना पड़ेगा। यह भी फ़र्क ज्ञान और उपासना में है। ॥७८॥

आमरण ध्यान रखने का निर्णय उदाहरण से पुष्ट करते हैं

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया।
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत।।७९।।

संवर्ग नामक उपासना के अनुष्ठाता भिक्षा माँगने वाले ब्रह्मचारी ने चित्त में अपनी संवर्गरूपता धारण कर भिक्षा की याचना की।

उपासक को अपने इष्टरूप के अभिमान को हमेशा धारण करना पड़ता है। छांदोग्य (४. ३.६) की संवर्गविद्या में एक कथा आई है: कोई ब्रह्मचारी था जिसने संवर्ग विद्या की उपासना की थी। जैसे वायु संहार के समय सब को अपने में लीन कर लेता है वैसे ही सारी इन्द्रियाँ सुषुप्ति के समय प्राण में लीन हो जाती हैं, अतः प्राण में संवर्गता का चिंतन है जिससे 'मैं सर्वसंहाररूप हूँ' ऐसा अभिमान हो जाता है। इस संवर्ग विद्या से युक्त वह ब्रह्मचारी भिक्षा से जीवन-निर्वाह करता था। एक बार भिक्षा लेने के लिये राजा के पास गया। राजा के सामने कहा कि चारों देवों को जो एक निगलता है या जो जगता रहता है वह सारे संसार की रक्षा करने वाला मैं हूँ—इस प्रकार से 'मैं संवर्गरूप हूँ' ऐसा उसने अपना परिचय राजा को दिया क्योंकि उसके चित्त में वही अभिमान दृढ था। इससे पता लगता है कि उपासक को हर समय अपने इष्ट का चिंतन करते रहना चाहिये। ॥७९॥

मरण-पर्यन्त धारण करने में हेतु समझाते हैं—

पुरुषस्येच्छया कर्त्तुमकर्त्तुं कर्तुमन्यथा।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात् प्रत्ययसन्ततिम्।।८०।।

क्योंकि कर्त्ता की इच्छा से उपासना करना, न करना या अन्य तरह करना संभव है इसलिये हमेशा वृत्ति-प्रवाह चलाना चाहिये।

पुरुष अपनी इच्छा से जैसी उपासना बताई है वैसा कर सकता है। गुरु जी ने जैसा उपदेश दिया है वैसा करे, न करे या कुछ और ही उसमें जोड़-घटा कर करे। गुरु जी ने कहा कि रोज़ सवेरे चार बजे उठकर ध्यान करना, लेकिन वह छह बजे तक पड़ा सोता ही रहे,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्यान न करे। विष्णु भगवान् का नीले या साँवले रूप में ध्यान करना है, उसकी जगह सफेद रूप में ही उनका ध्यान कर ले तो कोई क्या कर लेगा! जैसा बताया वैसा करे, न करे या अपनी इच्छा से और ही कुछ करे, इन सब प्रकारों से उपासना करना सम्भव है। इसलिये नियम करते हैं कि जैसा बताया वैसा ही नित्य करे। वैसा न किया तो उपासना नहीं होगी, अन्यथा करने से भी उपासना नहीं होगी।

ज्ञान में ऐसा विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि जिसका विचार करोगे उसके बारे में एक ही निर्णय आना है। इतना ज़रूर है कि नियमों के अनुसार तम्हें विचार करना है। उस के विचार को करने के जो नियम हैं उनके अनुसार करने से ही निर्णय आता है। विचार से जो नतीजा निकलेगा वह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर नहीं है। अगर नियम नहीं मानोगे तो गलत नतीजा निकलेगा। जैसे हिसाब करने का तरीका बता दिया कि इस-इस प्रकार से गुणा-भाग या जोड़-बाकी करना है, उस तरीके से करोगे तो ठीक नतीजा निकलेगा, उसी नियम से दो आदमी करेंगे तो भी नतीजा एक ही निकलेगा। यदि तुम तरीका ही बदल दो और नतीजा दूसरा निकले तो गलती तुम्हारी है। जैसे गुणा करने का तरीका बताया कि पहले दाहिने अंक से गुणा करना, लेकिन तुम पहले बायें से करो और नतीजा दूसरा निकले तो तुम्हारी गलती है। गुणा करने का जो तरीका बताया गया उसी से करना पड़ेगा, तब नतीजा ठीक और एक ही आयेगा। इसी प्रकार से विचार करने के जो नियम बताये हैं उन नियमों से वैसा ही विचार करना पड़ेगा और तब एक ही निर्णय निकलेगा। अगर तुम विचार करने के नियम ही बदल दो तो बात दूसरी है। सामान्य नियम है कि कोई चीज़ बदलती है तो उसके अन्दर विकार या परिवर्तन होता है। लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि बदलते हुए भी परमेश्वर में बदलाव नहीं आता है! यह विरोध उन्हें असंगत नहीं लगता है कि बदल रहा और नहीं बदल रहा है। विचार करने का नियम है कि विरोधी बातों में एक ही ठीक हो सकती है या दोनों गलत हो सकती हैं, परन्तु दोनों तो ठीक नहीं हो सकतीं। जो कहे कि 'हमारे विचार के तरीके में दोनों ही ठीक हो सकती हैं' उससे किस आधार पर विचार होगा! प्रसिद्ध दृष्टांत है कि एक आदमी ने दूसरे आदमी के आँगन में परनाला निकाल दिया। दूसरे ने पंचों को बुलाया। पंचों ने उसे समझाया कि तुमने दूसरे के घर मे नाला निकाला, यह ठीक नहीं उसे वहाँ से हटाओ। पंचों की बात माननी पड़ती है। अतः उसने कहा, 'पंचों की बात सिर-माथे पर नाला तो वहीं निकलेगा!' ऐसे आदमी को क्या समझाया जाये! उपासना के अन्दर विकल्प संभव होने से नियम करते हैं कि जैसा बताया है वैसा ही करना पड़ेगा। ध्यान भी लगातार और मरने तक रोज़ करना होगा। ॥८०॥

निरन्तर ध्यान का अनुभव-सिद्ध प्रभाव बताते हैं—

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत्।।८१।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अप्रमादी वेदाध्येता दृढ वासनावश सपने में भी अध्ययन ही करता है, जपशील सपने में भी जप करता है, इसी प्रकार ध्यान-कर्त्ता को भी चाहिये कि इष्टाकार की वासना स्थिर करे।

दृष्टांत देते हैं कि बिना प्रमाद के जो वेद का अध्ययन करने वाला है उसको प्रतिदिन वेदाध्ययन करना ही होता है, ऐसा नहीं कि आज तीन घण्टे पाठ करे, कल छोड़ दे, फिर परसों आधा घण्टा कर लिया। कई लोग ऐसा करते हैं—किसी दिन पाँच हज़ार जप कर लिया, किसी दिन एक ही हज़ार किया, तीसरे दिन नौ हज़ार जप कर लिया; लोग भी कहते हैं कि उसने पूरा तो कर ही लिया। लेकिन वेदाध्ययन या कोई भी जप ऐसे नहीं होता। पाँच हज़ार जप करने को बताया है तो रोज़ पाँच हज़ार ही करना है, चार हज़ार नौ सौ निन्यानबे नहीं करना है। रोज़ ही करना है तो रोज़ ही करना है, ऐसा नहीं कि महीने में हिसाब लगा लो कि पूरा हो गया। इसलिये बिना प्रमाद के और पूरी सावधानी से लगकर करना पड़ता है। हरेक अक्षर ठीक तरह से उच्चारण हो इस प्रकार वेदाध्ययन किया जाता है। जो अध्ययनशील है वह बिना प्रमाद के वेदाध्ययन करता है। इसी प्रकार से जो जप करने वाला है वह जप भी इसी प्रकार से बिना प्रमाद के करता है। जप में भी प्रमाद होता है जैसे पूरे मंत्र का उच्चारण स्पष्ट नहीं करते, कहीं जाना है तो बहुत फुर्ती से कर लेते हैं, जैसा कई बार भोजन के पहले पाठ करने में होता है! यह सब प्रमाद है। जप जैसा करना बताया है वैसा ही करना पड़ता है। इस प्रकार करने से संस्कार दृढ होते हैं तो स्वप्न में भी वही जप या वही वेदाध्ययन होता है। जो दृढ नियम वाला नहीं होता उसे सपने में उस प्रकार की प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार से जिसने परमेश्वर का ध्यान किया है वह स्वप्न में भी परमेश्वर का वैसा ही ध्यान करता है। ध्यान करने वाला उपासक अपनी वासना को ऐसा दृढ करे कि स्वप्न में भी उसका ध्यान स्थिर रहे। दृढ अभ्यासी की अंगुलियाँ बेहोशी में भी वैसे चलती हैं जैसे जप में चलायी जाती हैं! ऐसी दृढता-पर्यन्त मरने तक उपासना करनी ही है। ॥८१॥

स्पष्ट करते हैं कि ऐसी स्थिति सम्भव है—

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन्।
लभते वासनावेशात् स्वप्नादावपि भावनाम्।।८२।।

विरोधी वृत्ति छोड़कर लगातार चिन्तन करता व्यक्ति संस्कार-पुष्टि से सपने आदि में भी ध्यान कर पाता है।

विरोधी प्रत्यय को छोड़ करके अर्थात् ध्येय आकार का विरोध करने वाले विचार या भावनाओं को मन में न आने देकर। शास्त्रों में यहाँ तक वर्णन आता है कि जिस रूप में भक्त ध्यान करता था उससे अलग रूप धारण कर भगवान् ने दर्शन देकर वर माँगने को कहा तो भक्त ने मना कर दिया! कहा 'आप को पूज्य अवश्य मानता हूँ पर वर तो इष्ट देव से ही लूँगा!' जिसकी उपास्य में ऐसी निष्ठा नहीं होती, वह कहता है 'कहीं से भी मिले, ले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लूगाँ'। किसी हज़रत मुसलमान से मिले तो उसी से लेने को तैयार हो जाते हैं! ऐसे की उपासना दृढ नहीं हो सकती। विरोधी भावनाओं और विरोधी ज्ञानों को छोड़कर ही दृढता आती है। यह भी एक फ़र्क विचार-मार्ग और उपासना-मार्ग में है। विचार-मार्ग में चलने वाला तो विरोधी विचारों को उठाकर उनमें क्या गलतियाँ हैं यह समझता है। उपासक के लिये ऐसा हितकर नहीं। विचार करने वाले को तो विरोधी प्रत्ययों से कोई घबराहट नहीं होती, वे उसके निश्चय को दृढ करने वाले बनते हैं। इसलिये विचार-मार्ग में स्थूणानुखनन न्याय मानते हैं। कील दीवार में ठोक दी, अन्दर चली गई, फिर भी उसे हिलाते हैं, फिर ठोकते हैं। कारण है कि ढीला कर फिर से ठोकने से मज़बूती से ठुकती है। अन्त में उसे चाहे जितना हिला लो फिर भी नहीं हिलती तब उसे वहीं छोड़ देते हैं। उसी प्रकार विचार के मार्ग में जितनी विरोधी बातें हैं उनको लाकर सिद्धांत में कमज़ोरी दिखाओ—यह हिलाना हुआ ताकि शंका उठे कि शायद ठीक न हो। पुनः सिद्धांत के अनुकूल उसे ठोक कर दृढ करो कि वह शंका ठीक नहीं। अन्त में जब निश्शंक हो जाते हैं कि ऐसा ही है, फिर चाहे जितनी विरोधी बातें सामने आयें, निश्चय दृढ रहता है। उसके पहले तक तो बार-बार विचार दृढ करना है।

परन्तु यह हिलाने का काम उपासक के काम का नहीं है। बहुत-सी दीवारें ऐसी होती हैं कि हिलाते रहोगे तो छेद बड़ा होता जायेगा! कच्ची दीवार मिट्टी की होती है, उसे ज़रा खोदो तो कील इस पार से उस पार निकल जायेगी, लेकिन मज़बूत नहीं होगी। इसी प्रकार से उपासना चाहे जितनी दृढ हो, तुम्हें विरोधी प्रत्यय का परिहार नहीं करना है वरन् उन्हें छोड़ना है। इसी पर एक कथा आती हैः भगवान् शंकर का एक भक्त था जो अपने दोनों कानों में दो घण्टे लटकाये रखता था। वह इसलिये कि अगर किसी ने भगवान् शंकर के सिवाय कोई दूसरी बात की तो वह दोनों घण्टे बजा दे ताकि अन्य चर्चा सुननी ही न पड़े! इसलिये उसका नाम ही 'घण्टाकर्ण' पड़ गया। भगवान् के सिवाय दूसरी बात को सुनना ही नहीं—यह विरोधी प्रत्यय को सर्वथा छोड़ना है।

विरोधी प्रत्यय को न करे इतने मात्र से भी नहीं होगा, जो प्रत्यय बनाना है उसको निरन्तर बनाते भी रहना पड़ता है, तब उसकी दृढ वासना हो जाती है। ठीक जिस प्रकार से हम लोग हिन्दी बोलते हैं तो हिन्दी की वासना दृढ होती है। कुछ लोग कभी-कभी अंग्रेजी बोलते हैं, उनकी हिन्दी की वासना दृढ नहीं हो पाती, वे हिन्दी बोलते हुए बीच-बीच में अंग्रेजी बोल देंगे। कई बार अंग्रेजी बोलते हुए बीच में हिन्दी बोल देंगे। यों किसी की वासना दृढ नहीं होगी। जब निरंतर हिन्दी ही बोलोगे तब उसकी वासना दृढ होगी। इसलिये बहुत-से अंग्रेजी के स्कूल होते हैं जहाँ एक शब्द भी हिन्दी का बोल दो तो पाँच-दस रुपये ले लेंगे! कई लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं होना चाहिये। तुम हिन्दुस्तान में अंग्रेजी पढ़ाना चाहते हो, तो यही तरीका है। बिना बीच में व्यवधान हुए ही भावना बनानी पड़ती है। जिस समय द्वितीय विश्व महायुद्ध चल रहा था, उस समय इंग्लैण्ड वालों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज़रूरत थी ऐसे जर्मन बोलने वालों की जिनको जर्मनी में उतार दें और किसी को पता न लगे कि वे जर्मन नहीं हैं अन्यथा जर्मनी वाले मार डालेंगे। ऐसे व्यक्तियों को तैयार करने के लिये उन्होंने नौ महीने का कोर्स, पाठ्यक्रम चलाया जिसमें भर्ती होने के समय से ही सिवाय जर्मन भाषा के और कुछ नहीं बोला जाता था। अगर कुछ चाहिये जिसके लिये जर्मन भाषा में नहीं बोल सकते तो इशारा कर सकते थे। अगर अंग्रेजी उच्चारण कर दिया तो दण्ड दिया जाता था जैसे दस मील की दौड़ लगा कर आओ। तब वे नौ महीने में जर्मन भाषा बोलने में इतने होशियार हो जाते थे कि फिर उन्हें हवाइ जहाज से जर्मनी में उतार देते थे तो सफलता-पूर्वक वहाँ सारा काम कर लेते थे। इसलिये नियम है कि जो प्रत्यय बनाना है उसे निरन्तर बनाता रहे, बीच-बीच में विरोधी प्रत्ययों को लाता रहेगा तो कभी भी दृढता नहीं होगी। इस प्रकार निरंतर करने से ही वासना का आवेश दृढ हो जाता है। तभी स्वप्न भी वैसा ही देखेगा॥८२॥

लौकिक उदाहरण से समझाते हैं कि सामान्य व्यवहार का आत्मचिन्तन से विरोध नहीं है—

भुञ्जानोऽपि निजारब्धम् आस्थातिशयतोऽनिशम्।
ध्यातुं शक्तो न सन्देहो विषयव्यसनी यथा।।८३।।

अपना प्रारब्ध भोगते हुए भी आस्था की अधिकता से लगातार ध्यान उपासक कर पाता है जैसे विषयों में व्यसन रखने वाले (विषयचिंतन करते हुए अन्य व्यवहार कर लेते हैं)।

जिस विषय में कोई व्यसन वाला हो उसका आकर्षण बना रहता है। दिल्ली का एक भंगेड़ी एक बार हमारे पास कलकत्ते आ गया। कहने लगा 'मैं यहीं रह जाऊँ?', हमने कहा,'भाँग पीता है इसलिये महात्माओं के पास रहना ठीक नहीं।' वह बोला 'मैंने भाँग छोड़ दी है।' तब हमने कहा 'रह जाओ।' उसके बाद दो-चार बातें हुई। तब तक एक बीकानेर वाला भंगेड़ी एक गोली निकालकर पूछने लगा, 'यह लोगे?' तो बिना सोचे ही दिल्ली वाले का जवाब था 'पानी कहाँ मिलेगा?' हमने उससे कहा, 'अभी-अभी तो तूने कहा कि भाँग छोड़ दी!' कहने लगा, 'सामने आ गई तो क्या करूँ?' इसलिये जिसे जिस चीज़ का व्यसन होता है उसे अपने प्रारब्ध के अनुसार दूसरे भोग मिलते भी हैं लेकिन उसकी अत्यन्त आस्था तो व्यसन के पदार्थ में ही रहती है। शादी में बढ़िया इन्तजाम हो, मिठाई आदि बढ़िया व्यंजन मिल रहे हों, पर व्यसनी को अपने व्यसन के पदार्थ की कमी ही खलती रहती है। इष्ट पदार्थ में निरन्तर दृढ वृत्ति रहती ही है। जैसे ये दृष्टान्त हैं वैसे ही प्रारब्ध कर्म के अनुसार जो उपासक है उसको भी भोजन करना है, कपड़ा पहनना है, अनिवार्य भोग करना ही है, लेकिन उसको हमेशा यह भाव बना रहता है कि 'मेरा ध्यान गड़बड़ न हो, मैं निरन्तर ध्यान कर सकूँ'। ऐसी स्थिति होती है इसमें कोई संदेह करने की जरूरत नहीं है। निरन्तर भावना करे तो ऐसा नहीं है कि खाना-पीना छूट जायेगा! क्योंकि प्रारब्ध-भोग तो करना ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है इसलिए खाना-पीना सब कुछ चलेगा लेकिन उसका चित्त निरन्तर ध्येय की तरफ ही रहेगा। उसका भी मन प्रारब्ध-भोग में जाता है लेकिन वह उसमें लिप्त नहीं हो पाता, लिप्त तो वह अपने ध्यान में ही रहता है। हम लोग जब भोग आता है तब उसमें लिप्त हो जाते हैं, और कुछ ध्यान में नहीं रहता। किन्तु जो ध्यानी है वह बाकी सब काम तो मन के एकदेश से कर लेता है, बाकी मन इष्टध्यान में लगाये रखता है। तभी व्यक्ति सफल होता है। इसी प्रकार जो उपासना करने वाला है उसे पूर्ण तत्परता से उपासना को सिद्ध करना है, इसके लिये ही सारा प्रयत्न करना है। अगर सोचने लगा कि कुछ सुस्ता ले, संसार भी संभाल ले, तो मोक्षप्रद दृढता नहीं मिलेगी। कार्य को सिद्ध करना है, भले ही इसमें शरीर गिर जाये—ऐसा निश्चय करके उपासना या भावना के मार्ग में चलेंगे तब वह सिद्ध होती है। ॥८३॥

उपासक की भावना परमेश्वर में और प्रारब्धोचित व्यवहार संसार से चलते हैं इसमें लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्।।८४।।

पराये आदमी में आसक्त स्त्री अपने घर के काम में व्यस्त रहती हुई भी उस व्यक्ति के साथ के सुखरूप उसी रसायन का मानो स्वाद लेती रहती है!

जिस स्त्री की आसक्ति किसी अन्य पुरुष में है, ऐसी स्त्री भी घर के सारे कामों में व्यस्त रहेगी। लेकिन सारे कार्य करते हुए भी मन में पर-पुरुष के संग का जो रस है उसका आस्वादन करती है, स्मरण करती रहती है। इस श्लोक में विद्यारण्य स्वामी ने दोनों बातें कह दीं : पर का अर्थ परमात्मा भी है। बुद्धि को एक नारी की तरह कहा है। इसलिये, परमात्मा में ही व्यसन है जिस बुद्धि का, ऐसी बुद्धि गृहकर्म में अर्थात् शरीर में रहते हुए भी परसंग अर्थात् परमात्मा का आस्वादन करती है। जिस प्रकार दृष्टान्त में स्त्री को रहना घर में ही पड़ेगा लेकिन व्यसन अन्यत्र ही है, उसी प्रकार उपासक को रहना तो शरीर में पड़ेगा परन्तु उसे निरन्तर स्मरण परमात्मा का रहेगा। शरीर में जो किसी स्पर्श वाला नहीं है, वह परमात्मा 'पर' है। जब आदमी व्यग्र होता है तब जल्दी-जल्दी काम निपटाता है, अन्यथा कार्य को दीर्घ करता है, जैसे घर में कोई शादी-ब्याह का काम होता है तो बाकी कामों को झट-पट निपटाते हैं क्योंकि प्रधान कार्य शादी है, उसकी तैयारी करनी है। इसी प्रकार उपासक खाने-पीने इत्यादि व्यवहार को निपटाता है, क्योंकि शरीर में रहना है, पर उसे जल्दी से खत्म करने की सोचता है। भोजन आदि व्यवहार करते हुए भी अन्दर में तो परमात्मा के चिन्तन का जो आनंद है, उसी को लेता है। उसके लिये वही रसायन है। रसायन उसे कहते हैं जो तुम्हें पुष्टि देता है। इसी प्रकार परमात्मा का चिन्तन उपासक की आत्मा को पुष्ट करने वाला है। परन्तु जीवित है तो वह व्यवहार भी कर लेता है। ॥८४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन अन्यत्र लगा रहते भी काम-चलाऊ व्यवहार संभव है यह दिखाते हैं–

परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत्।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते।।८५।।

परपुरुष के संयोग के स्मरण, कल्पना आदि का स्वाद लेती हुई का भी वह घरेलू कार्य रुकता नहीं लेकिन ऊपरी मन से ही होता है।

दृष्टांत तो स्पष्ट है। दार्ष्टान्त में, परमात्मा के प्रति जो प्रेम का भाव है उसका आस्वादन करते हुए भी लोकव्यवहार सम्पन्न करता है। जैसे घण्टे को ज़ोर से बजा दो तो धीरे-धीरे उसकी ध्वनि कम तो होती है पर टंकार के काफी देर बाद तक भी उसकी गूँज बनी रहती है, इसी प्रकार जब परमात्मा का ध्यान करते हैं, वह काल घण्टे के टंकार जैसा है। उस समय वह स्वाद पूर्णता से प्राप्त होता है। परन्तु उसके बाद भी काफी देर तक उसकी मस्ती बनी रहती है। इसीलिये प्रायः साधक को प्रारम्भ में ही कहा जाता है कि सवेरे, मध्याह्न और सायंकाल संध्या करे। सवेरे की खुमारी मध्याह्न तक चल जायेगी और मध्याह्न की खुमारी सायंकाल तक चल जायेगी। शाम की खुमारी उतरते नींद आ जायेगी। फिर प्रातः काल उठकर वही क्रम शुरू हो जायेगा। साधक को तीन बार संध्या करने को कह देते हैं पर धीरे-धीरे समय बढ़ाते जाना चाहिये। जैसे मध्याह्न में संध्या करनी है परन्तु ग्यारह-पौने ग्यारह बजे ही तुम्हारा चित्त घड़ी की तरफ जाने लगता है कि मध्याह्न काल चूक न जायें। उसी प्रकार यदि तुम हर तीन घण्टे पर ध्यान का नियम कर लो या और भी बढ़ा कर प्रत्येक घण्टे का नियम कर लो तो नियम के कारण वह काल आने से कुछ मिनट पहले ही तुम्हारे मन में परमात्मा-सम्बन्धी विचार आने लगेगा। साधक के मन में परमेश्वर-ध्यान के प्रति प्रेमपूर्ण उत्साह होता है। जैसे अपना बच्चा सात बजे कहीं से आने वाला हो तो पौने सात बजे से ही घड़ी देखने लगते हैं कि आने ही वाला है, इसी प्रकार उपासक की वृत्ति बनती रहती है कि अब ध्यान का समय आने ही वाला है। इस प्रकार आस्वादन करते हुए भी प्रारब्ध-भोग कर लेता है, ऐसा नहीं कि वह काम न हो। काम होता रहेगा और अन्दर में आस्वादन भी होता रहेगा। जो काम बहुत समय तक कर लेते हैं, वह फिर बिना ध्यान दिये हुए भी आपाततः हो जाता है अर्थात् 'किया या नहीं किया' इसका होश भी नहीं रहता। जिस रास्ते पर रोज़ चलते हैं वहाँ स्वयं को पता रहता है कि कहाँ गड्ढा है, सीढी है और तदनुसार चलने की क्रिया होती रहती है, साथ में अपने दोस्त के साथ गप्पें मारते रहते हैं। चलते हुए भी चलने का मानो भान नहीं रहता। इसी प्रकार अनादि काल से और यहाँ जन्म से ही खाने-पीने आदि का सारा व्यवहार चलता रहा है, इसलिये उस व्यवहार की तरफ अन्तःकरण की किंचित् वृत्ति पर्याप्त होती है। इतने से ही बाह्य काम आपाततः हो जायेगा, लेकिन अन्दर का प्रधान चिन्तन परमात्मा का चलता ही रहेगा। ॥८५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामान्य संसारी से परमात्म-उपासक के व्यवहार में अन्तर दिखाते हैं–

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत्।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा।।८६।।

घर सँभालने की रुचि वाली नारी जैसे घर के कार्य भली भाँति करती है, पराये आदमी में आसक्त नारी वैसी कुशलता से अपने घर का काम नहीं ही करती है।

जिसको परव्यसन नहीं है, गृहकृत्य में ही व्यसन है, केवल घर के काम को ही सोचती है, वह तो ठीक ढंग के काम करती है। इसी तरह जो लौकिक लोग प्रारब्धभोग के कृत्यों के अन्दर ही व्यसन वाले हैं, आज क्या कमाया, क्या खाया, क्या पहना इत्यादि को ही सोचते हैं। कभी मन्दिर जाकर हाथ भी जोड़ लेंगे लेकिन भगवान् के सामने खड़े होकर भी यही मन में कहेंगे कि कैसे लड़के या लड़की की शादी हो जाये, नौकरी में तरक्की हो जाये, बढ़ोत्री हो जाये! इस प्रकार भगवान् के सामने भी गृहकृत्य का व्यसन प्रकट होता है। ध्यान-निष्ठा वाले की बुद्धि सर्वथा केवल सांसारिक भोगों का ही विचार नहीं करती, वैपरीत्येन संसारकृत्य के दौरान भी परमेश्वर-विचार ही करती रहती है। ॥८६॥

लोकव्यवहार में उपासक और ज्ञानी का अन्तर सूचित करते हैं–

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत्।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत्।।८७।।

अन्यत्र संलग्न मन वाले की तरह केवल परमात्म-ध्यान में निष्ठा वाला भी लौकिक कार्य आपाततः प्रारम्भ कर पाता है। तत्त्वज्ञानी तो लौकिक कार्य भली भाँति कर लेता है क्योंकि तत्त्वनिष्ठा का व्यवहार से कोई विरोध नहीं।

जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त में, इसीं प्रकार ध्यान में जो एकनिष्ठा वाला है, व्यसन वाला है, वह लौकिक काम अर्थात् इस लोक में जिससे भोग की प्राप्ति होती है उस काम में अपना मन थोड़ा-सा लगाकर कार्य कर लेता है। शंका होती है कि तत्त्ववेत्ता का भी लौकिक व्यवहार क्या ऐसे ही होता है? समाधान देते हैं कि तत्त्ववेत्ता और ध्यानी में यह फ़र्क रहेगा कि तत्त्ववेत्ता तो जानता है कि 'कण-कण और क्षण-क्षण में केवल एकमात्र परमात्मा ही प्रकट हो रहा है, यह सारा खेल मैंनें ही माया से रचा है, इसलिये संसार की प्रत्येक चीज़ स्वरूप से निस्तत्त्व है, परन्तु माया शक्ति से ही प्रतीत हो रही है,' इसलिये वह स्वभाव से ध्यानैकनिष्ठ रहता है। जैसा कबीरदास कहते हैं 'आँख न मूँदूँ कान न रूँदूँ हँस हँस रूप निहारूँ'। यह सारा जगत् परमात्मा का रूप है, वही कण-कण और क्षण-क्षण में प्रकाशित हो रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष जानने वाला आपाततः लौकिक व्यवहार नहीं करता वरन् क्योंकि परमात्मा ही उसे भली प्रकार दीखता है इसलिये व्यवहार समीचीन करता है। जिस व्यक्ति ने सिनेमा में मुख्य नायक का काम किया है, जब उस खेल को पहली बार दिखाया जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है तब उसके ही हाथ से उस सिनेमा का उद्घाटन करते हैं कि पहले वह देखे। वह उसी खेल को देखता है जिसमें मुख्य नायक वह खुद है। बड़े ध्यान से देखता है कि 'मेरे अभिनय में कहीं कोई त्रुटि तो नहीं रह गई'। ऐसा नहीं सोचता कि 'यह तो मेरा ही किया हुआ अभिनय है, क्या देखना है!' बल्कि बड़े ध्यान से देखता है कि कैसा खेल किया है। ठीक इसी प्रकार से तत्त्ववेत्ता जानता है कि 'मैं अधिष्ठान तत्त्व हूँ, माया के द्वारा मुझसे ही यह सब प्रकट हुआ है। अतः कैसा प्रकट हुआ है—इसको अच्छी तरह से, ध्यान से देखूँ।' उसको वहाँ से मन को हटाना नहीं है क्योंकि स्वरूप को निरन्तर समझ पा रहा है, इसलिये लौकिक कर्म का अच्छी तरह से, बड़े ध्यान से सम्यक् आचरण करता है। जिस समय शरीर-मन से करता है उसी समय स्वयं को साक्षीरूप से देखता है। ॥८७॥

व्यवहार का तत्त्वस्थिति से क्यों विरोध नहीं यह स्पष्ट करते हैं—

मायामयः प्रपञ्चोऽयम् आत्मा चैतन्यरूपधृक्।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः।।८८।।

'यह प्रपंच मायिक है, मैं (आत्मा) चेतनस्वरूप हूँ' यह निश्चय हो चुकने पर लोक-सम्बद्ध व्यवहार करने वाले ज्ञानी का क्या विरोध है!

यह जितना प्रपंच दीख रहा है, सारा माया का ही स्वरूप है, माया का ही कार्य है। आत्मा तो एकमात्र चैतन्यरूप ही है, साक्षी ही है। जब यह ज्ञान हो गया, अपरोक्ष समझ आ गई तो फिर लौकिक व्यवहार करने वाले जो शरीर, मन आदि अहंकार पर्यन्त हैं, माया में कल्पित हैं, अभिनय तो इनमें हो रहा है, मैं चैतन्यमात्र हूँ, इसलिये ज्ञानी को व्यवहार से कोई विरोध नहीं आता है। ॥८८॥

तत्त्वबोध और व्यवहार में विरोध न होना उपपन्न करते हैं—

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य सत्यताम्।
नाप्यात्मजाड्यं किन्त्वेषा साधनान्येव कांक्षति।।८९।।

व्यवहार को प्रपंच की सत्यता की तथा आत्मा की जडती की भी ज़रूरत नहीं है। व्यवहार तो (अपने निर्वाह के) साधन ही चाहता है।

व्यवहार करने के लिये प्रपंच वास्तविक हो इसकी अपेक्षा नहीं है। ठीक जिस प्रकार से सिनेमा में चित्र दीख रहे हैं, दर्शक बना नायक जानता है कि 'यह मैं नहीं हूँ'। वह समझे कि यह मैं हूँ तभी देख सके, ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार से व्यवहार को भी प्रपंच की वास्तविकता की अपेक्षा तो है नहीं। यदि प्रपंच-वास्तविकता की अपेक्षा होती तब तो तत्त्ववेत्ता व्यवहार नहीं कर सकता था क्योंकि उसकी दृष्टि में प्रपंच सत्य है नहीं। परन्तु व्यवहार के लिये प्रपंच की वस्तुता की अपेक्षा नहीं है। इसी प्रकार आत्मा जड हो इसकी भी व्यवहार के लिये कोई ज़रूरत नहीं। साधारण आदमी को लगता है कि जब तक मैं शरीर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को चेतन नहीं मानूँगा तब तक इसके उपर ठण्ड होने पर रजाई कैसे ओढाऊँगा। वह मानता है कि जब तक शरीर आदि संघात से एकता का अध्यास नहीं होता तब तक व्यवहार नहीं होता। इसलिये अनात्मा से अध्यास होकर आत्मा की जडता होना अपेक्षित है, इसलिये जब वह तत्त्ववेत्ता को व्यवहार करते हुए देखता है तो समझता है कि इसका भी शरीर आदि के साथ अवश्य अध्यास होगा। लेकिन आत्मा इस प्रकार से अनात्मा से अध्यास होकर जडभाव में आये, इसकी कभी अपेक्षा नहीं है। इसलिये साधनों की ज़रूरत है, न अनात्मा का आत्मा में अध्यास करना ज़रूरी है और न इदं-बुद्धि के विषयों के अन्दर सत्य-बुद्धि लाना ज़रूरी है। इन दोनों को बिना किये हुए भी साधनों से तत्त्ववेत्ता का व्यवहार हो जाता है। इसलिये भगवान् ने जहाँ कर्म के साधन बताये वहाँ अधिष्ठान अर्थात् शरीर को भी एक कारण बताया

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।' (गी.१८.१४)

अहंकारात्मिका वृत्ति, बुद्धिवृत्ति को आवश्यक माना, सारी इन्द्रियों को, साधनों को ज़रूरी माना, तरह-तरह की क्रियाओं अर्थात् प्राणों की आवश्यकता बतायी तब पंचम आवश्यकता बतायी देव की अर्थात् प्रारब्ध होना चाहिये, तभी कर्म होता है। इनमें भगवान् ने कहीं नहीं कहा कि कर्म करने के लिये तुम्हारे आत्मा की आवश्यकता है! साधनों का तत्त्वज्ञान कुछ विरोध नहीं करता, तत्त्वज्ञान केवल अज्ञान को हटाता है। जैसा कि पद्मपादाचार्य कहते हैं, 'ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्' ज्ञान अज्ञान को ही हटाता है; अज्ञान के कार्यों के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। ॥८९॥

व्यवहार-साधन बताते हैं–

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान्।
तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः।।९०।।

मन, वाणी, शरीर और इनसे बाहरी (घी, जौ आदि) पदार्थ (व्यवहार के) साधन हैं। तत्त्वज्ञ इनका निवारण करता नहीं तो उसका व्यवहार नहीं क्यों होगा?

व्यवहार के लिये मन साधन है। सुषुप्ति में मन नहीं होता तो ज्ञान का भी व्यवहार नहीं है। व्यवहार के लिये कर्मेन्द्रियों की एवं ज्ञानेन्द्रियों की ज़रूरत है, शरीर की ज़रूरत है और पदार्थों की ज़रूरत है। ये सब साधन व्यवहार करने के लिये अपेक्षित हैं। मनोवाक्-पद से सूक्ष्म देह और कार्य-पद से स्थूल देह का संग्रह हो गया। कारण अज्ञान की व्यवहार के अन्दर कोई अपेक्षा नहीं है। बाहर कुछ पदार्थ होगा तभी कुछ करोगे, नहीं तो नहीं करोगे। इसलिये ये सब साधन हैं। तत्त्ववेत्ता इनमें से किसी को नष्ट करता नहीं है। ये जैसे पहले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थे वैसे ही बने रहते हैं। अतः विद्वान् का व्यवहार क्यों नहीं होगा? व्यवहार तो साधनों के द्वारा होता है और आत्मा देखता, जानता है। ॥९०॥

तत्त्ववेत्ता भी'शातो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा' आदि श्रुति के अनुसार चित्तवृत्ति को निरुद्ध ही रखे यह क्यों ज़रूरी नहीं, यह समझाते हैं–

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्याताऽसौ न तु तत्त्ववित्।
न बुद्धिमर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता।।९१।।

अगर चित्त की प्रक्रिया को प्रतिबद्ध करता है तो वह ध्यानी है न कि तत्त्वज्ञ। घड़े की वास्तविकता का जानकार (वह ज्ञान बना रहे इसके लिये) बुद्धि को बलात् एकाग्र करता नहीं देखा गया।

शास्त्र की शम, दम की विधि के अनुसार चित्त का उपमर्दन तभी तक है जब तक श्रवण मनन निदिध्यासन का परिपाक नहीं है। तब तक तो साधक उपासक-कोटि में ही आयेगा। ध्यान करनेमात्र से यह नहीं कह सकते कि वह तत्त्ववेत्ता हो गया। प्रयास से वृत्ति बनाने तक ध्याता है, अभी तत्त्ववित् नहीं बना है क्योंकि जब अहंकार के अन्दर झाँकता है तब 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति हो जाती है। जब क्षणमात्र को भी अहंकार के अन्दर 'यह मैं' अर्थात् प्रत्यगात्मा ऐसा प्रतीत न हो तब तत्त्वबोध हुआ जानना चाहिये। शम, दम आदि की विधि तब तक है जब तक अहंकार के अन्दर प्रत्यगात्मा की भावना कुछ न कुछ अन्वित है। तब तक ध्यान रखना पड़ता है कि अहंकार का सम्बन्ध सत्त्वगुण के कार्यों के साथ हो, रजोगुण-तमोगुण के कार्यों के साथ न हो। परन्तु जब प्रतिबन्धक निवृत्त हो गये, ज्ञान की दृढता हो गई जिससे क्षणमात्र को भी प्रत्यगात्मा में अहंकार आदि की प्रतीति नहीं होती, तब वह तत्त्ववित् है जिसे इससे क्या फ़र्क पड़ेगा कि चित्तवृत्ति क्या आकार ले। घट के तत्त्व को जानकर वह निश्चय बना ही रहता है, उसे मिटने न देने के लिये चित्तको कार्यान्तर से निरुद्ध कर घट पर एकाग्र नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा ब्रह्म को जानने वाला तदितर वृत्ति को हटाने या उसी वृत्ति को बनाने के लिये कोई प्रयत्न करे ऐसा नहीं है। ॥९१॥

आत्मभान के लिये घटदर्शन की अपेक्षा कम ज़रूरत चित्त-निरोध की है यह कहते हैं–

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद् भासते सदा।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते।।९२।।

एक बार प्रामाणिक निश्चयात्मक वृत्ति बनने से यदि घड़ा हमेशा के लिये ज्ञात हो चुकता है तो स्वयम्प्रकाश यह आत्मा क्या घड़े की तरह भी नहीं भासेगा?

यदि किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने कहा 'कमरे में घड़ा है', तो कहने के साथ ही घटाकार वृत्ति बनने पर घटज्ञान हो जाता है। उसके बाद घटाकार वृत्ति को बनाते रहो तभी घट का भान हो, ऐसा नहीं है। फिर से यदि देखने की इच्छा हुई कि कमरे में अन्दर घड़ा है या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं तो देख सकते हैं, लेकिन निरन्तर घटाकार वृत्ति बनाने की जरूरत नहीं है। देवदत्त जब तक स्वयं पर यज्ञदत्त होने का आरोप करता है, जैसे दूसरे के टिकट से यात्रा करते हुए, तब तक सावधानी पर निर्भर है लेकिन संन्यास आदि से नामान्तरण हो जाने पर निश्चय-पर्यन्त ही सावधानी चाहिये, निश्चय हो जाने पर सहजभाव से वही नाम रहता है। इसी प्रकार जब तक प्रत्यगात्मा का ब्रह्म के साथ साक्षात् अभेद नहीं हो गया तब तक तो हमेशा याद रखना है कि 'मैं ब्रह्म हूँ, अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं हूँ,' जैसे ही यह वृत्ति हटायेगा फिर वैसा का वैसा द्रष्टा, या अहम् ही रह जायेगा। जब तक याद रखेगा तभी तक ब्रह्म, साक्षी बना रहेगा। परन्तु जब दृढ साक्षात्कार हो गया कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म ही है तब फिर वृत्ति की जरूरत नहीं रह गई।

घड़ा तो तभी जाना जायेगा जब घटाकार वृत्ति बने। इसलिये यह तो कह सकते हैं कि सात बजे तक कमरे में घड़ा था, परन्तु सात बजकर पाँच मिनट पर वहाँ घड़ा है या नहीं, इसको जानने के लिये फिर घड़े की वृत्ति बनानी पड़ेगी। यह इसलिए क्योंकि घड़ा जड है। परन्तु अपनी ब्रह्मरूपता का ज्ञान वृत्ति बनाने से ही रहेगा ऐसा नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार 'मैं ब्रह्म हो गया' ऐसा नहीं होता वरन् वह तो नित्य एक-जैसा विद्यमान ही रहेगा। यह भान होता है कि मैं सदा ही ब्रह्म हूँ। 'ब्रह्म था, हूँ और रहूँगा' यह काल की कल्पना भी माया की दृष्टि के कहनी पड़ती है। अन्यथा तो वह नित्य भान का आविर्भाव है। ब्रह्म ही मेरा स्वरूप है और वह स्वप्रकाश है अर्थात् दूसरे से प्रकाशित हुए बिना अप्रकाशित नहीं है। घड़ा तो वृत्ति से प्रकाशित होगा, जिस काल में वृत्ति नहीं है उस काल में अप्रकाशित रहेगा। परन्तु ब्रह्म वृत्ति से प्रकाशित होकर ही प्रकाशमान हो, ऐसा है नहीं। वृत्ति से प्रकाशित बिना हुए भी अप्रकाशित नहीं है। चूँकि घड़ा जड है, इसलिये अन्तः-करण की वृत्ति से प्रकाशित होता है। सात बजे का घड़ा प्रकाशित हो गया तो सात बजे वाला स्वरूप ज्ञात रहेगा। सात बज कर पाँच मिनट वाला अन्तःकरण की वृत्ति से प्रकाशित होगा अन्यथा अप्रकाशित है। ब्रह्म जड नहीं चेतन है, वृत्ति से स्वतन्त्र प्रकाश-रूप है। अतः घटभान में कथंचित् वृत्तिनिर्भरता होने पर भी आत्मज्ञान में नहीं है॥९२॥

प्रश्नोत्तर से उक्त विचार और स्पष्ट करते हैं–

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम्।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु।।९३।।

(वादी कहता है) 'आत्मा की स्वप्रकाशता से तुम्हें क्या लाभ? आत्माकार वृत्ति ही तत्त्वज्ञान है एवं वृत्ति क्षणभंगुर होती है (तो पुनः पुनः क्यों नहीं चाहिये)?' (सिद्धान्ती जवाब देता है) 'यह प्रश्न घड़े आदि के ज्ञान में भी समान है। (यदि प्रश्न वाजिब हो तो घटज्ञाता और कुछ जान ही नहीं सकेगा)।'

वादी कहता है कि ब्रह्म स्वप्रकाश हो, इससे तुमको क्या फायदा? ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी तभी तो ब्रह्म को जानोगे। जब ब्रह्माकार वृत्ति न बने तब ब्रह्मज्ञान है नहीं, इसलिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्माकार वृत्ति के बिना ब्रह्म अज्ञात है– यह आपात दृष्टि है। वस्तुतः ब्रह्म कभी भी अज्ञात नहीं होता। जैसे भाद्रपद के महीने में घनघोर बादल आये हुए हैं, सूर्य नहीं दीख रहा है तो लोग कहते हैं कि आज सूर्य बिलकुल नहीं है। क्या तुमने बादल आदि को किसी टार्च वगैरह से देखा! बादलों को सूर्य ही तो दिखा रहा है। सूर्य के प्रकाश में ही बादल दीख रहे हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप ही है। यह कह सकते हो कि जैसा चमकदार सूर्य बिना बादलों के दीखता है, वैसा नहीं दीख रहा है। परन्तु दीखता ही नहीं है–यह नहीं कह सकते। इसी प्रकार अज्ञान के आवरण से देदीप्यमान परमानन्द प्रतीत न होने पर भी सब चीज़ों को तुम जिस अहंकार के प्रकाश से जान रहे हो, वह अन्दर किसके प्रकाश से उपलब्ध है? अहंकार या बुद्धि देखने वाली, जानने वाली किसके प्रकाश से बन रही है? ब्रह्म कभी भी ऐसा नहीं होता कि सर्वथा अप्रकाश हो जाये। अज्ञान के कारण उसका जाज्वल्यमान रूप प्रकट नहीं है। अज्ञान के आवरण से छिपा हुआ अहं जाज्वल्यमान प्रकाश वाला नहीं है, दीख तो उस समय में भी रहा है। जब ब्रह्माकार वृत्ति बन गई और अज्ञान का बादल फट गया तब वह परमानन्दरूप से प्रतिभास हो जाता है। जब कहते हैं कि ब्रह्माकार वृत्ति से ब्रह्मज्ञान होता है, तब तात्पर्य है कि वृत्ति अज्ञान का नाश करती है। जिस प्रकार बादल फटने से सूर्य का प्रकाश नहीं होता, बादल फटने से सूर्य का आवरण नष्ट होता है फलतः प्रकाश प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञान के हटने से परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई है। इस बात को न समझकर वादी का कहना है कि तदाकार जो वृत्ति बनती है, वह तत्त्ववेदन है। बुद्धि तो क्षण-क्षण में बदलने वाली है, इसलिये तुम्हें हमेशा हर समय वृत्ति बनाये रखनी पड़ेगी अन्यथा ब्रह्म अज्ञात हो जायेगा।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती की ओर से कहना है कि ऐसी वृत्ति की आवश्यकता तो घटादि-ज्ञानों में भी है। जैसे घड़ा तुमने एक बार देखा, उसके बाद तुम अन्य-अन्य कामों में लग गये। कोई पूछता है कि क्या कमरे में घडा है? तो क्या जवाब दोगे? क्या फिर प्रमाण से वृत्ति बनाओगे, तब पता लगेगा? या निश्चित कहते हो कि 'अन्दर घड़ा है, मैं ताला बंद करके आया हूँ'। जड पदार्थों का भी ज्ञान होने के बाद लगातार वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता है। घटव्यवहार के लिये स्मरण आदि वृत्तियाँ चाहिये लेकिन ज्ञात घट वृत्ति न रहने पर भी रहता ज्ञात ही है, ऐसा नहीं कि घट को ज्ञात रखना हो तो केवल तदाकार वृत्तिप्रवाह चलाये रखना पड़े! ऐसे ही ब्रह्म 'सकृद्विभात' है, व्यवहारार्थ स्मरण भले ही करें पर पुनः अज्ञात नहीं हो सकता ॥९३॥

ज्ञात हो चुकने पर वृत्ति की अनावश्यकता जड-चेतन दोनों जगह समान है यही व्यक्त करते हैं–

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत् सममात्मनि।।९४।।

घड़े आदि का निश्चय हो चुकने पर बुद्धिवृत्ति नष्ट होती ही है किन्तु जब घड़ा ले जाना चाहें तब ले जा सकते हैं (इससे उसे ज्ञात मानते हैं)। यह स्थिति आत्मा में भी समान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घड़े को पास जाकर देखने से तुम्हें निश्चय हो गया फिर घट आदि बुद्धि क्षणिक होने पर भी उस घड़े के साथ पानी लाना आदि सारा व्यवहार यथावश्यक हो सकता है। घट आदि का निश्चय कर लिया, उसके बाद लगातार घटाकार वृत्ति तो नहीं रहेगी लेकिन जब घड़े के साथ व्यवहार करना इष्ट है तब व्यवहार कर सकते हैं इसलिये घड़े की वृत्ति बनाये नहीं रखनी पड़ती। इसी प्रकार आत्मा के बारे में है। ॥९४॥

यथावश्यक घटव्यवहार की तरह आत्मव्यवहार सम्भव हो जाने से विद्वान् को निरन्तर वृत्ति-प्रवाह नहीं चाहिये यह समानता ही समझाते हैं—

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम्।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित्।।९५।।

एक बार आत्मा की समग्र वास्तविकता का निश्चय कर चुककर तत्त्वज्ञ जब आवश्यक हो तब उसका कथन, मनन और ध्यान कर ही सकता है।

भली प्रकार से सारे संशयों और विप्रतिपत्तियों को हटाकर ज्ञान 'निश्चय' है। जैसे घड़े को ठोक-बजाकर देखते हो ऐसे आत्मस्थल में भी किसी प्रकार का संशय या विपर्यय ज्ञान जब तक है तब तक खूब ठोक-बजाकर देखो कि मैं परमात्मा ही हूँ, और कुछ नहीं। जब एक बार निश्चय हो गया तो फिर जब आवश्यकता होगी तब वह जैसा है उसको वैसा बता सकोगे। यह ठीक है कि वह शब्द का विषय नहीं है, फिर भी उसको बता सकते हैं। शब्द से दो तरह ज्ञान होता है : एक, शब्द की शक्ति से ज्ञान होता है और दूसरा, शब्द की लक्षणा से ज्ञान होता है। शब्दशक्ति से तो उसका ज्ञान नहीं कराया जा सकता लेकिन जिसको भली प्रकार से संस्कार पड़ गया है उसको शब्द से लक्षणा द्वारा पता लग जाता है। इसलिये लक्षणा के विषय को पहले समझाया जाता है। शिष्यादि के प्रति 'वक्तुं' अर्थात् लक्षणा से उसे समझा सकता है। जैसे वाणी का वह विषय नहीं है वैसे ही मन का या मनन का भी विषय है नहीं फिर भी विचारा जा सकता है। जो भी शंका तुमको स्वरूप से अलग कर रही है उसे मनन कर दूर कर सकते हो। क्योंकि विद्वान् जानता है कि शिष्य को क्या समझाना है इसलिये उसे वाणी और मन का विषय नहीं बना कर भी स्पष्ट कर पाता है। जब ऐसे व्यवहार की आवश्यकता नहीं तब ध्यान कर लेता है। और तो कुछ करना नहीं है। ध्यान चाहे आँखें खोलकर करे, जैसा कबीर ने कहा, 'सहज समाधि भली', चाहे आँखें बन्द कर करे। बाहर-अन्दर दोनों जगह दीखता तो वही है। इस प्रकार विद्वान् यथावश्यक बोलता है, श्रवण कराता है, मनन करता-कराता है क्योंकि स्पष्ट जानता है कि कहाँ पहुँचना है। उपासक भी ध्यान करते रहते हैं, तत्त्ववेत्ता वैसा निश्चितरूप से जानते हुए ध्यान करता है। चूँकि उसने तत्त्व को जान लिया है, इसलिये वह उसके सम्बन्ध में कुछ भी कर सकता है। विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ संकेत किया है कि वह ये ही कार्य करता है अर्थात् इनसे अतिरिक्त कार्यों के लिये उसको स्वतः प्रेरणा नहीं मिलती। आत्मतत्त्व पूर्णतः जान लिया है, इसलिये वह उसके लिये स्वभावतः कुछ भी कर सकता है॥९५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रायः तत्त्ववेत्ता लोग उपासकों की तरह ही आत्मानुसंधान करते हुए दीखते हैं। संसार के व्यवहारों के प्रति उनमें कोई रुचि नहीं देखी जाती, ऐसा क्यों? इसका उत्तर देते हैं–

उपासक इव ध्यायँल्लौकिकं विस्मरेद्यदि।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद् विस्मृतिर्न तु वेदनात्।।९६।।

उपासक जैसे ध्यान करते हुए यदि सांसारिक प्रसंग भूल जाता है तो भूलता ही है लेकिन वह भूलना ध्यान-प्रयुक्त है, तत्त्वानुभवप्रयुक्त नहीं।

यद्यपि ज्ञानी या विचारक भी उपासक की तरह है, जैसे उपासक निरन्तर ध्यान में ही स्वाभाविकी प्रवृत्ति करता है, बाकी व्यवहार आपाततः चलाता है, वैसे सांसारिक प्रवृत्ति के प्रति ज्ञानी में कोई विशेष रुचि नहीं देखी जाती। तत्त्ववेत्ता भी उपासक की तरह व्यवहारों को विस्मृत ही रखता है, उधर ध्यान नहीं देता। तथापि यह ज्ञान का फल नहीं है। ज्ञान के कारण वह संसारी पदार्थों की तरफ ध्यान नहीं देता ऐसा नहीं परन्तु चूँकि तत्त्व की तरफ ध्यान देता है इसलिये लौकिक चीज़ों का विस्मरण हो जाता है। वह ज्ञान के कारण नहीं वरन् ध्यान के ही कारण ऐसा है। प्रश्न होगा कि वह ध्यान क्यों करता है? ध्यान इसलिये करता है कि जो चीज़ अत्यन्त रुचिकर होती है, प्रयोजन कुछ नहीं हो तो भी उसकी याद आती रहती है। जैसे बच्चा अमरीका पढ़ने चला गया, माँ यहाँ बैठी उसे याद करती रहती है तो उसका क्या प्रयोजन है? ऐसा करने से वह वापिस तो आ नहीं जायेगा! चूँकि पुत्र प्रिय है, इसलिये मन उधर चला जाता है, उसके लिये उसे चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप में जो आनन्द है, नाम-रूप में भी अधिष्ठानरूप से वही आनन्द है परन्तु नाम-रूप का व्यवधान होकर है। तत्त्वज्ञ की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो आनन्द की तरफ होती है परन्तु उससे सम्बन्ध होने के चलते नाम-रूप से भी व्यवहार कर लेता है। अधिष्ठान आत्मा परम प्रिय और आनन्दघन है, इसलिये उसका चिन्तन तो स्वाभाविक है। उसके बारे में किसी को श्रवण करा रहा है, किसी को मनन करा रहा है तो वह भी प्रिय लगता है क्योंकि प्रिय के बारे में कर रहा है। तदतिरिक्त जो संसारी चीज़ें हैं, जैसे धन की प्राप्ति कैसे हो अथवा समाज का उद्धार कैसे होगा, उनके चिंतनों में उसको विशेष रुचि नहीं होती और उधर प्रवृत्ति स्वभाव से नहीं होती। यदि कोई प्रारब्ध कर्म ऐसा है जिसके लिये कोई काम करना है तो प्रारब्ध परमात्मा का संकल्प है और ईश्वर आत्मस्वरूप है इसलिये उसके संकल्प के अनुसार ज्ञानी आचरण कर लेता है। परन्तु परमात्मा के विषय में श्रवण-मनन में रुचि स्वभावतः बनी रहती है। प्रारब्ध-भोग के लिये जैसे दाल-रोटी खाने का प्रयत्न है वैसे ही चाहे जितना बड़ा कार्य हो, निभा लेता है जैसा आगे कहेंगे कि जनक आदि की भी प्रवृत्ति राज्य-कार्य की रही। इस प्रकार ज्ञानी में भी विस्मृति देखने में आती है पर उसका कारण ध्यान है, ज्ञान नहीं है। ॥९६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपासना से स्वतन्त्र ही ज्ञान मोक्षोपाय है यह स्पष्ट करते हैं–

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः।।९७।।

ज्ञानी के लिये ध्यान स्वैच्छिक है (चाहे तो करे अन्यथा नहीं) क्योंकि मुक्ति की उपलब्धि तत्त्वसाक्षात्कार से हो जाती है। 'ज्ञान से ही मोक्ष होता है' यह शास्त्रों में ढिंढोरा पीटा गया है।

ज्ञानी की तो ज्ञान से ही मुक्ति सिद्ध हो गई। उपासक तो ध्यान करता रहता है क्योंकि ध्यान नहीं करेगा तो अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा। ज्ञानी ने तो लक्ष्य प्राप्त कर लिया इसलिये उसे कुछ और प्राप्त करना नहीं है। परन्तु चूँकि परमात्मा का ध्यान करने से वह आनन्दघन प्रकट रहता है इसलिये उसे ध्यान की इच्छा सम्भव है और इच्छा होने पर ध्यान करे तो हर्ज नहीं है। यह कुछ ऐसा ही है जैसे मुनीम रोज़ाना रोकड़-बाकी मिलाता है और रुपयों को गिन कर रखता है क्योंकि जानता है कि कहीं गड़बड़ी हो गई तो उसका कार्य सिद्ध नहीं होगा, नौकरी से निकाल दिया जायेगा। इसलिये वह ध्यान-पूर्वक यह सब करता है। परन्तु जो धन में आसक्ति वाला है वह भी अपने रुपयों को गिनता ही है क्योंकि गिनने में मज़ा आता है। औरतों को इसका बहुत शौक होता है : बहुत बार औरत को कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी काँच के सामने खड़ी होकर अपने ही गहने को पहन कर देखती है कि 'कैसी लगती हूँ,' जब कि पहले भी उसी गहने को सैंकड़ों बार पहन कर देख चुकी है। ऐसा क्यों करती है? क्योंकि अपने को सुन्दर देखने में मज़ा आता है। इसी प्रकार से ज्ञानी का मोक्ष तो सिद्ध हो गया है। 'मुझे करना है या मेरा कर्त्तव्य है' यह उसकी बुद्धि नहीं है। परन्तु परमात्मा उसकी इच्छा का विषय है, इसलिये उस आनन्द को लेने के लिये करता भी है। ज्ञान से ही मुक्ति तो सिद्ध होती है क्योंकि श्रुति कहती है 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान से ही मुक्ति होती है, 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे. १. ८) उस देव को जानकर सारे पाशों से मुक्ति हो जाती है। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे. ६. १५) उस को जान कर ही आत्मा की प्राप्ति हो जाती है। यह बात शास्त्र के अन्दर बार-बार ढिंढोरा पीट कर कही गई है। इसलिये वह मोक्ष के लिये ध्यान नहीं करता कि मानता हो 'ध्यान नहीं करूँगा तो मेरा कुछ गड़बड़ हो जायेगा', क्योंकि उसका मोक्ष तो ज्ञान से सिद्ध हो चुका है॥९७॥

कर्मनिरपेक्ष मुक्ति न संसारी लोगों को समझ में आती है और न कर्ममार्गियों को समझ में आती है। सबको लगता है कि कोइ प्रयोजन या उद्देश्य सामने नहीं होगा तो व्यक्ति फिजूल के कामों में लग जायेगा। प्रसिद्ध कहानी है हीं कि किसी आदमी ने भूत सिद्ध कर लिया। वह भूत कहे 'मुझे कोई न कोई काम बताओ नहीं तो मैं तुम्हें ही खा जाऊँगा।' उससे कहा 'पाँच तल्ले का मकान बना दे।' उसने झट से वह मकान बना दिया। उसे जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी काम बताये, झट से वह काम करके सामने खड़ा हो जाये कि और कोई काम बताओ। वह आदमी बेचारा बड़ा परेशान हो गया। इसी प्रकार से मन भी संसारी के लिये भूत ही है! संसारी समझता है कि अगर मन को निश्चित कर्मों में लगा रखेंगे तब तो ठीक है नहीं तो यह ऊटपटांग करेगा। इसलिये कर्ममार्गियों का कहना है कि ज्ञानी का मन भी चूँकि भूत है इसलिय, मोक्ष प्राप्त कर लिया, अन्य कोई उद्देश्य तो है नहीं अतः मन उससे ऊटपटांग काम करायेगा। इसलिये कर्मी चाहता है कि उसके लिये कोई न कोई नियम रखना ही चाहिये कि यह करो, यह नहीं करो। अन्यथा वह बहिर्मुख बन जायेगा। इसी शंका को उठाकर समाधान करते हैं–

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत् प्रवर्तेत तदा बहिः।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने।।९८।।

तत्त्वज्ञ यदि ध्यान नहीं करेगा तो बाह्य प्रवृत्तियाँ करेगा किंतु क्योंकि प्रवृत्ति से उसको कोई बाधा नहीं होती इसलिये आराम से प्रवृत्ति करे, कोई हर्ज नहीं।

संसारी व्यक्ति शंका करता है कि नियम होना चाहिये कि तत्त्ववेत्ता भी ध्यान करता रहे अन्यथा बहिर्मुखी प्रवृत्ति करके वह फँस जायेगा! क्योंकि वह अपने मन की दृष्टि से देखता है, इसलिये शंका स्वाभाविक है। पूर्वोक्त कथा में आगे आता है कि किसी महात्मा के कहने पर उस आदमी ने भूत को कह दिया कि कुत्ते की पूँछ सीधी करो! अब बार-बार पूँछ सीधी करता रहा परन्तु कुत्ते की पूँछ टेढ़ी ही रहे! भूत परेशान हो गया क्योंकि न वह पूँछ सीधी हो और न दूसरा काम बताने को कहे! इसी प्रकार बार-बार साधक की यह स्थिति है कि मन को ध्यान में लगाता है लेकिन वह बार-बार विषयों में जाता है इसलिये वादी का कहना है कि ऐसे ही तत्त्ववेत्ता भी ब्रह्म-प्रवृत्ति में नहीं जायेगा, तो बाहर चला जायेगा, बाहरी प्रवृत्ति करने लगेगा। किन्तु मन प्रवृत्ति किस लिये करता है? संसारी का भी मन वहीं प्रवृत्ति करता है जहाँ उसका राग या द्वेष है। विद्वान् का तो सारा प्रेम परमात्मा में है। उसको बहिःप्रवृत्ति प्रारब्ध के कारण जबर्दस्ती करनी पड़ती है, परन्तु जैसे ही प्रारब्ध का वेग समाप्त होता है, वह फिर अपने प्रियतम की तरफ चला जाता है। इस बात को वादी नहीं समझ सकता है। संसारी समझता है कि मन तो हमेशा बाहर के विषयों में ही जायेगा। वस्तुतः इसलिये उनमें जाता है कि वे पसन्द हैं। तत्त्ववेत्ता को वे विषय अच्छे लगते नहीं हैं तो वहाँ क्यों जायेगा? लेकिन वादी तो अपने मन की दृष्टि से देख रहा है।

अभ्युपेत्यवाद से जवाब देते हैं कि मान लिया कि उसका मन बाहर गया, इससे उसका हर्ज क्या है! यह अभ्युपगमवाद इसलिये है कि सम्प्रदाय-रक्षण इत्यादि के लिये, ज्ञान-संतति, परम्परा बनी रहे इसके लिये कुछ विद्वान् लोगों में बाह्य प्रवृत्ति देखने में आती है कि शिष्य को उपदेश देते हैं, शिष्टों को सन्मार्ग में लगाते हैं। यह सब भी प्रारब्ध के कारण ही है लेकिन वस्तुस्थिति है। अनेक आधुनिक लोग कहते हैं कि जब यह सब कर रहे हो तो फिर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संसार का ही कार्य कर लो! वे यह नहीं समझते कि तत्त्ववेता का यह करना तो साक्षात् परमात्मा के लिये है। संसार के सारे कार्य भी परमात्मा के लिये हैं लेकिन साक्षात् नहीं हैं इसलिये तीव्र प्रारब्ध के भोग के लिये तो बाह्य प्रवृत्ति हो सकती है परन्तु स्वेच्छया नहीं होगी। जहाँ ऐसी प्रवृत्ति कुछ लोगों में देखी जाती है वहाँ के लिये कहते हैं कि विद्वान् सुख से भले ही दूसरा काम कर ले, उसे करने में कोई बाधा नहीं है। उस की निष्ठा में बाधक कुछ नहीं है॥९८॥

अनात्मप्रवृत्ति सम्भव होने पर भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व की आपादक प्रवृत्ति सम्भव नहीं यह विस्तार से (श्लोक १०५ तक) समझाते हैं–

अतिप्रसङ्ग इति चेत् प्रसङ्गं तावदीरय।
प्रसङ्गो विधिशास्त्रं चेन्न तत् तत्त्वविदं प्रति।।९९।।

यदि शंका करो कि बाह्य प्रवृत्ति स्वीकारने पर अनुपयुक्त भी प्रवृत्ति होने लगेगी; तो पहले यह बताओ कि विद्वान् की प्रवृत्ति में हेतु क्या समझते हो? यदि विधिशास्त्र को मानो तो यह जानो कि वह तत्त्ववेत्ता पर लागू ही नहीं है।

यदि सुख से उसकी प्रवृत्ति होती है तो फिर अतिप्रसंग हो जायेगा अर्थात् जो उसे नहीं करना चाहिये, वह भी कर लेगा! अर्थात् शास्त्रविरुद्ध या लोकविरुद्ध कर लेगा। अतिप्रसंग हो जायेगा कि बाहर प्रवृत्ति करने से कुछ भी कर लेगा। इस शंका पर कहते हैं कि यह बताओ कि फिर उसके लिए क्या प्रवृत्ति ठीक है? बेठीक प्रवृत्ति कहने के लिये पहले ठीक का पता होना चाहिये। ठीक किस के लिये है, किस परिस्थिति में है, किस के साथ है–इन सब चीज़ों का निर्णय किये बिना किसी चीज़ को ठीक या बेठीक नहीं कह सकते। ब्राह्मण का कुछ कर्त्तव्य है, क्षत्रिय का कुछ, वैश्य का कुछ और शूद्र का कुछ अन्य कर्त्तव्य है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी के अलग-अलग कर्तव्य हैं। दिन में कुछ काम करने के होते हैं, रात में कुछ और। लोगों को गलत रास्ते में ले जाने के लिये वैसे कार्यक्रम लोग रात में रखते हैं ताकि लोग बिगड़ें। जो रात में करने के काम नहीं हैं वे रात में करते हैं जैसे दिल्ली में कई लोग रात में बारह बजे तक जगते हैं! ऐसा नहीं है कि समाधिस्थ रहते हों! फिर सवेरे आठ बजे तक सोते हैं। सोना कार्य तो है लेकिन उचित समय पर सो जाते, फिर सवेरे चार बजे उठ जाते तो ठीक था। ब्राह्म मुहूर्त में जगने के समय कहते हैं कि नींद आती है। रामकृष्ण परमहंस के गुरु तोता पुरी थे, वे दिन-भर चादर तानकर सोते रहते थे! लोगों के मन में होता था कि दिन-भर क्यों सोते हैं। वे रात-भर समाधि लगाते थे। सवेरे छह बजे थोड़ी देर लेट जाते थे लेकिन बाद में जगकर भी चादर तान कर पड़े रहते थे। एक बार रामकृष्ण परमहंस के भतीजे, हृदय ने कहा 'दिन के समय आप कुछ देर तो बैठा करें। क्योंकि आप ऐसा नहीं करेंगे तो लोग दुनिया भर के सवाल पूछेंगे!' लेकिन वे तो चादर तानकर ध्यान ही करते रहते थे ताकि लोग आकर अलग-अलग बातें न करते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहें। इसलिये प्रसंग का निर्णय करने के पहले यह निर्णय करना पड़ेगा कि जो बात कही जा रही है वह कौन से काल, कौन से देश, कौन से वर्ण और कौन से व्यक्ति, पुरुष या स्त्री, के लिये है, तभी निर्णय होगा।

जितने काम कर्मकाण्ड में बताये गये हैं या लौकिक कार्य हैं, वे सब शरीर के धर्मों को लेकर हैं। पुरुष के अमुक कर्त्तव्यं हैं, स्त्री के कुछ और कर्तव्य हैं। वर्णानुसार फिर अलग-अलग कर्त्तव्य हैं। लौकिक-पारलौकिक दोनों काम उपाधि के लिये हैं। बहुत से लोग कहते हैं कि देशभक्ति करनी चाहिये। इसमें देश-शब्द का अर्थ है जहाँ तुम्हारा शरीर पैदा हुआ है। शरीर का तो देश हो सकता है, *मेरा* कैसे देश हो सकता है! इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'स्वेदेशो भुवनत्रयम्'। जब आत्मदृष्टि से सोचते हैं तब केवल भू लोक ही नहीं, सभी मेरे ही लोक हैं, मेरा ही घर हैं। सारे ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान मैं ही हूँ। चाहे लौकिक प्रसंग हो, चाहे कर्मकाण्ड में पारलौकिक प्रसंग हो, हर हालत में शरीर को लेकर ही कर्मों का विधान किया जाता है। लेकिन ज्ञानी तो स्थूल शरीर की बात क्या, सूक्ष्म शरीर मैं हूँ—यह भी नहीं जानता! इसलिये पहले तो यह बताओ कि ऐसे ज्ञानी को क्या करना चाहिये? प्रसंग का निर्णय हो कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये।

जो जिसके लिये विहित किया गया है, वही प्रसंग है, उसके अतिरिक्त दूसरा करना अतिप्रसंग है। तत्त्ववेता के लिये कोई प्रसंग नहीं है। जब अज्ञान के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के अन्दर मैं-बुद्धि हो, तब कुछ आगे 'मेरा' कर्म बने। जिसे शरीरों में मैं-बुद्धि है ही नहीं, उसका कोई प्रसंग कैसे होगा? शरीर से भी अतिप्रसंग नहीं होगा क्योंकि अतिदीर्घ काल तक उसने विधि-शास्त्र का पालन करके अन्तःकरण की शुद्धि की है,इसलिये शरीर आदि की अन्यथा प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है। अब केवल संस्कार के कारण शरीर चल रहा है। अतः शरीर के लिये पुराने संस्कारों और कर्मफलों से जो प्राप्त है उसकी मनाही नहीं है। अपनी, आत्मा की तरफ से कुछ किया जाये इसका विधान मिल नहीं सकता क्योंकि ब्रह्म के लिये कोई विधान है ही नहीं। यहाँ यद्यपि विधिशास्त्र लिखा है, लेकिन इसके साथ निषेध-शास्त्र को भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिये क्योंकि किसके लिये क्या निषेध है यह भी शरीर के निमित्त से ही प्राप्त होगा। जैसे कहें कि देशद्रोही मत बनो, तो मतलब है जहाँ स्थूल शरीर पैदा हुआ उसे अपना देश मानो और उसका द्रोह न करो। आत्मा के लिये प्रसंग ही नहीं तो अतिप्रसंग असंभव है यही निर्णय है। ॥९९॥

शास्त्र अज्ञानी को ही निर्देश देता है यही समझाते हैं –

वर्णाश्रमवयोऽवस्थाभिमानो यस्य विद्यते।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि।।१००।।

वर्ण, आश्रम, उम्र, अवस्था में अभिमानी के लिये ही सब विधि-निषेध हैं।

अज्ञानी को स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के साथ अध्यास होकर 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि है तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि ब्राह्मण पैदा हुआ, शरीर ब्राह्मण है, 'मै ब्राह्मण हूँ' यों वर्ण का निर्णय होगा। यदि उसका यज्ञोपवीत हो गया है तो 'मैं ब्रह्मचारी हूँ' यों आश्रम का निर्णय होगा। यज्ञोपवीत तो शरीर का ही करोगे। अन्यथा, राजस्थान के एक बड़े अच्छे कर्मकाण्डी पंडित थे। उन्होंने एक बार शिकायत की 'मेरा लड़का जानेऊ नहीं पहनता, आप उसे समझाईये।' अगली बार लड़का मिला तो उससे पूछा। उसने कहा 'जनेऊ बहुत अच्छी तरह पहनता हूँ, पहन ही रखा है। मैंने सोचा कि जनेऊ इतनी अच्छी चीज़ है अतः एक दिन उसे जलाकर उसकी राख को शहद से मिला कर चाट लिया। इसलिये मेरे खून के रग-रग में जनेऊ है। लोग कैसे कहते हैं कि मैं जनेऊ नहीं पहनता!' शरीर के ऊपर जनेऊ धारण करने का विधान है। जो उस लड़के ने किया उसका नाम धरण करना नहीं होता। इसी प्रकार संस्कार से ही तुम्हारा आश्रम निर्णीत हुआ। वह भी शरीर को ही लेकर है। उम्र तो शरीर की ही है। बहुत से कार्य वय, उम्र के कारण भी होते हैं: महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि सतहत्तर साल सात महीने सात दिन की उम्र के बाद किसी भी व्रत की आवश्यकता नहीं रह जाती। कोई कहे कि 'मैं तो तीस साल की उम्र में ही व्रत करना छोड़ दूँ' तो यह ठीक नहीं है। वर्त्तमान स्थूल शरीर जब उस उम्र का होगा, तभी की बात है। इसी प्रकार से शरीर की अवस्था पर भी कर्त्तव्य निर्भर है। लोग समझते हैं कि हम किसी को नहीं छूते तो उसके प्रति हमें घृणा होगी! किंतु घृणा नहीं है, वरन् उस स्थिति में वह अस्पृश्य है, इसलिये उसको नहीं छूना है। माता भी उपवीती के लिये प्रतिमास अस्पृश्य होती है। माँ के प्रति घृणा का प्रश्न ही नहीं। इसी प्रकार जिनके बारे में शास्त्रों ने कहा है कि उनका स्पर्श नहीं करना है, हम उनका स्पर्श नहीं करते। वही शास्त्र लिखता है कि होली के अगले दिन स्पर्श करना है तो खोजकर करते हैं। यों अवस्था को लेकर भी स्पर्शास्पर्श की व्यवस्था है। सदा कोई अस्पृश्य भी नहीं है और सदा कोई स्पृश्य भी नहीं है। दादा जी मर गये, पिता अग्निहोत्री हैं तो दस दिन तक उनका स्पर्श नहीं कर सकते क्योंकि पितृ कर्म करके घर आये हैं। किसी अवस्था में कोई और किसी में कोई दूसरा अस्पृश्य हुआ। शरीरादि में जब अभिमान होता है तभी यह सब बनता है। ये मूलतः देहाभिमान ही हैं। जिनको ऐसा अभिमान है उन्हीं के लिये विधि और निषेध दोनों हैं। लेकिन देहाभिमान छूटने के बाद, स्थूल सूक्ष्म शरीर का अभिमान छूटने के बाद न कोई विधि और न कोई निषेध रह जाता है। इस प्रकार जब प्रसंग की ही प्राप्ति नहीं तो अतिप्रसंग की बात क्या हो सकती है! ॥१००॥

तत्त्वज्ञ उक्त अभिमानी नहीं होता यह बताते हैं –

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः।।१०१।।

वर्ण, आश्रम आदि मायाद्वारा देहपर आरोपित हैं, ज्ञानरूप आत्मा के धर्म नहीं हैं—यह विद्वांन् का विचारित निश्चय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानी का निश्चय यह है कि वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि शरीर में माया के द्वारा अहंकार का अध्यास होकर ही परिकल्पित हैं। जितने विधि-निषेध हैं, वे सारे जीवित व्यक्ति के प्रति हैं। न केवल शरीर के लिये कोई विधि-निषेध है और न केवल आत्मा के लिये है। माया के द्वारा जब आत्मा और स्थूल-सूक्ष्म शरीर का अध्यास होता है तब ये सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं।

माया द्वारा कल्पित न कहकर माया द्वारा परिकल्पित कहा अर्थात् यह सामान्य कल्पना नहीं है। यह तो भली प्रकार से की हुई कल्पना है। बहुत-सी ऐसी लौकिक अच्छी-बुरी चीज़ों की कल्पना हम लोग कर लेते हैं जो भिन्न-भिन्न देशों में बदल जाती हैं। किसी देश में एक चीज़ को ठीक समझते हैं और किसी अन्य देश में उसी चीज़ को गलत समझते हैं। अपनी भारतीय परम्परा में आदमी आगे और औरत पीछे चलती है। यूरोप में औरत को आगे रखते हैं, आदमी पीछे चलता है। क्योंकि माया से ही वे कल्पनायें हैं इसलिये व्यवहार-काल में ही बदल जाती हैं। सन् १९४७ से पहले बलूचिस्तान से पश्चिमोत्तर प्रान्त तक सबको अपना ही देश मानकर इसकी स्वतन्त्रता के लिये लगे हुए थे, किन्तु अब हम लोगों के काम से ही वह परदेश हो गया! ये सब कल्पनायें ही हैं जो खटाखट बदल जाती हैं। वर्णाश्रम आदि की बातें परिकल्पना हैं क्योंकि वे किसी युग में बदलने वाली नहीं हैं। वे यावद्व्यवहार यथावत् रहेंगी। इसलिये परमेश्वर के नाम-रूप आदि जैसे शास्त्र में कहे हैं वैसे व्यावहारिक हैं किन्तु हमारी अपनी कल्पनायें प्रातिभासिक ही हैं अतः धार्मिक, पारलौकिक लाभ की नहीं हैं। शास्त्रों में जो उनका ध्यान आदि बताया गया है वह परिकल्पित है अर्थात् शास्त्रों ने भली प्रकार से समझ कर उनका विधान किया है। इसलिये वर्णाश्रमादि कल्पित ही नहीं परिकल्पित हैं क्योंकि इनको मानकर चलने वाला परमात्मा का अनुभव कर लेगा, मनमानी कल्पना वाला अनुभव नहीं कर सकता।

वेदान्त में भी यह हमेशा याद रखना पड़ता है। आत्मतत्त्व के ज्ञान के बाद जितना व्यावहारिक संसार है यह सारा निर्मूल हो जाता है। यह सुनकर साधक सोचता है कि उसके लिये भी नियमों की ज़रूरत नहीं है। यह ठीक है कि सारे कल्पित हैं परन्तु वह हमारी या जीव की कल्पना नहीं है। गणित में जैसे असंभव भी काल्पनिक संख्या (ऋण एक का वर्गमूल) समझी-समझायी नहीं जा सकती क्योंकि है ही नहीं, लेकिन बिना जाने इसका प्रयोग करके सवाल हल हो जाते हैं इसी प्रकार से ब्रह्म निर्विकार है, इसलिये उसमें किसी प्रकार का विकार किसी तरह से हो नहीं सकता और हमें यह सारा विकारी संसार दीख रहा है तो इसका समाधान कैसे किया जाये? इसलिये शास्त्रने माया या अज्ञान को बताया। माया क्या है—इसे कोई नहीं जानता परन्तु माया वह है जिससे अधिष्ठान तत्त्व निर्विकार रहते हुए सारे नाम-रूपों में प्रतीत हो रहा है, यही उसकी माया शक्ति है। इसलिये आचार्य शंकर ने माया का प्रभाव बताया है 'अघटितघटनापटीयसी' जो बुद्धि के विचार से कभी घट नहीं सकता उसे घटाकर दिखाने में चतुर माया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जब कोई बुद्धिमान् आदमी किसी काम के लिये कुएँ में जाता है तो ऐसे ही नहीं उतरता, एक डोरी कमर में बाँधकर उतरता है क्योंकि उसे पता है कि वापिस उससे ऊपर आ जायेगा। अथवा आजकल स्काउट किसी अज्ञात जंगल में जाते हैं तो पेड़ आदि पर निशान बनाते जाते हैं कि उनको देखकर वापिस आ जायें। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस सारे संसार को बनाकर वह परमात्मा इसमें प्रविष्ट हो गया। सर्वज्ञ ने इसमें प्रवेश किया तो कुछ रास्ता इसमें से निकलने का रखेगा ही जिससे वापिस आयेगा। इसमें से निकलने का मार्ग शास्त्रों के द्वारा बता दिया, उसमें बताये रास्ते से जाओगे तो वापिस अपनी जगह पहुँच जाओगे। सृष्टि बनाना प्रारंभ किया तो पहले ब्रह्मा जी को बनाकर कह दिया कि 'आगे तुम दुनिया बनाओ।' 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' साथ में ब्रह्मा जी को वेद भी दे दिया। इस प्रकार ये सारे वर्णाश्रम-धर्मादि परिकल्पित हैं, वापिस निकलने के रास्ते हैं। जब रस्सी को पकड़ कर कुएँ से बाहर निकल आये तो फिर उस रस्सी को पेट पर लपेट कर तो नहीं घूमते कि इसने बड़ा काम दिया है इसलिये पेट पर लपेटे रखो! रस्सी तब तक जरूरी है जब तक बाहर नहीं निकल आये, बाहर आने के बाद नहीं है। परन्तु किसी दूसरे को निकालना होगा तो उसी डोरी से निकालना पड़ेगा। इसी तरह तत्त्ववेत्ता को इस परिकल्पित की आवश्यकता न होने पर भी तत्त्वजिज्ञासु के लिये तो इसकी पूरी तरह आवश्यकता है ही। तत्त्ववेत्ता ज्ञानस्वरूप है क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्र है। आत्मा सदा सुनिर्मल है—यह उसका निश्चय है। माया से परिकल्पित वर्णाश्रम आदि आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिये ज्ञानी के लिये प्रसंग की ही प्राप्ति नहीं तो अतिप्रसंग कहाँ से आयेगा! वर्णाश्रम आदि सभी देहाध्यास के बाद आते हैं और उनके आधार पर अधिकार के अनुसार ही कर्तव्य का उपदेश है। इसलिये वर्णाश्रम-अभिमानी के लिये ही विधि और निषेध हैं। जिसने यह जान लिया है कि देह में रहने वाले वर्णाश्रम आदि माया के द्वारा आत्मा अपने में परिकल्पित कर लेता है वह अध्यास-निवृत्ति कर लेता है—इसलिये कोई प्रसंग उसका रहता नहीं है। ॥१०१॥

विद्वान् पर कर्त्तव्यबोझ नहीं इसमें प्रमाण (यो.वा.स्थि.५७.२६) देते हैं—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः।।१०२।।

बुद्धिद्वारा सारी आसक्तियों को छोड़ चुका निर्मल ज्ञान वाला विद्वान् समाधि या कर्म करे या न करे, वह मुक्त ही है।

'मैं ब्राह्मण हूँ' यह भी बुद्धि की एक निश्चयात्मिका वृत्ति ही है, अपने विषय में जो निश्चयात्मिका बुद्धि है वही कर्त्तव्य का निर्णय करती है। जिसने बुद्धि से सभी प्रकार की आस्थायें अर्थात् सभी प्रकार की आसक्तियाँ हटा दीं वह कर्त्तव्यमुक्त हो गया। अभिमानों को ही आत्मसम्बन्धी अभिनिवेश कहते हैं। भिन्न-भिन्न निश्चय भिन्न-भिन्न आश्रमों में जाने पर, उम्र को लेकर, आस्था को लेकर बदल जाते हैं। इसकी सब प्रकार की आस्थायें अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिमान परित्यक्त हो गयीं। यतिधर्म ग्रहण करते हुए कहते हैं 'नाहं कस्यचिद् न मे कश्चित्' न मैं किसी का हूँ, न मेरा कोई है। पारिवारिक बन्धन 'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इस निश्चय को लेकर ही है। संन्यासी उन सब को छोड़ देता है। विचारशील में भी अभिमान छूट जाता है। लेकिन कहीं न कहीं आस्था रह जाती है। लगता है कि वास्तविक सम्बन्ध नहीं है परन्तु फिर भी कभी तो, किसी तरह का सम्बन्ध था। 'हृदयेन' कहकर बताया कि तत्त्वनिष्ठ को सर्वथा निश्चय हो गया है कि 'न मैं किसी का हूँ और न मेरा कोई है'। जैसे इस शरीर को जब हम छोड़कर जाते हैं तब निश्चय हो जाता है कि अब इस शरीर वालों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही सर्वत्र अनुभव हो जाये तब अपनी आत्मरूपता का निश्चय है। चूँकि सारे सम्बन्ध देह को लेकर ही हैं और देही मैं तीनों कालों में नहीं हूँ इसलिये सब बाधित हो जाते हैं। उनकी प्रतीति होने पर भी वह वास्तविक है—यह बात कभी भी मन में आती नहीं है।

इसलिये वह उत्तमाशय है। उत्तमके विषय में छांदोग्य उपनिषद् कहती है 'तस्य उद् इति नाम' ब्रह्म का नाम उत् है। यद्यपि ब्रह्म तो हमेशा ही निर्मल है, तथापि जब ब्रह्म के बारे में परोक्षरूप से जानता है, तब उत्तर है और जब 'ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा निश्चय होता है तब उत्तम है। जिसका यह ज्ञान, अभिप्राय सर्वथा निर्मल है, ऐसा उत्तमाशय ही मुक्त है। अतः उस के बाद शरीर मन आदि के संस्कार से चाहे समाधि करे चाहे न करे, कोई अन्तर नहीं है। उसका प्रारब्ध उत्तर है तो चतुर्थ, पंचम और षष्ठ भूमिकाओं की ओर चला जाता है। यदि परमेश्वर के द्वारा शिष्य आदिको उपदेश के लिये नियुक्त है अथवा यम आदि की तरह आधिकारिक पुरुष होने के कारण सृष्टि-कार्यों को करने के लिये नियुक्त है तो भूमिकाओं पर आरूढ तो हो नहीं सकता, इसलिये 'कर्माणि करोतु' कर्म कर लेगा। मुण्डकोपनिषद् भाष्य में लिखा है कि आचार्य के लिये भी यह नियम है कि शिष्य आये तो उसे ज्ञान का उपदेश दे। इसलिये तदतिरिक्त लौकिक वार्ता में तो उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। शास्त्र उसके लिये कर्म या समाधि, दोनों में से किसी का भी नियमन नहीं करता। सारे नियमन तभी तक हैं जब तक सारी उपाधियों से रहित नहीं हो गया है। उसके बाद तो 'प्रारब्धाय समर्पितं मम तनुः' प्रारब्ध जो परमेश्वर का संकल्प है, उसके अनुसार ही सारी प्रवृत्तियाँ करता है। ॥१०२॥

विद्वान् पर कार्यभार नहीं होता, इसमें अगला वाक्य (यो. वा. स्थि. ५७. २७) सुनाते हैं—

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः।।१०३।।

जिसका मन वासनाओं से रहित हो चुका है उसे निष्कर्मता और कर्म दोनों से कोई प्रयोजन नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवृत्ति कराने वाली चीज़ अन्तःकरण में संस्कारों का उद्‌बुद्ध होना है। जो वासना उद्‌बुद्ध होती है वही कर्म में प्रवृत्ति कराती है। जिसके मन में कोई वासना नहीं है, उसका प्रवर्त्तन कठिन है। कर्म तो तब भी किसी संस्कार के उद्‌बुद्ध होने से ही होगा, परन्तु ईश्वर-संकल्प से संस्कार उद्‌बुद्ध होंगे। इसलिये प्रारब्ध से अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति तत्त्वनिष्ठ की नहीं है। जब तक मन के अन्दर किसी भी प्रकार के संस्कार हैं अतः संस्कारों के द्वारा प्रवृत्ति होती है तब तक तो नैष्कर्म्य और कर्मों का प्रयोजन है किन्तु संस्कार-निवृत्ति के बाद नहीं। संस्कार अन्तःकरण में होते हैं, उसके अनुसार ही मन की वृत्ति बनती है। मन की वृत्ति बनने पर कामना होती है। अविद्या, काम और कर्म—यह क्रम भाष्यकार बार-बार कहते हैं। कामना का कारण अज्ञान और कामना का कार्य कर्म। कर्म करने पर वे संस्कार फिर दृढ हो जाते हैं। संस्कार उद्‌बुद्ध होकर आये भी तो शास्त्रानुकूल न होने से मन की प्रवृत्ति होने पर भी उस कर्म में प्रवृत्ति नहीं ही करता है, यह साधना में पहला कदम है। साधक के लिये पहली चीज़ यही है, भगवान् ने कहा— 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' क्या करना है, क्या नहीं करना है, इसमें शास्त्र प्रमाण है। यह बात गाँठ बाँध कर रखनी चाहिये। ठीक जिस प्रकार से सेना का सैनिक अपने सेनापति की आज्ञा के बारे में यह सोचे 'इसे तो लड़ना आता नहीं, ऐसे लड़ाई थोड़े ही की जाती है, हम जानते हैं कि कैसे लड़ाई जीती जाती है।' उस समय वह चाहे मनमानी कर ले लेकिन आगे चलकर तो दण्डित ही होता है। जिसने जैसे कमाण्डर ने आज्ञा दी, वैसा ही कर लिया, वह पुरस्कृत होता है। यह काम कमाण्डर का है कि निर्णय करे कि कहाँ क्या करना है। यह सैनिक का काम नहीं है। ठीक इसी प्रकार शास्त्र परमेश्वर की आज्ञा है। स्वयं भगवान् ने कहा है 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' श्रुति एवं स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं, जो उनका उल्लंघन करता है वह मुझसे चाहे जितना प्रेम करे, परन्तु शास्त्राज्ञा के विरुद्ध जाता है तो मेरी आज्ञा का विरोधी होने से मेरा द्वेषी ही है।

द्वितीय विश्व महायुद्ध के समय स्वेटर बिनने की लम्बी सलाइयाँ भारतवर्ष में नहीं बनती थीं, इंग्लैण्ड से आती थीं। युद्ध के समय वहाँ से माल आना कम हो गया था क्योंकि रास्ते में माल के जहाज डुबो दिये जाते थे। कम माल आता था तो उसकी असली कीमत की जगह बाजार में चौगुणी हो गई। उस समय एक एजेण्ट था जिसे सलाइयों का 'कोटा' मिलता था। उस हिन्दुस्तानी एजेण्ट ने कम्पनी से कहा कि सलाइयों के दाम बढ़ा दे क्योंकि बाजार में चौगुणे-पाँच गुणे दामों में बिक रही हैं। कम्पनी ने कहा कि जब चीज़ की कमी है और लोगों को उसकी आवश्यकता है तब उसका दाम बढ़ाना व्यापार का अच्छा ढंग नहीं है। इसलिये कम्पनी इसका दाम नहीं बढ़ायेगी। एजेण्ट ने सलाह दी 'तुम अगर मेरी एजेन्सी का कोटा बढ़ा दो तो हमको जो फायदा होगा, उसमें से आधा हम आपको दे देंगे।' कम्पनी ने कहा कि भविष्य में तुमने ऐसी बात कही तो तुम्हारी एजेन्सी समाप्त कर दी जायेगी। अगर निर्धारित दर से ज़्यादा दाम पर बेचते पाये गये तो तुम्हारी एजेन्सी रद्‌द हो जाएगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी प्रकार परमेश्वर ने नियम बनाया कि सत्य के अनुसार चलो। तुम कहते हो कि ज़माना बदल गया, सच बोलने से काम नहीं होता। झूठ बोलने से ही काम होगा तो उस के फायदे में से कुछ हिस्सा ठाकुर जी को भी चढायेंगे। ऐसों के लिये भगवान् ने कहा कि आज्ञा का छेदन करने वाला वस्तुतः मेरा द्वेषी है। अविवेक से मेरा प्रेमी होकर भी वैष्णव नहीं है। भगवान् कहते हैं कि मैंने तुम्हें कहा 'सत्य बोलकर चलो' और तुम झूठ बोलकर फायदा करके मुझे भी हिस्सा देते हो तो तुम्हें दण्ड ही मिलेगा। मेरी बनाई हुई व्यवस्था से द्वेष करना मूलतः मुझसे द्वेष ही है। जब मन के अनुसार चलते हैं, शास्त्र की परवाह नहीं करते तब भगवान् का विरोध ही कर रहे हैं। धीरे-धीरे शास्त्रीय संस्कार दृढ हो जाते हैं तो मन समझ लेता है कि अब उसकी बात नहीं सुनी जायेगी क्योंकि इसके ऊपर से मेरा राज्य गया। तब धीरे-धीरे तुम्हारी प्रवृत्ति सर्वथा शास्त्रविहित ही रह जाती है। शास्त्र-विहित कर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि सारे सुख उसी से उत्पन्न पुण्य से मिलते हैं। चित्त में पुण्य एकत्र होने पर विवेक करके देखते हैं तो पता लगता है कि कर्म जों भी फल देगा वह अनित्य ही संभव है और मैं नित्य हूँ अतः मेरे लिये कर्मफल निरर्थक है। इस विचार की दृढता के बाद विषयसुखों की अभिलाषा चली जाती है। जिस प्रकार से कोई क्षणिक सुख प्राप्त हो पर साथ ही बड़ा दुःख आये तो उस सुख को छोड़ देते हैं इसी प्रकार पाप से विषयसुख की प्राप्ति तो होगी परन्तु उसके द्वारा जन्म-मरण का चक्र कभी हटेगा नहीं। जब विषय-सुख की अभिलाषा छोड़ देता है तब ईश्वरार्पण-बुद्धि से ही कर्म करता है। जब वह ईश्वर-सेवा सफल होती है तब निष्कामता की अवस्था में श्रवण मनन निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वनिठा की प्राप्ति होती है। तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति होने पर दृढ निश्चय बना रहता है कि संस्कार अन्तःकरण में रहने वाले हैं, मुझ से इनका सम्बन्ध तीनों कालों में नहीं है।

इस प्रकार का अन्तःकरण वही होगा जो सारी वासनाओं से रहित हो गया है। 'यस्य मनः' यह भूतपूर्व गति से कहा है। अब वह मन उसका नहीं है परन्तु लौकिक दृष्टि से कभी था। उसकी तो अनुभूति यह भी नहीं है कि 'यह मेरा मन था' क्योंकि मन के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध का अत्यंत अभाव जानता है। परन्तु अन्यों की दृष्टि से कहते हैं कि *उसका* मन सर्वथा निर्वासन हो गया। अतः उसका निष्कर्मता से कोई प्रयोजन नहीं रह गया। सामान्य सोचने का तरीक है कि यदि नैष्कर्म्य नहीं है तो कर्म होगा। या कामना करोगे या नहीं करोगे—हम लोग दो ही कोटियों में सोचते हैं। इसलिये कहा कि जैसे कर्म नहीं करने से कुछ प्रयोजन नहीं वैसे ही कर्म करने से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता है। न शरीर मन आदि में कर्म होने पर उसको लगता है कि इससे *मेरा* कोई प्रयोजन सिद्ध हो रहा है और कोई कर्म नहीं होता तो भी नहीं लगता कि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है। समाधान अर्थात् समाधि का अभ्यास करने पर 'बहुत अच्छा हो रहा है, मेरी समाधि बढ़ती जा रही है' ऐसा कुछ भी उसको नहीं लगता है। इसी प्रकार जप हो तो भी कुछ अन्तर उसको नहीं है। इसलिये विद्वान् के लिये कोई शास्त्रीय भी विधि-निषेध नहीं हैं। ॥१०३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासना-निवृत्ति के कारण सभी कर्त्तव्यों से छुटकारा समझाते हैं–

आत्माऽसङ्गस्ततोऽन्यत् स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम्।
इत्यचञ्चलनिर्णीते कुतो मनसि वासना।।१०४।।

जब यह दृढ निर्णय हो गया कि आत्मा सभी सम्बन्धों से रहित है एवं आत्मा से अन्य केवल मायामय इन्द्रजाल-सा है तब मन में वासना कैसे रहेगी!

समाधि का प्रयोजन है कि मन वासना से रहित हो जाये। लेकिन जो इस बात को जानता है कि आत्मा असंग है, उसके लिये वासना हटाने के क्या मायने? भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि दस साल तक भी मृग-मरीचिका, मृगी का जल दीखता रहे तो बालू के एक कण को भी गीला नहीं करता। कोई कहे कि दस साल से दीख रहा है तो गीला होता होगा, तो हँसी की बात है। इसी प्रकार अनादि काल से अनन्त जन्म प्रतीत हुए परन्तु आत्मा पर इसका कोई प्रभाव आ सकता ही नहीं है। आत्मा असंग है और आत्मा से भिन्न अनात्मा, शरीर इन्द्रियाँ मन आदि सभी परमेश्वररूप बाज़ीगर का खेल है। इन्द्र अर्थात् परमेश्वर अपनी माया शक्ति से संसार प्रकट करता है अतः यह इन्द्रजाल है। जैसे बाजीगर तुमको पाँच सौ के नोटों की गड्डी दिखाता है पर खेल खत्म होने पर वह अपनी डुगडुगी बजाकर दो-चार आने उसमें डालने के लिये कहता है! जब उसके पास पाँच सौ के नोटों की गड्डी है तो फिर दो-चार आने कैसे माँगता है? इसलिये कि वह गड्डी केवल इन्द्रजालमात्र है।

जब सन् १९१३ में दिल्ली के अन्दर एडवर्ड आया था तब वहाँ एक बुड्ढा सड़क पर जा रहा था। कॉलेज के कुछ लड़के उस बुड्ढे को छेड़ने लगे। थोड़ी दूर गये तो वहाँ पुलिस तैनात थी। उस बुड्ढे ने एक पुलिस वाले से कहा 'इन बच्चों ने मुझसे छह गिन्नियाँ छीन ली हैं। अमुक अमुक जेब में एक-एक गिन्नी रखी है।' पुलिस वाले ने तलाशी ली तो गिन्नियाँ मिल गयीं! वह उन्हें पकड़ कर थाने की ओर चल दिया। लड़कों का बुरा हाल था, बुड्ढे से हाथ-पैर जोड़ने लगे कि हमें माफ कर दो, पुलिस वाले से छुड़ा दो। उस ने कहा 'अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि तुमने मुझे बहुत परेशान किया है।' जब थाना पास आ गया तो बुड्ढे ने उन लड़कों से कहा 'आगे कभी किसी बुड्ढे को छेड़ोगे तो नहीं?' लड़कों ने कान पकड़ कर माफी माँगी 'आइन्दा कभी किसी को नहीं छेड़ेंगे।' तब बुड्ढे ने पुलिस वाले से कहा 'इन्हें छोड़ दो, इन्होंने मेरा कुछ नहीं लिया।' लेकिन चोरी आदि अपराधों के मुकदमों में राज्य की तरफ से दण्डव्यवस्था होती है। इसलिये पुलिस वाले ने कहा 'ये रंगे-हाथों चोरी के जुर्म में पकड़े गये हैं, इस लिये अब इन्हें नहीं छोड़ा जा सकता।' बुड्ढे ने कहा 'चोरी का माल कहाँ है?' पुलिस वाले ने जेब में हाथ डाला तो देखा कि वहाँ गिन्नियाँ हैं ही नहीं। पुलिस वाला इधर-उधर देखने लगा। बुड्ढे ने उससे कहा 'यह तो मेरा खेल था। मैं एक बाज़ीगर हूँ। इन्होंने मुझे परेशान किया तो मैंने इन्हें सबक सिखा दिया कि भविष्य में ऐसे कभी किसी को परेशान मत करना। इसलिये तुम इन्हें छोड़ दो।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ भी दिखाया जा सकता है लेकिन है यह इन्द्रजाल ही। इन्द्रजाल मायिक है। बाज़ीगर के खेल में और परमेश्वर के खेल में यही फर्क है कि बाज़ीगर का इन्द्रजाल घण्टे-आधे घण्टे का है और परमेश्वर का यह संसाररूप इन्द्रजाल जब तक तुम्हें स्थिर आत्मज्ञान न हो जाये तब तक ऐसा ही रहेगा। परमेश्वर का बनाया हुआ सोना जब तक तुम्हारी आत्मज्ञान की निष्ठा पूर्ण नहीं होगी तब तक वैसा ही रहेगा, तुम्हारे अन्तःकरण आदि वैसे ही रहेंगे, चाहे अनंत सृष्टियों का प्रवाह निकल जाये। मायिक वह हुआ जो माया से निर्मित है, किसी मनुष्य की शक्ति से निर्मित नहीं है। माया प्रकृति है, प्रकर्षेण कृति वाली है, परमेश्वर की शक्ति है, उसी के द्वारा सारी कृति होती है, उसका नियामक मायाधीश परमेश्वर है। माया दो तरह की है। आचार्य कहते हैं 'विद्याविद्ये प्रभोःशक्ती'; सूर्य की तरफ मुख करो तो तुम्हारा मुख चमकता है, उधर से फेर लो तो तुम्हारा मुँह काला हो जाता है, चमकता नहीं। ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर की तरफ दृष्टि करने वाले का तो ज्ञानरूप चेहरा चमकता है जबकि परमेश्वर से हटकर उसके इन्द्रजाल की तरफ जो दृष्टि करने वाला है वह हमेशा तमसे, अज्ञान से ही आच्छादित है। ईश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति माया का ही प्रपंच विस्तार है—यह निर्णय स्थिर हो गया कि क्षण-भर को भी नहीं हटता, तब विद्वान् के मन में वासना कहाँ से रहेगी! वासना नहीं है तो सारे प्रयोजन समाप्त हो गये, प्रयोजन के बिना कोई प्रवृत्ति नहीं करता। शुरू में प्रयोजन शरीर आदि को लेकर है। बाद में प्रयोजन सूक्ष्म हो जाता है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर का प्रयोजन श्रेष्ठ, उसकी अपेक्षा कारण अर्थात् उसके अधिष्ठाता परमेश्वर का, परमेश्वर की प्रसन्नता का प्रयोजन श्रेष्ठ। इन सबके रहते तो कुछ न कुछ कर्तव्य प्राप्त होता जाता है। जब यह अचंचल या स्थिर निर्णय हो गया कि आत्मा असंग है और यह सारा जगत् मायिक इन्द्रजाल है, तब कहीं कोई प्रयोजन नहीं रह गया। न संसार का प्रयोजन रह गया और न मन इत्यादि को ठीक करने का प्रयोजन रह गया। ॥१०४॥

श्लोक ९९ से चले प्रसंग को पूरा करते हैं —

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम्।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शङ्क्येतातिप्रसञ्जनम्।।१०५।।

उक्त विचारानुसार विद्वान् के लिये कुछ भी करना प्राप्त नहीं है तो गलत करने की प्राप्ति की सम्भावना कैसे होगी! जो कुछ कर सके वही गलत भी करे यह संभव है।

प्रश्न उठा था कि तत्त्ववित् यदि आत्मध्यान में तल्लीन न रहा तो बहिर्मुखी प्रवृत्ति कर भ्रष्ट हो सकता है। सिद्धान्ती ने कहा कि भले ही बाह्य प्रवृत्ति करे, उसकी हानि नहीं। तब संभावना हुई कि गलती कर जायेगा। इसका उत्तर समझाया कि जो करेगा वही गलती भी करेगा। विद्वान् निज-वासना, कामना से तो रहित है अतः कुछ करता नहीं, शास्त्र उसके लिये कोई विधान नहीं करता अतः वह शास्त्रप्रेरित होकर भी कुछ नहीं करता। ऐसे में गलत करे यह कहाँ सम्भव है? जब 'अकर्त्ता-अभोक्ता आत्मरूप हूँ' यह दृढ निश्चय हो गया तब सब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोजन समाप्त हो जाने से सही-गलत कुछ भी करना प्राप्त नहीं। ॥१०५॥

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसञ्जनम्।
स्यात् कुतोऽतिप्रसङ्गोऽस्य विध्यभावे समे सति।।१०६।।

बालके के लिये कोई विधि न होने से वह विधि का उल्लंघन करे यह नहीं देखा जाता तो 'विधि न होना' समान रहते विद्वान् विधिका उल्लंघन कैसे करेगा?

जो छोटा बालक माँ की गोद में है उसके लिये किसी भी प्रकार की विधि का अभाव है क्योंकि वह कुछ कर ही नहीं सकता है। ज़्यादा से ज़्यादा वह रो सकता है, और तो कुछ कर नहीं सकता है। उसकी आखँ पर मक्खी बैठी हो तो बेचारा उसे ही नहीं उड़ा सकता है। उसके लिये विधि कैसे की जायेगी! अतः बालक गलत करता हुआ भी नहीं देखा जाता। माँ की गोद में टट्टी कर देता है, फिर भी उसे कोइ नहीं कहता कि यह गलत किया क्योंकि वह कुछ भी करने में असमर्थ है। जो शरीर आदि की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है उसको कोई दोष का कारण नहीं बताता। ठीक इसी प्रकार से जिसको अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व का अनुभव हो गया है उसके लिये भी विधि का अभाव होने से ठीक या गलत का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल प्रारब्धमात्र से जो प्रवृत्ति होनी है वही होती है। जैसे बालक वैसे ही विद्वान् है। इसलिये अन्यत्र शास्त्र में कहा है 'बालोन्मत्तजडपिशाचवत्' बालक, उन्मादी, जड (मूर्ख), पिशाच की तरह रहता है। इसी लिये विद्वान् के लिये विधि का अभाव होने से अतिप्रसक्ति का प्रसंग ही नहीं है जैसे बालक आदि के लिये। विधि का अभाव एक जैसा होने के कारण जैसे बालक में वैसे ही विद्वान् में प्रवृत्ति नहीं हो सकती॥१०६॥

शंका होती है कि बालक में तो इसलिये प्रवृत्ति नहीं है कि समझ नहीं सकता अतः उसके लिये विधि नहीं है, किन्तु विद्वान् समझदार और समर्थ है अतः विधि में अधिकृत क्यों नहीं? इसका समाधान करते हैं–

न किञ्चिद्वेत्ति बालश्चेत् सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित्।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः।।१०७।।

बालक की यदि यह विशेषता कि वह कुछ नहीं जानता तो विद्वान् की यह विशेषता कि वह सब कुछ जानता है! कम जानने वाले के लिये ही सब विधियाँ (और निषेध) हैं, बाकी दोनों (अर्थात् अज्ञ-सर्वज्ञ) के लिये नहीं।

यदि कहो कि बालक कुछ नहीं जानता है इसलिये उसके लिये विधि नहीं है तो सर्वज्ञता विद्वान् के लिये विधि के अभाव में प्रयोजिका है। जैसे कुछ नहीं जानने वाले के लिये विधान नहीं बनता वैसे ही सब कुछ जानने वाले के लिये भी। ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिये उसके लिये कोई विधि नहीं। सर्वज्ञ हो चुके विद्वान् के लिये भी कहा है कि स्नान, आचमन, शौच आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी उसके किसी विधि से नहीं होते। जैसे ईश्वर सब करता है लेकिन विधि से नहीं, वैसे ही विद्वान् भी प्रारब्ध के अधीन होने से स्नान, आचमन आदि करता है, परन्तु उसमें विधि प्रयोजक नहीं है। जैसे सर्वथा अज्ञता विधि की अप्राप्ति में प्रयोजक है वैसे ही सर्वज्ञता भी।

वह सर्वज्ञ कैसे है? छान्दोग्य में यह स्पष्ट है। श्वेतकेतु से पिता यही पूछते हैं 'तूने क्या वह जान लिया जिसे जानने से सब कुछ जान लिया जाता है?' लड़का जानता नहीं था, इसलिये पिता ने उसे शिक्षा दी कि परमात्मा ही एक ऐसी चीज़ है जिसे जानने से सब जान लिया जाता है। परमात्मा का रूप बताया 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' यह सारा संसार 'है' से प्रकट हुआ है, इसलिये सब चीज़ों में हमेशा है दीखता है। बिना है के कोई चीज़ नहीं दीखती। जैसे लोहे या सोने से बनी चीज़ों में लोहा या सोना होगा ही, जिसने लोहे या सोने को ठीक तरह से समझ लिया है वह सोने को किसी भी आकार या गहने में देखे तो पहचान लेगा कि यह सोना है। वह सोनारूप से सोने की बनी हुई सब चीज़ों को जानता है क्योंकि उन चीज़ों के अन्दर सच्ची चीज़ तो सोना ही है। जब तुम गहना खरीदते हो तो उसमें सोना ही सच्चा है। बाकी आकार आदि तो थोड़े दिन रहेंगे, फिर टूट जायेंगे। यथावत् सोना रहेगा। जैसे बार-बार गहनों के आकार बदलते रहोगे तो हर बार कुछ-न-कुछ सोना घटेगा, नुकसान में ही रहोगे, ठीक इसी प्रकार नाम-रूपों को हम बदलते रहते हैं और इसीलिये दुःख उठाते रहते हैं। 'है' तो जैसा है वैसा ही रहता है। इसलिये है को जान लिया तो तुमने है के सारे नाम-रूपों को जान लिया।

कुछ लोग शंका करते हैं कि 'है' अर्थात् सामान्य रूप से जाना, विशेष रूप से नहीं जाना है। लेकिन विचार करो, सींप को सींपरूप से जानने को जानना कहते हैं, उसे चाँदी-रूप से जानने को 'जानना' नहीं कहा जाता। सींप को चाँदीरूप से जान तो रहे ही हैं, लेकिन उसे जानना कहा नहीं जाता। असली चीज़ को जानना ही जानना है। असली चीज़ तो सद्ब्रह्म ही है। नाम-रूप उसके अन्दर कल्पित हैं, जैसे सींप में चाँदी कल्पित है। ऐसे ही सोने की दृष्टि से जानने को ही जानना कह सकते हैं। सोना है तभी गहना होगा, सोना होने पर ही उसे चाहे जिस डिजाइन का बना लो। इसी प्रकार हमें संसार परमात्मा के है-रूप से सम्बन्धित होकर दीखता है। अभी हम सारे व्यवहार परमात्मा से संबद्ध रख कर नहीं करते, इसलिये हमें नाम-रूप ही विशेष लगते हैं जबकि परमात्मा है तभी नाम-रूप का ज्ञान भी है। ज्ञानी का यह निश्चय अवश्य बना रहता है कि असली चीज़ तो ज्ञान है, नाम-रूप कल्पित हैं। असली चीज़ सद् ब्रह्म ही है, जैसे सुनार की दृष्टि में सच्ची चीज़ सोना ही है, डिजाइन कल्पित है। सुनार नाम-रूप को नहीं खरीदता, खरीदता वह सोने को ही है। सोना गणेश या चूहे के रूप में हो सकता है, परन्तु वह सोने का ग्रहक है, गणेश जी या चूहे का ग्राहक नहीं है। इसी प्रकार तत्त्ववित् ग्राहक तो केवल सच्चिदानन्द परमात्मा का है, परमात्मा किसी भी रूप में हो, क्या फर्क पड़ता है। उसका निश्चय है कि हमें असली माल लेना है, वह किसी भी रूप में हो कुछ फ़र्क नहीं पड़ता है। इसलिये वह सर्वज्ञ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सारी विधियाँ अल्पज्ञ के लिये हैं, न सर्वथा अज्ञ और न सर्वज्ञ के लिये कोई विधि है। इसलिये अज्ञ और सर्वज्ञ दोनों ही विधि के विषय नहीं होते। अल्पज्ञ ही विधि का विषय होता है। जैसे बालक अज्ञानी होने के कारण उसके लिये विधि-निषेध नहीं हो सकते, ऐसे ही विद्वान् सर्वज्ञ होने के कारण उसके लिये विधि-निषेध नहीं हो सकते। जिसकी जिसमें सामर्थ्य नहीं है, उसके लिये उसका विधान सम्भव नहीं है। अधिकारि-भेद के सनातन धर्म के सिद्धांत का आधार यही है कि जितनी जिसकी क्षमता है उतना ही उसका अधिकार है, जिसकी जिसमें क्षमता नहीं उसके लिये उसका विधान भी नहीं है। वेद में 'राजा' 'ब्राह्मण' आदि शब्दों से अधिकारी बताया या सामान्यतः विधान किया। जहाँ नामोल्लेख है वहाँ उसी के लिये नियम है, अन्य के लिये मनाही है परन्तु जहाँ कुछ नहीं कहा वहाँ मनुष्यमात्र को अधिकार प्राप्त हो जाता है। जिसमें जिसकी सामर्थ्य नहीं है, कर सकता नहीं है, उसके लिये वह अज्ञ बालक की तरह है, उसके लिये विधि-निषेध प्रवृत्त नहीं होते। जैसे अज्ञानी शास्त्र का विषय नहीं है वैसे ही सर्वज्ञ भी शास्त्र का विषय नहीं है। ॥१०७॥

ज्ञानी सर्वज्ञ है सुनकर गाँव के लोग समझते हैं कि खोयी भैंस का पता जानते होंगे! नामरूप-देश-काल से परिच्छिन्न वस्तुओं का ज्ञान ही ज्ञान है ऐसी लौकिक दृष्टि है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञ में अलौकिक सामर्थ्य की आशा की जाती है। इस तरह की भ्रान्ति को दूर करते हैं –

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्याऽसौ तत्त्वविद्यदि।
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात् तपसो यतः।।१०८।।

शाप, वरदान आदि की सामर्थ्य वाला ही तत्त्ववेत्ता हो ऐसा नहीं क्योंकि शाप आदि की सामर्थ्य तपस्या का फल है, ज्ञान का नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि तत्त्ववेता वह है जो शाप और अनुग्रह की सामर्थ्य वाला है। दूसरे को शाप दे सके अथवा अनुग्रह से वर दे सके वह तत्त्ववेत्ता है। ऐसा व्यक्ति 'सर्वज्ञ' का अर्थ होना चाहिये। यह प्रश्न लौकिक का ही सम्भव है। कोई विचारशील यह प्रश्न नहीं करेगा! शाप तब दिया जाता है जब तुम्हें क्रोध आये। अनुग्रह भी तभी होगा जब दया आये। शास्त्रकार कहते हैं 'जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्' लोगों के ऊपर दया और निष्ठुरता दोनों का त्याग करना है। अतः तत्त्वज्ञ के द्वारा शाप और अनुग्रह दोनों की प्राप्ति ही नहीं है। इन दोनों भावों की प्राप्ति तभी हो सकती है जब सर्व न दीखकर सामने वाले के अन्दर छोटी-छोटी चीज़ें दीखें क्योंकि जब सर्व की दृष्टि से देखते हो तो वहाँ न कोई कृपा के योग्य और न कोई शाप के योग्य है। फिर भी शंका मानकर समझाते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि शाप-अनुग्रह आदि की सामर्थ्य तो तप का फल है, तत्त्वज्ञान का फल नहीं है। तप से शाप-अनुग्रह आदि की सामर्थ्य आती है, यह आत्मज्ञान का प्रभाव नहीं है। ॥१०८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्त्ववेत्ता व्यास आदि में शाप की सामर्थ्य देखने में आती है। जैसे व्यास जी ने जनमेजय से कहा था कि तुझे कोढ़ निकलेगा तो उसको १८ प्रकार का कोढ़ हुआ! व्यास जी तत्त्वज्ञानी प्रसिद्ध हैं। इसलिये अन्य तत्त्ववेता में भी सामर्थ्य देखने में आनी चाहिये। इस आक्षेप के समाधान में कहते हैं–

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात्।
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम्।।१०९।।

व्यासादि की सामर्थ्य भी तप के बल से दीखती है। शापादि-सामर्थ्य देने वाले की अपेक्षा अन्य तप ज्ञान के प्रति कारण है।

व्यास आदि तपस्वी भी थे, केवल तत्त्ववेत्ता ही नहीं थे। जैसे किसी आदमी ने वकालत पढ़ी फिर अंग्रेजी पढ़ी, फिर उसने श्रवण-मनन करके आत्मज्ञान प्राप्त किया। आत्मज्ञान का फल तो मोक्ष है। परन्तु वकालत पढ़ी होने से उससे कोई सलाह माँगे तो दे देगा, लेकिन वह आत्मज्ञान का फल नहीं है, वह तो उसने जो दूसरी पढ़ाई कर रखी है, उसका फल है। इसी प्रकार व्यास आदि ने तपस्या की थी, उस तप के बल से उनके अन्दर शापानुग्रह की सामर्थ्य थी। आत्मविचार को भी शास्त्रकारों ने तप बताया है। यजुर्वेद में लिखा है 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' अर्थात् तप से ज्ञान प्राप्त करो। किन्तु वह तप विचाररूप है। जिसने आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया है, उसने विचाररूपी तप किया है, उससे उसके अन्दर शाप आदि की सामर्थ्य होनी चहिये ऐसा नहीं। तप शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। विचार को भी तप कहते हैं। इन्द्रिय और मन को एकाग्र करने को भी तप कहते हैं। महीने भर का चान्द्रायण व्रत करने को भी तप कहते हैं। अपने चारों तरफ आग जलाकर बैठना और ऊपर से धूप भी पड़े इसको भी तप कहते हैं। माघ के महीने में सूर्यास्त से सूर्योदय तक रातभर छाती तक पानी में खड़े रहने को भी तप कहते हैं। विचाररूपी तप ज्ञानहेतु है और शापादि का कारण अन्य प्रकार का तप है। व्यास जी ने दोनों प्रकार के तप किये थे अतः वे तत्त्वज्ञ के साथ सामर्थ्यवान् भी थे किन्तु इससे सभी तत्त्ववेत्ता समर्थ हों यह नियम नहीं हो जाता। ॥१०९॥

विभिन्न तपों की फलव्यवस्था दिखाते हैं –

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः।
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम्।।११०।।

दोनों तरह के तप जिसमें हैं उसी में शापादि-सामर्थ्य तथा तत्त्वज्ञान दोनों आते हैं। अतः एक-एक ढंग का तप करता व्यक्ति एक-एक का ही फल पाता है।

व्यास, दुर्वासा आदि ने दोनों प्रकार का तप किया था, इसलिये उन लोगों के अन्दर शापानुग्रह की सामर्थ्य भी थी और ज्ञान भी था। अलग-अलग तरह के तपों से अलग-अलग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फल पैदा हुए। जैसे भोजन दो प्रकार से बनता है—एक तो आग के चूल्हे में भूँज देते हैं और दूसरा, पानी में डालकर उबाल देते हैं। दोनों तरह से अलग-अलग तरह की चीज़ें बनती हैं। जिसके पास जिस प्रकार का चूल्हा होगा वह वैसा भोजन बनायेगा। किसी के घर में दोनों हैं तो वह दोनों तरह का भोजन बना लेता है। इसी प्रकार से जिसके पास दोनों तपस्यायें हैं उसकी तो दोनों प्रकार की सामर्थ्य होती है, शाप-अनुग्रह की सामर्थ्य भी होती है और तत्त्वज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। जो केवल शाप-अनुग्रह सामर्थ्य देने वाली तपस्या करेगा उसमें वही सामर्थ्य आयेगी। जो केवल तत्त्वज्ञान देने वाली तपस्या करेगा उसमें ज्ञान आयेगा, शापानुग्रह की सामर्थ्य नहीं आयेगी। क्योंकि दोनों के अलग-अलग कारण हैं, इसलिये एक-एक करने वाले को एक-एक का फल प्राप्त होता है, दोनों करने वाले को दोनों फल प्राप्त होते हैं। ॥११०॥

लौकिक स्थिति है कि जिसमें शाप-अनुग्रह की सामर्थ्य हो, वह यदि विधि-निषेध का पालन न करे तो कोई आपत्ति नहीं करता। कहते भी हैं 'समरथ को नहि दोष गुसाईं' उसे कोई नहीं कहता क्योंकि डरते हैं कि कहीं शाप न दे देवे! जिसमें कुछ करने की शक्ति नहीं है वह विधि-निषेध का पालन नहीं करता तो लोग निन्दा करते हैं। इसी दृष्टि से वादी कहता है कि लोक-निन्दा से बचने के लिये ही ज्ञानी के लिये कर्त्तव्य क्यों न माने जायें?

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः।
निन्द्यन्ते यतयोऽप्यन्यैरनिशं भोगलम्पटैः।।१११।।

सामर्थ्य-रहित तत्त्वज्ञ विधि-पालन न करे तो यदि (विधि-अनुसर्त्ता) संन्यासियों द्वारा निन्दनीय है तो भोगों के प्रति लम्पट लोगों द्वारा सभी संन्यासियों की निन्दा की ही जाती है!

लोग क्या कहते हैं, इससे कोई वास्तविक बात सिद्ध नहीं होती। बाकी कर्मकाण्डी निन्दा करें तो परवाह नहीं क्योंकि उन्हें तो यतिधर्म पता नहीं है परन्तु यति आत्मज्ञान के मार्ग में चलने वाले हैं। शास्त्रकारों ने निर्णय किया है 'त्वं-पदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्' आत्मा को ही जानना जब एकमात्र इष्ट रह जाये तब सब कर्मों का संन्यास करना चाहिये। जिसे इहलोक या परलोक की कोई भी इच्छा है उसे कर्त्तव्य कर्म आदि छोड़ने के लिये नहीं कहा। बाकी सांसारिक कर्मों को करने वाले यज्ञ आदि को छोड़ें—ऐसा शास्त्रकार नहीं कहते। आत्मा की वास्तविकता को समझने के लिये ही सारे कर्मों का संन्यास कहा गया है। संन्यासियों की भी कई विधियाँ होती हैं जैसे दण्ड आदि का तर्पण करो, भोजन आदि के लिये आचमन आदि अमुक प्रकार से करो। जो ज्ञानी परमहंस होगा वह यह सब करेगा नहीं। स्मृति आदि के अन्दर विधान यति के लिये किया गया है, उस विधि से भी ज्ञानी रहित है। ऐसा यदि शाप-अनुगह की सामर्थ्य वाला होगा तो दूसरे यति जानेंगे कि उससे कुछ कहना ठीक नहीं, नहीं तो शाप दे देगा! लेकिन यदि उसमें यह सामर्थ्य नहीं होगी तो लोग उसे बेकार आदमी कहेंगे, दूसरे यति भी उसकी निंदा करेंगे। इसलिये उसे विधि के अनुकूल ही आचरण करना चाहिये, विधिरहित नहीं रहना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस शंका के जवाब में कहते हैं कि जो संसार के भोगों में लगे हुए हैं वे लोग, विधिपालक संन्यासी चाहे जितना अपने लिये विधान किये हुए तर्पण आदि करे, कहते हैं कि 'क्या व्यर्थ का कार्य कर रहे हो! संसार कहाँ जा रहा है, धर्म की क्या स्थिति हो रही है और तुम बेकार समय खो रहे हो।' कभी रेल आदि में यात्रा करो तो ऐसे अनुभव हो जाते हैं। काशी में यदि कोई विद्यार्थी संन्यासी बनना चाहता है तो सब पंडित उसे समझाने लगते हैं कि 'क्यों संन्यासी बनते हो? हम तुम्हारा ब्याह करा देंगे!' भोगलम्पट लोग रात-दिन संन्यासिमात्र की निंदा करते हैं। क्या इतने से यह भी माना जाये कि निन्दा से बचने के लिये संन्यासी भोगपरायण बने? सभी द्वारा कोई अनिन्दनीय हो नहीं सकता अतः निन्दा की चिन्ता न कर शास्त्र का अनुसरण ही उचित होने से विद्वान् के लिये कर्त्तव्य नहीं ही मान सकते। ॥१११॥

भोगपरायण नागरिकों की सन्तुष्टि के लिये संन्यासी विषय-सेवन भी कर ले—इस संभावना का निरास करते हैं—

भिक्षावस्त्रदि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम्।।११२।।

यदि ये (निन्दा से डरने वाले संन्यासी) भोग-समर्थकों के सन्तोषार्थ भोजन, वस्त्र आदि की रक्षा में लग जायें तो इनका संन्यासीपना ही एक आश्चर्य होगा जो वैराग्य को मानो एक बोझ समझकर उससे मन्द पड़ गया है।

संसारी लोग संन्यासियों की ऐसे ही निंदा करते हैं कि ये लोग भोग के लिये प्रयत्न नहीं करते। गौशाला खोलें, व्यापार करें, और कोई धन्धा करें तो ऐसे लोग उनकी प्रशंसा करते हैं कि ये खूब काम करते हैं। सांसारिक भोगों के पक्ष में, लोगों को विषय उपलब्ध कराने के लिये सचेष्ट के बारे में प्रशंसा की दृष्टि से कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने यह बहुत अच्छा किया। वैराग्यवान् यति तो जानता है कि हमारा धर्म वैराग्य है, यह सब बाह्य व्यवहार तो हमारा धर्म नहीं है। लम्पट लोग कहते हैं 'बड़ा वैराग्यवान् बनता है! चार दिन इसे भिक्षा न मिले तो सारा वैराग्य ढीला पड़ जायेगा।' अथवा कहीं बन्दर वस्त्र या लंगोटी फाड़ देते हैं, वहाँ कपड़ा सुखाकर महात्मा रुका रहे तो पूछते हैं 'आप यहाँ क्यों खड़े हैं?' साधु कहे 'लंगोटी की रक्षा के लिये खड़े हैं।' तो कहते हैं 'काहे का वैराग्य है, दो गज कपड़े का मोह करते हो।' कहते हैं कि रोटी खानी है, सामान सँभालना है, इतना सब करना है तो फिर वैराग्य काहे का है? लंगोटी की रक्षा कर सकते हो, भिक्षा लेने जा सकते हो तो फिर नौकरी क्यों नहीं कर सकते? जैसे कर्मी द्वारा की निन्दा से बचने के लिये संन्यासी ज्ञानी कर्म करे यह मानना, वैसे ही भोगी द्वारा की निन्दा से बचने के लिये वह सांसारिक कार्य भी करे यह स्वीकारना गलत है। बल्कि यदि निंदाभय से यति यों ऐहिक-आमुष्मिक कार्यों में लगा तो उसका वैराग्य ही शोभास्पद नहीं है। वैराग्य विवेक का प्रभाव है, कोई भार नहीं जिसके कारण संसार के कार्य धीरे-धीरे हों वरन् संसार के लिये करना व्यर्थ है—इस निश्चय से उधर से विरति होती है। वैराग्य बोझ माना गया तो वह निस्तेज ही रहेगा। ॥११२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शास्त्रीय कर्मों के समर्थक कह सकते हैं कि भोग-लम्पट तो नास्तिक हैं, उनकी निन्दा की आस्तिक क्यों परवाह करें? अतः संन्यासी सांसारिक गतिविधि तो मत करे लेकिन आस्तिक-निन्दा से बचने के लिये शास्त्रीय कर्त्तव्यों का पालन अवश्य करे। शिष्ट को दूसरे शिष्ट की ही निंदा महत्त्वपूर्ण लगती है, अशिष्ट की नहीं। यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं—

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः।।११३।।

वर्णाश्रम-परायणों की मूढ लोग भले ही निन्दा करें—यदि ऐसा कहो तो देह को आत्मा समझने वाले आश्रमाभिमानी तत्त्वज्ञ की भले ही निन्दा करें!

मूढ या मूर्ख नास्तिक ही आस्तिक की निन्दा करते हैं। संसार में कोई भी सब विषयों में मूर्ख नहीं होता। जो एक अक्षर पढ़ा लिखा नहीं है, केवल पत्थर तोड़कर या गड्ढा खोदकर अपना गुज़ारा करता है, उस को दूसरे पढ़े-लिखे लोग मूर्ख कहते हैं। परन्तु पत्थर तोड़ने हों तों जैसे वह तोड़ लेगा, वैसे ये पढ़े-लिखे लोग नहीं तोड़ पायेंगे। पत्थर तो दोनों को एक जैसा दीखता है लेकिन पत्थर तोड़ने वाला जान लेता है कि किस पत्थर को कैसे तोड़ने से पत्थर सही टूट जायेगा और वहीं छैनी मारेगा। पढ़ा-लिखा घण्टों लगे तो भी पत्थर नहीं टूटेगा। गड्ढा खोदने में भी किस प्रकार फावड़े से मिट्टी निकाल कर बाहर फैंकनी है यह जो रोज़ खोदते हैं उन्हें खूब पता रहता है। दूसरे को पता ही नहीं चलेगा, वह चाहे फावड़ा चलाये लेकिन गड्ढा नहीं खोद पायेगा। गया (बिहार) में फल्गु नदी में गड्ढा खोदकर पानी निकलता है। वहाँ का पण्डा फटाफट गड्ढा करके पानी निकाल देता है, पंडित जी की नकल करके दूसरे लोग काफी देर तक गड्ढा खोदते रहते हैं लेकिन उसमें से पानी नहीं निकाल पाते। जिसको तुम अपनी दृष्टि से अत्यंत मूर्ख मानते हो वह भी किसी विषय में कुशल है। भाषा, विज्ञान आदि का पण्डित भी हो सकता है मिट्टी का चूल्हा बनाने में मूर्ख रहे। इसलिय मूढ का अर्थ बदलता रहता है। जिसका जिस विषय में प्रवेश नहीं है वह उस विषय में मूढ कहा जाता है। इसलिये हमारे शास्त्रों में जिस व्यक्ति ने व्याकरण, साहित्य पढ़ लिये लेकिन न्याय शास्त्र नहीं पढ़ा, नैयायिक उसे कहेगा कि यह बाल अर्थात् मूढ है क्योंकि न्याय शास्त्र जानता नहीं है। ऐसे ही व्याकरण, साहित्य शास्त्र पढ़े हुए लोग केवल न्यायशास्त्र पढ़े हुए को बाल कहेंगे। इसी प्रकार से जिसको वर्णाश्रम आदि का ज्ञान नहीं है, जैसे आधुनिक लोग हैं, उनको तो आदमीमात्र एक-सा लगता है। सबके एक-जैसे नाक-कान हैं तो सब एक-जैसे आदमी हैं, ऐसा समझते हैं। इसलिये उनकी समझ में न वर्णभेद आता है और न आश्रमभेद आता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था को न समझने वाले मूर्ख हैं।

यदि विचार करके देखो तो वर्णव्यवस्था का आधार वंशानुगतता है। जितना धीरे-धीरे आनुवंशिकी का ज्ञान बढ़ रहा है उतना ही लोगों की समझ में आने लगा है कि वर्ण-व्यवस्था क्या है। और आश्रम-व्यवस्था पर्यावरण-नियंत्रण पर आधारित है। व्यक्तित्व क्या है? विज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह मानता है कि वंशानुगतता और पर्यावरण मिलकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व को निर्णीत करते हैं। इसलिये वैज्ञानिक तो वर्णाश्रम-व्यवस्था को समझ लेता है परन्तु मूढ लोग कहते हैं कि सबके नाक-कान एक तरह के हैं तो फर्क क्या है! इसलिये जब तक रूस में साम्यवाद था तब तक वहाँ सरकार ने जैनेटिक्स, आनुवंशिकी की पढ़ाई बन्द कर रखी थी। थोड़े-से वैज्ञानिक चोरी-छिपे प्रयोग कर लेते थे, कानून से निषेध था क्योंकि तदनुसार मानना पड़ता है कि सब आदमी एक जैसे पैदा *नहीं* होते! विचार-विरुद्ध जानकर भी आग्रह रखना—यह मूढता का लक्षण है।

इसी प्रकार जो वर्णाश्रमव्यवस्था न जानने वाले मूर्ख लोग हैं, वे वर्णाश्रमधर्म मानने वालों की निन्दा करते हैं तो भले ही करते रहें, हम तो वर्णाश्रम मानने वाले हैं। भोगलम्पट, वर्णाश्रम-व्यवस्था को नहीं मानने वाले भले ही निन्दा करें, हमें उसकी चिन्ता नहीं है। ऐसा यदि शास्त्रीय कर्मों की कर्त्तव्यता का समर्थक कहे तो सिद्धान्ती का जवाब है कि शरीर को ही आत्मा समझने वाले जो आश्रम में ही अभिमान करने वाले हैं उनकी निन्दा की फिर आत्मज्ञ क्यों परवाह करे! आश्रम तो शरीर का होगा। 'शरीर मैं हूँ' ऐसे निश्चय वाले वर्णाश्रम पर दृढ होंगे। शरीर का धर्म शरीर भले ही माने, आत्मा से क्या सम्बंध है!—इस बात को जिसने जान लिया वह शरीर के धर्मों को अपने में नहीं देखेगा। इसलिये जो यति-निन्दा करते हैं वे आश्रम में ही अभिमान करने वाले हैं। आश्रम में अभिमान वही कर सकता है जो देह में आत्मबुद्धि रखे। जैसे वर्णाश्रम-व्यवस्था को नहीं समझने वाले मूर्खों की निन्दा से वर्णाश्रम वालों का कुछ नहीं बिगड़ता वैसे ही शरीर को आत्मा मानने वाले की निन्दा से जो शरीर को आत्मा नहीं जानता, उसका कुछ नहीं बिगड़ता ॥११३॥

श्लोक ९० में कहा था साधनों को निष्प्रभावी न बनाने से तत्त्वज्ञ का व्यवहार से कोई विरोध नहीं होता। चित्त का निरोध भी उसके लिये अनिवार्य नहीं रहता क्योंकि चित्त से सम्पाद्य तत्त्वबोध वह हासिल कर चुका है। श्लोक ९९ में प्रश्न उठा कि फिर क्या वह गलत कार्य करेगा? उत्तर में समझाया कि वैसा संभव नहीं। लौकिक या शास्त्रीय कोई प्रतिबन्ध उसपर नहीं रहता। लोकनिन्दा भी उसे बहिर्मुख बनाने में अक्षम है। अब इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात्।
ज्ञानिनाऽऽचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम्।।११४।।

उक्त विचारानुसार, तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर मन आदि आन्तर और घट-पट आदि बाहरी साधनों का विलय न हो जाने से राज्य-परिपालन आदि लौकिक कर्म ज्ञानी द्वारा भलीभाँति किये जा सकते हैं।

इस सब विचार से क्या निष्कर्ष निकला? जब तत्त्व को जान लिया कि आत्मा का यह स्वरूप है तब आत्मा का शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रहा जैसे रस्सी का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साँप से कोई सम्बन्ध नहीं है। तत्त्वविज्ञान होने पर भी जितने लौकिक व्यवहार हैं वे सारे शरीर, मन, बुद्धि से होने हैं। उन साधनों का उपमर्दन तो हुआ नहीं। योगी या ध्यानी के लिये यह कठिनाई है क्योंकि वह मन को अपना स्वरूप मानता है। वह समझता है कि मन अच्छा हुआ तो मैं अच्छा और मन बिगड़ गया तो मैं बिगड़ गया, इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ बिगड़ीं तो मैं बिगड़ गया; इसलिये उपासक, योगी तो इनकी शुद्धि-अशुद्धि का विचार करते रहते हैं। वह मन की वृति को सर्वथा हटाने का प्रयत्न करेगा। व्यवहार तो चित्तवृत्ति से ही होना है। बाकी जितने हैं वे साधनों का उपमर्दन करते हैं किन्तु तत्त्वविज्ञान के कारण साधनों का उपमर्दन होता नहीं है।

इतना अवश्य समझ लेना कि जब तक इन साधनों को व्यवस्थित नहीं कर लिया जाता तब तक इनसे अपने को हटाना कठिन है! जिस घोड़े को अच्छी तरह से तोड़ लिया गया है उस घोड़े पर बैठ कर कुछ भी सोचते हुए जाओ, घोड़े की तरफ ध्यान नहीं जाता। परन्तु जो घोड़ा अभी नहीं टूटा है, जंगली घोड़ा है अगर उसकी तरफ से एक सेकेण्ड को ध्यान हट गया तो वह तुम्हें गिरा देगा। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर, मन आदि पहले व्यवस्थित हो जायें तब इनका विचार किये बिना तुम आत्मतत्त्व का विचार कर सकते हो। यदि ये अव्यवस्थित रहे तो विचार कर ही नहीं पाओगे। इसलिये तत्त्वविज्ञान होने के साधनों की शुद्धि आवश्यक है, साधनों का उपमर्दन आवश्यक नहीं है। शिक्षितता और उपमर्दन में अन्तर है। मन शुद्ध हो यह तो जरूरी है परन्तु मन की वृत्ति निरुद्ध हो जाये, यह जरूरी नहीं है। उलटा, मन की वृत्ति का निरोध करोगे तो विचार कर ही नहीं पाओगे। यह इसलिये बताते हैं कि पूर्वोक्त विचार से कई लोग समझते हैं कि शरीर-मन कैसा भी हो, उसकी शुद्धि की क्या जरूरत है। जरूरी इसलिये है कि बिना शरीर-मन व्यवस्थित हुए आत्मविचार करना सम्भव नहीं है। आत्मविचार से साधन का उपमर्दन नहीं है परन्तु शुद्ध साधनों के बिना विचार हो नहीं सकता।

चूँकि साधन का उपमर्दन नहीं है, इसलिये जो तत्त्वज्ञानी है वह सम्यक् अर्थात् भली प्रकार से लौकिक व्यवहार का आचरण कर सकता है। प्राचीन काल में सबसे कठिन और झँझट का काम राज्य करना माना जाता था। वर्तमान में राजा का कार्य सरल है क्योंकि ऐसा सूत्र बनाया गया है कि प्रजा ही राजा है! इस सूत्र के कारण राजा कहता है कि 'राजा तो तुम यानी प्रजा हो, हम क्यों ईमानदार बनें। तुमने ईमानदार को क्यों नहीं चुना? हम बेईमान हैं तो हैं, तुमने गलती क्यों की?' प्राचीन काल में तो राजा को सब कार्य ठीक करना पड़ता था क्योंकि उसका यह धर्म था। इसलिये कहा कि तत्त्वज्ञ राज्य आदि का सम्यक् पालन भी कर लेगा। आत्मज्ञान हो गया इससे कोई रुकावट नहीं आती। इसलिये राम और जनक राजा थे, आत्मज्ञानी थे ही। आत्मज्ञान हो जाने पर उनका राज्य तो गया नहीं! इसी प्रकार जनक को आत्मज्ञान हुआ, उसके बाद भी वह राज्य करता रहा। फर्क इतना पड़ गया कि अब तक वह जानता था 'मैं राजा हूँ' और अब समझ गया कि मैं राजा नहीं हूँ। इसी प्रकार राम जी तीर्थ-यात्रा करके आये, विचारशील थे ही, वैराग्य हो गया। विश्वामित्र की प्रेरणा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से वसिष्ठजी ने राम जी को उपदेश दिया, जिससे राम जी तत्त्वज्ञानी बने। तत्त्वज्ञान होने के बाद वसिष्ठ जी ने कहा 'तुम जिस काम को पूरा करने आये हो, वह करो'। उसके अनुसार रावण, मारीच आदि सब को मारा, उसके बाद एक-दो दिन नहीं, ग्यारह हजार साल तक राज्य करते रहे! ऐसे कठिन कार्यों को करते हुए भी उन्हें कभी कोई विक्षेप नहीं हुआ। तत्त्वज्ञ जिस सामाजिक आदि अवस्था में है तदनुसार व्यवहार-निर्वाह कर लेता है। यदि संन्यास लिया तो भली प्रकार से श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेगा। जैसे जो राजा के घर में पैदा हुआ उसे राज्य करना है, उसी प्रकार यदि संन्यासी है तो श्रवणादि करना है। यद्यपि उसको कोई जरूरत नहीं है तथापि जहाँ बैठा है तदनुसार ही करेगा, उससे उसे कोई विक्षेप नहीं होगा। चूँकि साधनों की शुद्धि है इसलिये अतिप्रसंग अर्थात् शास्त्रादि से प्रतिकूल नहीं करने लग जायेगा। प्राप्त कार्य सम्यक् अर्थात् भली प्रकार से करेगा। भगवान् पद्मपादाचार्य का वचन है 'ज्ञानम् अज्ञानस्य एव निवर्तकम्' ज्ञान अज्ञान को ही हटाता है। अज्ञान के कार्य के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। वरन् उन कार्यों की सहायता से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उनका विरोधी हो तो वे उसे उत्पन्न करने में सहायक ही न बनें! जैसे उचित प्रयोग से विष भी हित करता है ऐसे इन्द्रियादि साधनों का सदुपयोग तत्त्वज्ञान उत्पन्न करता है। स्वरूपभूत ज्ञान अज्ञान को नहीं हटाता, वह तो अज्ञान का पोषक है! रस्सी को इससे कोई मतलब नहीं कि किसी ने रस्सी को देखा या साँप को देखा। रस्सी नहीं होती तो साँप दीखता ही नहीं। रस्सी की दया से ही साँप है। किन्तु ब्रह्म का ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है। चूँकि शरीर-मन को पता है कि ज्ञान पैदा होकर हमें खत्म नहीं करेगा, इसलिये वे ज्ञान का विरोध नहीं करते, उसे पैदा होने देते हैं। इसीलिये तत्त्वज्ञान साधनों का उपमर्दन नहीं करता, साधनों से व्यवहार होने देता है। ज्ञानी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर भी उसका व्यवहार सम्यक् चलता ही है। ॥११४॥

आत्मनिर्विकारता के ज्ञान की तरह जगत्-मिथ्यात्वका ज्ञान भी व्यवहार-विरोधी नहीं यह बताते हैं–

मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत् तर्हि मास्तु तत्।
ध्यायन् वाऽथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम्।।११५।।

प्रपंच मिथ्या है इस ज्ञान से प्रपंच-पक्षीय इच्छा ही विद्वान् को यदि न हो तो मत हो, प्रारब्ध के अनुसार वह ध्यान या व्यवहार करते हुए रहे।

अधिष्ठान आत्मा को जानने वाला संसार को मिथ्या देखेगा ही। किसी प्रसिद्ध चित्रकार के हाथ से आँका चित्र करोड़ों रुपयों का बिकता है, उसकी नकल सैकड़ों में बिकती है। नकली है यह जानने वाला उसे खास मूल्य नहीं दे पाता, असली के प्रति ही प्रवृत्ति होती है। अज्ञानी संसार को सच्चा समझने से इसे महत्त्व देकर इससे व्यवहार करता है, मिथ्या समझने वाला तत्त्वज्ञ ऐसा कैसे करेगा? उसे राज्यादि-संचालन की इच्छा कैसे होगी? उत्तर है कि तत्त्वज्ञ संसार-सम्बद्ध इच्छा करे ऐसा नियम नहीं। जिसे इच्छा नहीं वह व्यवहार नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करेगा। जिससे लोकसंग्रह कराना ईश्वर की इच्छा है वह व्यवहार करे तो हानि भी नहीं। अज्ञानी के लिये तो कर्त्तव्यों का प्रतिबन्ध है, अनिवार्यता है, उल्लंघन से दण्ड है। ज्ञानी यों विधि-निषेध से प्रतिबद्ध नहीं है, प्रारब्धानुसार कर लेगा। जीवन का प्रारब्ध रहते जो उपलब्ध है वह खा लेगा, न घी-रबड़ी की आशा रखेगा, न बाजरा-राबोड़ी पाकर शिकायत करेगा। इसी तरह यदि बाह्य व्यवहार का मौका आया तो वह कर लेगा अन्यथा परमात्मचिन्तन कर लेगा, मनोव्यापार से उसे कोई क्लेश नहीं होगा। प्रारब्ध ईश्वर का संकल्प है अतः ज्ञानी न उसे हटाता है, न दूसरा लाने की सोचता है। ध्यान करने से उसके आनन्द में कोई वृद्धि नहीं और संसारव्यवहार से कोई कमी नहीं। जब तक शरीर-मन में मैं-मेरापन है तब तक अन्तर पड़ता है, इनके हट जाने पर कोई अन्तर पड़ नहीं सकता। जब तक बन्धन था तब तक छूटने के लिये साधन भी थे, बन्धन निवृत्त हो गया, प्रयोजन सिद्ध हो गया, कृतकृत्यता हो गयी तो कोई कर्त्तव्य रह नहीं गया। सृष्टिकर्त्ता परमात्मा का संकल्प पूरा होता रहे, इससे तत्त्ववेत्ता को कोई बाधा महसूस नहीं होती। ईश्वर उस कार्यकरणसंघात से हिमालय की गुफा में समाधि लगवाना चाहे तो लगवाये, लोकसंग्रह कराना चाहे तो करावे, दोनों में विद्वान् का कोई प्रयोजन नहीं और दोनों से ही कोई विरोध भी नहीं। अतः उसकी उपाधिविषयक कोई इच्छा नहीं यह ठीक है और इसीलिये वह प्रारब्धानुसार जीवन-प्रवाह चलने देता है। योग में आग्रह भी तभी संभव है जब उपाधि में सत्यता और ममता हो। इनके अभाव में आग्रह असंभव है। योगाभ्यास के प्रारब्ध वाला ज्ञानी भूमिकारोहण की ओर बढ़ता है। पहले अनिवार्यमात्र भोग तक दृष्टि जाती है फिर अपनी ओर से उतनी भी नहीं जाती। अन्त में कोई मुँह में कौर डाल दे तो निगलने की भी प्रवृत्ति नहीं रहती! किन्तु लोकसंग्रही ऐसा न करने पर भी उसकी आत्मनिष्ठा में कोई कमी नहीं। अखण्ड साक्षात्कार प्रमा है, उत्पन्न होते ही अज्ञान मिटा देता है, फिर उपाधियों की बाधित अनुवृत्ति निष्प्रभावी है। ॥११५॥

ज्ञानी से ध्यानी में अन्तर बताते हैं–

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद् यतः।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुताऽदिवत्।।११६।।

क्योंकि स्वयं में या शिला में विष्णुरूपता आदि की तरह उपासक की ब्रह्मरूपता ध्यान से ही की गयी है इसलिये उसे निरन्तर ध्यान करते हुए ही रहना पड़ता है।

ज्ञान से वंचित ध्यानी की ऐसी स्थिति नहीं, उसे निरन्तर सावधानी चाहिये। मूर्त्ति में देवरूपता विधिवत् प्रतिष्ठित होने से है किन्तु आँखें पत्थर देखेंगी, देवतादर्शन ध्यान से ही होगा। जब साक्षात् दर्शन हो जाता है तब निरन्तर देवता-व्यवहार रहता है। रामकृष्ण परमहंस ने एक बार नैवेद्य चढाया तो भगवती ने चखकर छोड़ दिया कि ठीक नहीं बना। परमहंस ने कहा 'जैसा बना वैसा खा लीजिये।' अगले दिन माँ बोली 'मेरा पेट खराब हो गया!' परमहंस रोने लगे 'आपका पेट बहुत कमज़ोर है, मैं बेवकूफ रहा कि यह ध्यान नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिया।' ऐसे साक्षात्कारी का अनुभव निरन्तर है किन्तु ध्याता को ध्यान में तत्पर ही रहना अनिवार्य है। ॥११६॥

ध्यान से उपलब्ध अनुभूति पारमार्थिक नहीं यह स्पष्ट करते हैं–

ध्यानोपादानकं यत्तद् ध्यानाभावे विलीयते।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते।।११७।।

ध्यानमात्र से जो सम्पादित है वह (अभिनामादि) ध्यान न रहने पर विलीन हो जाता है जबकि ब्रह्मता वास्तविक है इसलिये तदाकार वृत्तिरूप ज्ञान न रहने पर भी विलीन नहीं होती।

ध्यान जिसका उपादान अर्थात् कारण है। जो ध्यान के कारण होता है, वह तभी तक रहता भी है। जिस समय मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, उस समय ध्यान करना आवश्यक है। मंत्र का प्रयोग तो है ही, परन्तु साथ में ध्यान भी बताया। ध्यान के कारण अहम् की ब्रह्मरूपता की अथवा मूर्ति में विष्णुता की प्रतीति है, इसलिये ध्यान ही उसका उपादान अर्थात् कारण हुआ। ध्यान जिसका उपादान होगा वह उपादान नहीं होने पर नष्ट हो जायेगा। परन्तु वास्तवी ब्रह्मता ऐसी नहीं है। यदि सामने देवदत्त बैठा है तो तुमने क्योंकि ध्यान से उसकी देवदत्तरूपता सम्पादित नहीं की है, इसलिये तुम्हारे ध्यान पर वह निर्भर नहीं। ठीक इसी प्रकार से वैकुण्ठ में भगवान् विष्णु के जो आँख-कान हैं वे तुम्हारे ध्यान के कारण नहीं, वे तो उनका शरीर ही हैं। इसी प्रकार प्रमाण से जन्य जो प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता वह सत्य है। ऐसा नहीं है कि जब तक ध्यान करो अथवा ब्रह्माकार वृत्ति बनाओ तब तक ब्रह्मता रहे, आगे-पीछे न रहे। उसका उपादान अर्थात् कारण ध्यान या ज्ञान नहीं है। घट के ज्ञान का घट कारण है। घट है तो घटज्ञान हुआ। तुमको घटज्ञान है तो वहाँ घट हो गया, ऐसा नहीं है वरन् वहाँ घड़ा है तब तुम्हें घट का ज्ञान हुआ। परन्तु ऐसा ध्यान में नहीं है। मूर्ति तो कारीगर ने बनाई है। उसमें ध्यान और मंत्र आदि के द्वारा विष्णुभाव को सम्पन्न किया गया है। प्रमाण ज्ञान से पता लगता है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्मरूप है तो उसका कारण ज्ञान नहीं है, कारण तो खुद ब्रह्म ही है। अतः तुम जानो चाहे नहीं जानो, ब्रह्माकार वृत्ति बनाओ चाहे नहीं, वह ब्रह्म ही रहेगा। इसलिये ज्ञान और ध्यान दोनों में फ़र्क रहता है। अतः ज्ञानी तो सर्वविध आचरण कर सकता है, ध्यानी नहीं कर सकता। ॥११७॥

ध्यान में जब तक वृत्ति रहती है तब तक ही चीज का भान रहता है क्योंकि ध्यान का कारण मन का प्रयत्न है। मन कुछ करता है तब ध्यान होता है। ज्ञान उससे बिलकुल भिन्न है। ज्ञान के लिये इन्द्रियाँ मन इत्यादि क्रिया करके विषय का आवरण नष्ट करते हैं। आवरण नष्ट होने के बाद ज्ञान का भान तो स्वतः ही होता है। अतः अज्ञान-नाश करने में तो वृत्ति की अपेक्षा या प्रयत्न की अपेक्षा है, परंतु ज्ञान के लिए प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान और ध्यान में यह फ़र्क क्यों है–यह बताते हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८॥

क्योंकि ब्रह्मता नित्य है इसलिये ज्ञान उसका बोधक ही है, उत्पादक नहीं। बोधक न रहने मात्र से सत्य विलीन नहीं होता।

इस फ़र्क का कारण है कि ब्रह्मरूपता नित्य है, ज्ञान से होती नहीं है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान करने से ब्रह्म है। ज्ञान तो अभिज्ञापक है, जो चीज जैसी है ज्ञान उसको वैसा प्रकट कर देता है अथवा जना देता है। जैसे प्रकाश के कारण किसी चीज में रंग पैदा नहीं होता, प्रकट होता है। प्रकाश उसमें कोई बदलाव नहीं लाता, वह जैसा है वैसा केवल प्रकट कर देता है। ऐसा नहीं है कि प्रकाश किसी को लाल कर देता है, किसी को पीला कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान, ब्रह्म की नित्यता प्रकट कर देता है। घट पट आदि अनित्य हैं तो उनकी अनित्यता को प्रकट कर देता है। जो चीज जैसी है उसको वैसा जना देना या प्रकट कर देना ही ज्ञान का कार्य है। नित्य ब्रह्म को वह उत्पन्न नहीं करता। जैसे, बत्ती बंद हो गई, इतने-मात्र से लाल रंग वाली चीज़ काली नहीं हो जाती अथवा काली चीज़ सफेद नहीं हो जायेगी, वह जैसी है वैसी ही रहेगी। इसी प्रकार ज्ञापक या बताने वाला नहीं रहा इतने-मात्र से सत्य ब्रह्म नहीं रह जायेगा, ऐसा नहीं है, वह विलीन नहीं होता। चूँकि सत्य ब्रह्म विलीन नहीं होता, इसलिए यह ज्ञान अभिज्ञापक है, पैदा नहीं करता। यह ज्ञान और ध्यान में मूलतः फ़र्क़ है। ध्यान से सम्पादित तो जब तक ध्यान करोगे तब तक रहेगा और ज्ञेय तत्त्व जब ज्ञान नहीं हो रहा है तब भी रहेगा ही। तात्पर्य यह हुआ कि यदि ब्रह्म की नित्यता, प्रत्यगभिन्नता ज्ञान से पैदा होती तब तो वह ज्ञान के हटने से हट जाती। जैसे तुमने हरे रंग का बल्ब लगाया तो तुमको सफेद कपड़ा हरा दीखने लग गया; सफेद कपड़े में हरापना प्रकाश ने किया है, इसलिए जैसे ही वह हरा प्रकाश हटा वैसे ही उस कपड़े का हरापना भी हट जायेगा। परंतु जो कपड़ा हरा है, सूर्य के प्रकाश से हरा दीख रहा है, वह सूर्य के अस्त हो जाने पर भी हरा ही बना रहेगा। इसी प्रकार से जब ज्ञान हो गया कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म से अभिन्न है, उसके बाद तुम्हारी यह वृत्ति नहीं बन रही है तब भी प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही रहेगा क्योंकि जानने से पहले भी वह वैसा ही था। ॥११८॥

प्रश्न होता है कि हम जिसका ध्यान कर रहे हैं वह ब्रह्मता नित्य है, इसलिए जब हम ध्यान नहीं करेंगे तब भी ब्रह्मता रहनी चाहिये? इसका उत्तर देते हैं—

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥११९॥

यदि कहो कि उपासक की भी ब्रह्मरूपता वास्तविक है (फिर अन्तर क्यों? तो उत्तर है कि) अज्ञानियों एवं जानवरों की ब्रह्मता क्या वास्तविक नहीं है!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे ज्ञानी का प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म वास्तव है, वैसे ही उपासक का भी तो आत्मा ब्रह्म ही है। इसलिए यदि वह ध्यान नहीं करेगा तो भी ब्रह्म वैसा ही बना रहेगा। किन्तु अज्ञान से आवृत रहते ब्रह्म-भाव निष्फल है अन्यथा संसार के अंदर जो कुछ विचार नहीं करने वाले, हल जोतने वाले अथवा ब्रह्म का खण्डन करने वाले कम्युनिस्ट वगैरह हैं, उनकी ब्रह्मता भी वैसी ही है जैसी ध्यान नहीं करने वाले की है। कुत्तों, मेंढकों का प्रत्यगात्मा भी ब्रह्म ही है। क्या तुम्हारा ध्यान भी व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि जो ऐसा ध्यान नहीं करता वह भी ब्रह्म ही है? ध्यानी यह तो कहने को तैयार है कि आत्मा ब्रह्मरूप है लेकिन यह जरूर कहता है कि ध्यान तो करना ही चाहिए, तभी ब्रह्मता प्रकट होगी। इसी प्रकार आवरणनिवृत्ति के लिये ज्ञान करना ही चाहिये। स्वरूपभूत ब्रह्मता से पुरुषार्थसिद्धि नहीं, अनावृत से है यह तात्पर्य है। ॥ ११९॥

पशु, संसारी, उपासक सबकी समानता दिखाते हुए उपासना का लाभ बताते हैं–

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत् समम्।
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथाऽन्यतः ॥१२०॥

पामरादि को ब्रह्मता पता नहीं इसलिये पुरुषार्थोपयोगी नहीं, तो ध्यानी को भी वह पता न होना समान है। उपवास से जैसे माँग कर खा लेना बेहतर है वैसे अन्य अनुष्ठानों से आत्मध्यान बेहतर है।

पामरों, कुत्ते-मेंढक आदि की ब्रह्मता होने पर भी वे इस बात को जानते नहीं इसलिए उससे उनको कोई लाभ नहीं, उनका कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। ऐसे ही ध्यानी को भी ब्रह्मता का ज्ञान नहीं है, इसलिये वास्तविक भी ब्रह्मता पुरुषार्थ-साधक नहीं है, फिर ध्यान से क्या लाभ? यदि हमारे पास भोजन करने का कोई साधन नहीं है, परंतु हम चार घरों से भिक्षा माँग लेते हैं, तो हमारा पेट भर जायेगा और जो माँगने नहीं जाता, उसका पेट खाली रहता है। हम दोनों ने *अपना* भोजन तो किया नहीं, परंतु हमें खाने को मिल गया, दूसरे को नहीं मिला। लेकिन जिसके पास अपना भोजन है, वह श्रेष्ठ है ही। भिक्षा से यह स्वातन्त्र्य तो नहीं हो सकता जो निजी साधनों से होता है। अपने पैसे वाले की बराबरी भिक्षा माँगने वाला नहीं कर सकता, परंतु भूखा रहने वाले की अपेक्षा तो भिक्षा माँगकर खाने वाला अच्छा ही है। जैसे उपवास करने की अपेक्षा भिक्षा कर लेना अच्छा है, इसी प्रकार, जब तक ब्रह्मता का ध्यान करते हैं तब तक अपनी ब्रह्मता प्रकट रहती है। ध्यान नहीं किया तो फिर प्रकट नहीं है, अपना जीवभाव रह जाता है। ज्ञानी का अपना धन है, वह तो निरन्तर अपनी ब्रह्मरूपता को समझता है। ध्यानी का भिक्षा की तरह है, जब माँगे तब मिल जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि किसी ऐसे गाँव में फँस जाओ जहाँ कोई भिक्षा देने वाला न हो तो कुछ भी खाने को नहीं मिलता। इसी प्रकार से किसी दिन मन लगेगा, किसी दिन नहीं लगेगा। जिस दिन मन नहीं लगेगा उस दिन प्रत्यगात्मरूपता ब्रह्म से अभिन्न नहीं हो पायेगी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि ध्यान नहीं लगा तो वह प्रकट नहीं होती है। ज्ञानी के लिए ऐसा कभी नहीं होता कि उसकी ब्रह्मरूपता प्रकट न हो। फिर भी पामरों, पशु-पक्षियों या बेध्यानी (ध्यान नहीं करने वालों) की अपेक्षा ध्यानी श्रेष्ठ तो है ही। ॥१२०॥

इस बात को स्पष्ट करके कहते हैं कि कौन-सी चीज़ किससे श्रेष्ठ है—

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥१२१॥।

पामरों के व्यवहार से कर्म आदि का अनुष्ठान श्रेष्ठ है, उससे भी सगुण उपासना और उससे भी निर्गुणोपासना बेहतर है।

पामर लोग अर्थात् जो लोग इहलोक के अंदर खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता आदि के अंदर ही लगे हुए हैं, उनकी दृष्टि में इहलोक से आगे का कोई विचार नहीं है। वर्तमान के जितने नेता लोग हैं वे सभी इसी तरह के पामर हैं। वे रोटी, कपड़ा और मकान की ही बातें करते हैं कि ये सबको मिलें, रोजगार सबको मिले। अर्थात् इस दुनिया में क्या मिले, इसके सिवाय और कोई बात नहीं करना पामरता है। ऐसे सारे के सारे लोग पामर कोटि के हैं। आजकल के पामरों की एक और विशेषता है कि वे पामर बनने को श्रेष्ठ बताते हैं। इस संसार की उन्नति के लिए जो प्रयत्न करते हैं, कहते हैं कि वे ही तो भगवान् की सेवा कर रहे हैं। इनके व्यवहारों की अपेक्षा अर्थात् इहलोक के भोगों में लगे रहने की अपेक्षा भगवान् की पूजा-पाठ, तीर्थ-दर्शन आदि सभी कार्य जो तुम्हारे परलोक को सम्भालने वाले कर्म हैं, उनका अनुष्ठान श्रेष्ठ है। इहलोक के भोगों में लगे रहने की अपेक्षा स्वर्ग आदि लोकों में सुख आदि के साधनों को सम्पन्न करना श्रेष्ठ है। उससे भी श्रेष्ठ अर्थात् परलोक के लिए करने की अपेक्षा भी परमेश्वर की उपासना श्रेष्ठ है क्योंकि परमेश्वर की उपासना वाला परलोक के भोगों की भी इच्छा नहीं करता। उपासना भी वह ईश्वरार्पण-बुद्धि से ही करता है। सगुण उपासना की शिक्षा तो कर्म-काल में ही दे देते हैं। एक-एक आहुति के साथ कहलवाते हैं 'इन्द्राय स्वाहा इदं न मम' यह मैंने इन्द्र को दे दिया, यह मेरा नहीं है। इसी प्रकार विष्णु, शंकर आदि की पूजा के अंत में भी कहलवाते हैं 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' इस कर्म का सारा फल भगवान् कृष्ण को दे रहा हूँ। सगुण उपासना में कर्म का फल नहीं चाहते, सारे कर्मों का फल ईश्वर को देते हैं। पुत्र जो कुछ कमाता है, वह सारा का सारा बाप के हाथ में रख देता है। आगे बाप उसे रोटी खिलाता है, अपने मकान में रखता भी है, जरूरत पड़ने पर कपड़े भी खरीद कर देता है, और भी यदि उसका कोई खर्चा है तो वह भी उसका पूरा कर देता है, लेकिन वह सब बाप की इच्छा पर है। कोई पुत्र पिता से यह नहीं कहेगा कि 'मैंने आपको इस साल एक लाख दस हजार कमाकर दिया है, आपने सब जमा करके रखा है या नहीं है?' पुत्र ऐसा कुछ नहीं कहता। पिता की जो मर्जी होगी, वही वह करेगा। तुम्हारी पसंद के अनुसार शादी पर भी खर्च कर देगा। दूसरे पुत्र की नौकरी छूट गई, वह भी घर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में ही रह रहा है, उसको भी वही हलवा-पूरी खाने को मिलता है जो एक लाख दस हजार कमाकर लाये को मिलता है। पुत्र ने जब अपनी सारी कमाई लाकर पिता को दे दी तो आगे पिता उसमें से तुम्हें अधिक दे, कम दे वह उसकी मर्जी है, तुम कुछ नहीं बोल सकते। इसी प्रकार तुमने जितना कर्म किया वह सारा ईश्वरार्पण कर दिया। आगे उसमें से तुम्हारे प्रारब्धानुसार जो वह तुमको दे देगा वह तुमको लेना है। ईश्वर प्रसन्न होकर तुम्हें मोक्ष दे सकता है। मोक्ष किसी कर्म का फल तो होता नहीं है, परंतु ईश्वर का अनुग्रह है तो मोक्ष हो जाता है। इस तरह, जो परमेश्वर की आराधना अर्थात् कर्म करता है वह उत्तम लोकों के अंदर भोग प्राप्त करेगा, वैकुण्ठ-गोलोक आदि में जायेगा। उसकी अपेक्षा जो ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करते हुए उसमें मन को लगाता रहेगा, वह श्रेष्ठ है। निर्गुण-उपासना उससे भी श्रेष्ठ है, परमेश्वर के निर्गुणरूप की अर्थात् प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप की ही उपासना करना उन दोनों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह परमात्मा का अपना वास्तविक स्वरूप है। सगुण रूप तो माया के कार्य से है, उसका अपना रूप तो निर्गुण ही है। ॥१२१॥

श्रेष्ठता का यह क्रम उपपन्न करते हैं –

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१२२॥

जितनी विज्ञान से समीपता अधिक होती है उतनी (साधनों की) श्रेष्ठता बढ़ती है। निर्गुण की उपासना धीरे-धीरे स्वयं ब्रह्मज्ञान जैसी हो जाती है।

साधनों में एक से दूसरे को श्रेष्ठ बता रहे हैं, इसमें क्या मापदंड है? परमात्मा का अपना स्वरूप है 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', विज्ञान अर्थात् अनुभव जो आनन्दरूप ही है वह ब्रह्म है। जो उसके जितना समीप है वह उतना श्रेष्ठ है। पामर तो उससे उल्टा मुख किए हुए, उससे अत्यंत दूर है। उसकी अपेक्षा मन-बुद्धि की शुद्धि का कारण होने से अग्निहोत्र आदि कर्म श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा भी सगुण उपासना में चित्त की एकाग्रता होने के कारण वह श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा भी परमात्मा के निर्गुण स्वरूप जो अपना ही रूप है, उसकी उपासना और भी श्रेष्ठ है। इसलिए जितना-जितना विज्ञान के समीप है उतनी ही उसकी श्रेष्ठता बढ़ती जाती है। ब्रह्मज्ञान का साक्षात् कारण निर्गुण उपासना है, इसलिए यह सबसे श्रेष्ठ है। धीरे-धीरे आगे बढ़ते-बढ़ते निर्गुण उपासना लगभग तत्त्वज्ञान जैसी स्थिति हो जाती है। साधक उससे पूर्णता को प्राप्त करता है। ॥१२२॥

उपासना का विद्या जैसा होना प्रकरणारम्भ में कहे दृष्टान्त से समर्थित करते हैं–

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥१२३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे संवादी भ्रम फलकाल में प्रमा का कार्य कर देता है वैसे पूर्ण परिपक्व होने से निर्गुण उपासना मोक्षकाल में विद्या का काम कर देती है।

इस प्रकरण के शुरू में ही कहा था कि भ्रम दो प्रकार के हैं। जो यथार्थ ज्ञान न हो वह भ्रम है। एक भ्रम ज्ञान है जो तुमको सच्ची चीज के पास ले जाता है। दूसरा भ्रम ज्ञान वह है जो तुमको सच्ची चीज से दूर करता है। कई बार अखबार के अंदर पाँच सौ रुपये का नोट छपता है और एक रिज़र्व बैंक का छपा हुआ पाँच सौ रुपये का नोट भी है। अख़बार के छपे हुए पाँच सौ रुपये के नोटों को तुम इकट्ठा करके रखो तो तुम्हें उसका एक धेला भी नहीं मिलना है, उन्हें रिज़र्व बैंक में ले जाकर कहो कि इस पर भी लिखा है 'मैं धारक को पाँच सौ रुपये अदा करने का वचन देता हूँ' तो बैंक वाले हँसेंगे और तुम्हें ठेंगा दिखायेंगे। है वह भी कागज़, उस पर भी पाँच सौ रुपये छपे हैं, और रिज़र्व बैंक का छपा हुआ नोट भी कागज़ ही है, पर उसे ले जाओगे तो वे झट तुम्हें पाँच सौ रुपये गिनकर दे देंगे। रुपये तो दोनों नहीं हैं परंतु नोट को रुपये समझना तो संवादी भ्रम है क्योंकि उससे तुमको रुपये मिल जायेंगे जबकि अख़बार के नोट को रुपया समझना विसंवादी भ्रम है जिससे तुम्हें कुछ नहीं मिलना है। ठीक इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को तुमने अभी जाना है नहीं। शास्त्र और गुरु ने तुमसे कहा है, इसलिए तुम निर्गुण ब्रह्म की उपासना को बिना जाने हुए भी करते हो। अभी वह भ्रम होने पर भी तुम वैसा ध्यान करते हो तो एक दिन तुम्हें निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। ब्रह्म निर्गुण है—यह जो तुमने शास्त्र व गुरु से जाना, वह तुम्हें अनुभव तो नहीं हो रहा है, लेकिन वैसा ध्यान करने से एक दिन तुम्हें अनुभव हो जायेगा, इसलिए वह संवादी भ्रम है। जो संवादी भ्रम, जैसे नोट में सच्चे रुपयों का ज्ञान है, उसके फलकाल मे रिज़र्व बैंक से सच्चे रुपये मिल जाते हैं। उसी प्रकार से निर्गुण उपासना से, जब तुम्हारा मुक्ति का काल आता है तब निर्गुण ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। मुक्तिकाल तब है जब ध्यान करते-करते पूरी तरह से पक जाता है। तब तुम्हें ज्ञान का फल मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥१२३॥

संवादी भ्रम से समता व्यक्त करते हैं—

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः।
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥१२४॥

संवादी भ्रम से प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को (उस भ्रम की अपेक्षा) अन्य (किसी) प्रमाण से प्रमा होती है, इसी तरह निर्गुणोपासना भी (उपासना से) अतिरिक्त प्रमा के लिये कारण की आवश्यकता पूरी कर देगी।

पूर्व पद्य में कहा कि संवादी भ्रम से यथार्थ ज्ञान हो जाता है लेकिन संवादी भ्रम से तो प्रमा ज्ञान होता नहीं है। नोट में जो रुपयों की बुद्धि है वह कभी प्रमा है नहीं, जब उस भ्रम से पुरुष ने नोट लेकर प्रवृत्ति की, रिज़र्व बैंक में वह नोट दिया, तब सच्चे रुपये मिले।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संवादी भ्रम सच्चा नहीं हुआ, वरन् उससे बैंक में जाकर जब हाथ में रुपये आ गये तब सच्चे रुपयों का ज्ञान हुआ। इसलिए भ्रम से प्रमा नहीं हुई, वरन् संवादी भ्रम से तुमने प्रवृत्ति की और तब प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमा हुई। इसलिए यथार्थ ज्ञान अन्य प्रमाण से हुआ। इसलिए केवल उपासना पकने से ज्ञान तो नहीं होना चाहिए। ऐसी शंका उठने पर समझाते हैं कि जैसे भ्रम में, ऐसे ही ब्रह्म निर्गुण है—यह समझकर तुमने उपासना की, कुछ प्रवृत्ति की। उस ध्यान के काम को करने के कारण तुम्हारी ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी। प्रमा तो उस वृत्ति से होगी, परंतु ध्यान के कारण ही वृत्ति बनी। तात्पर्य है कि शुरू में जो ब्रह्म का प्रत्यगभेद शास्त्र-आचार्य से सुना था वह प्रमाण ही था, उसमें रुकावट को दूर करने में निदिध्यासनरूप निर्गुणोपासना उपाय बन जाती है अतः वाक्यार्थ की प्रमा होती प्रमाण से ही है। ॥१२४॥

इसी न्याय से अन्य साधनों को भी उपयोगी सिद्ध करते हैं –

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि।
अस्तु नाम तथाऽप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥१२५॥

मूर्त्तियों का ध्यान, मन्त्रजप आदि भी कथंचित् साक्षात्कार के कारण बनते हों तो बनें, फिर भी निर्गुणोपासना साक्षात्कार के अत्यन्त सन्निकट है।

प्रश्न होगा कि फिर निर्गुण ध्यान की क्या विशेषता है? 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र जपते हुए हमने चतुर्भुज मूर्ति नारायण का ध्यान किया, उस ध्यान के कारण हमको भगवान् विष्णु के दर्शन हो गए। मंत्र, ध्यान आदि के कारण भी दर्शन होते हैं तो उन्हें भी अपरोक्ष ज्ञान का साधन मान लेना चाहिये। बाकी साधनों से निर्गुणोपासना में क्या फ़र्क़ है? निर्गुण उपासना में प्रत्यासत्ति अर्थात् निकटता, मध्य में और व्यवधान न आना विशेष है। इससे परमात्मा का ज्ञान प्रत्यगात्मा से अभिन्न होकर होगा और बाकी ध्यानों में अपने से भिन्नरूप से विष्णु आदि का दर्शन होगा। सबसे नज़दीक तो स्वरूप ही है। जैसे, विचार करो कि रुपये से तुमने रसगुल्ला खरीदा, तुमको रसगुल्ला तो मिला। परंतु जिसको तुमने रसगुल्ला खाने को दिया उसको रसगुल्ले का पूरा आनन्द आयेगा। अपरोक्ष लाभ से ही उपलब्धि की पूर्णता जैसे लोक में वैसे विष्णु आदि का भेदेन दर्शन तो अन्य उपासनाओं से होगा किन्तु 'मैं विष्णु' यों उपास्य से सर्वथा अभेद न होने से साक्षाद्रूपता नहीं रहेगी। परंतु निर्गुण ब्रह्म के उपासक ने तो उसको अपने साथ एक कर लिया। आनन्दरूप विष्णु को उसने अपने से अभिन्न अनुभव किया। इसलिए उसकी विशेषता है। निर्गुण उपासना उस तत्त्व की की जाती है जो प्रत्यासन्न अर्थात् साक्षात् ही है। अपरोक्ष वस्तु को विषय करने वाली होने से वह तत्त्वप्रमा से अत्यधिक नजदीक है। ॥१२५॥

उक्त निकटता स्पष्ट करते हैं–

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्गुणोपासना सुदृढ होने पर समाधि होती है, फिर धीरे-धीरे निरोध नाम की समाधि अनायास सम्पन्न हो जाती है।

शास्त्र और गुरु के कहने से तत् और त्वं पदार्थों का जो शुद्ध रूप, दोनों में होने वाली जो उपाधियाँ और गुण हैं उनको हटाने के बाद जो चिन्मात्र बचता है वह और मैं एक ही है—यही निर्गुण उपासना है। जब तक साक्षात्कार नहीं हुआ तब तक मन के सामने तो सगुण रहेगा, उस सगुण के रहते हुए ही उपासक को उन गुणों को हटाना है। जैसे तुमको देवदत्त, यज्ञदत्त, भानुदत्त, इन्द्रदत्त आदि दीखे। आँखों से तुम्हें 'आदमी' नहीं दीख सकता, यज्ञदत्त आदि सबको आँखों से देखते हुए ही तुम इनमें दीखने वाले नाक-कान आदि सबको हटाकर एक 'आदमी-जाति' (आदमियत) को जान जाते हो। सामने तुम्हें दीख तो इन्द्रदत्त आदि ही रहे हैं। अगर कहीं तभी तुम्हारे सामने जॉन, डिक, हैरी कोट-पैण्ट पहने हुए आ गये, दोनों समुदायों में कोई समानता नहीं कहोगे क्योंकि एक आदमी काला और दूसरा एकदम गोरा, एक लम्बा और दूसरा बौना, परंतु जॉन, डिक, हैरी को देखकर भी तुम तुरंत पहचान जाते हो कि ये भी आदमी हैं। क्या तुमने कभी *आदमी* को देखा है? फिर कैसे पहचान लिया? आदमी को तुमने कभी नहीं देखा, देखोगे तो तुम यज्ञदत्त आदि को, लेकिन उनके नाक-कान-आँख आदि को हटाकर बुद्धि के द्वारा उन्हें आदमीमात्र समझ लेते हो। जॉन, डिक भी इन्द्रदत्त की तरह आदमी हैं, आदमी-जाति का फ़र्क़ नहीं है। जिन चीजों को तुमने देखा उनके रूप को हटाकर तुमने वास्तविकता जानी है। यदि नहीं जानी होती तो प्रत्यभिज्ञा नहीं होती कि यह आदमी है। इसी प्रकार, तुमने चतुर्भुजी, पंचमुखी, षण्मुखी, अष्टभुजी, दशभुजी आदि सबको देखा, निर्गुण तो कभी देखा नहीं, परंतु सब रूपों को देखते हुए ही 'ये सब परमात्मा ही है' यह समझ में आ जाता है। बुद्धि से ही इस बात को समझ लेते हैं, इसलिए निर्गुण उपासना सम्भव हो जाती है। सगुण को देखते हुए ही गुणों को हटाते जाना पड़ता है। इतना ख्याल रखना कि जीव और ईश्वर दोनों के गुण हटाने हैं। जो ध्यान करने वाला है उसके और जिसका ध्यान कर रहा है उसके, दोनों के गुणों को हटाना है। जिसका ध्यान कर रहे हो उसके गुण सर्वशक्तिमत्ता, सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला आदि हैं और ध्यान करने वाले के गुण अल्पज्ञता, कर्त्ता-भोक्तापन, सुखी-दुःखी होना आदि हैं। सभी को हटाना पड़ेगा। केवल बुद्धि से ही उपासक उनका हटना समझ रहा है, हटने का अनुभव नहीं हो रहा है। उस शुद्ध का ध्यान करते-करते जब निर्गुण उपासना पक जाती है तब धीरे-धीरे समाधि हो जाती है।

तीन शब्द हैं—आधि, व्याधि और समाधि। आधि—कोई भी रोग सबसे पहले तुम्हारे मन में आयेगा। क्या गड़बड़ है—अभी यह पता नहीं होता है। फिर जब वह गड़बड़ ज़रा ज्यादा हो जाती है तब व्याधि हो जाती है। अब वह मन में ही नहीं रही, विशेष आधि, शरीर में व्याधि हो गई। मन में रहने वाले दोष जब मन में नहीं रह गये तब समाधि हो गई। जब तुम तत् और त्वं पदार्थों का शुद्ध स्वरूप परोक्षतः जानकर 'वह केवल निर्गुण ही है' ऐसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बार-बार उपासना करते हो तब धीरे-धीरे उस निर्गुण के अंदर तुम्हारी समाधि हो जाती है, उसमें समाहित हो जाते हो। जब तुम्हारी वह समाधि और दृढ हो जाती है अर्थात् सविकल्प समाधि निश्चित हो जाती है तब निरोधाख्य समाधि बन जाती है। जिसे पतंजलि महर्षि चित्तवृत्ति का निरोध कहते हैं, उस निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति धीरे-धीरे हो जाती है। बिना कोई प्रयास किए हुए जब समाधि हो जाती है तब 'निरोध' कहते हैं। शंका होती है कि यह सब तो प्रयत्न ही किया है फिर 'अनायास' क्यों कह रहे हैं? ऐसे समझ लो : पहले एक किलोमीटर तक खूब तेज़ी से साइकिल चलाओ और फिर पैडल चलाना छोड़ दो, चुपचाप साइकिल पर बैठे रहो तो भी वह साइकिल आगे सौ मीटर तक अपने आप चलती रहती है, उसमें तुम्हें कोई आयास या ज़ोर नहीं लगाना पड़ता। अतः वह सौ मीटर रास्ता चलना अनायास ही कहा जायेगा क्योंकि तुमने बिना कुछ किए हुए ही सौ मीटर पार कर दिए। इसी प्रकार से जब तुम सविकल्प समाधि खूब अभ्यस्त कर लेते हो, उसकी पूरी खुमारी चढ़ जाती है, तब वृत्ति *बनाना* छूट जाता है, वृत्ति बनी रहती है। निरोधाख्य समाधि तब है जब तुम वृत्ति बना नहीं रहे हो, वरन् पहले जो प्रयत्न किया है उससे ही वह प्रवाह चल रहा है। जब तक सविकल्प समाधि में प्रयत्न करते हो तब तक कर्त्तापना बना रहता है। परंतु जब पूर्वाभ्यास के वेग के कारण बिना कर्त्ताभाव के ही निर्गुण भावना चलती रहेगी तब समाधि की पूर्णता है। इस प्रकार से कर्तृत्वभाव से रहित जो समाधि चलती है वही अंत में ब्रह्मसाक्षात्कार करा देती है। ॥१२६॥

जब समाधि पक जाती है, अनायास हो जाने पर निरोध समाधि की प्राप्ति हो जाती है तब क्या होता है यह बताते हैं–

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन् वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥१२७॥

निरोध-अवस्था प्राप्त हो जाने पर साधक में असंग स्वप्रकाश तत्त्व रह जाता है जिसकी बार-बार भावना कर लेने पर महावाक्य से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

निरोधलाभ अर्थात् निरोध समाधि की प्राप्ति होने पर तत्त्वभान रहता है। पहले तो दीर्घकाल तक सविकल्प समाधि की प्राप्ति रही। उसके बाद अपनी तरफ से कर्तृत्वभाव छूट जाता है, सविकल्प समाधि के अंदर केवल इतना ही रह गया था कि 'मैं वृत्ति का निरोध कर रहा हूँ,' बाकी सब तो पहले ही छूट गया था, केवल इतना रह गया था कि 'मैं समाधि कर रहा हूँ,' जब वह भी छूट गया तब सर्वनिरोध हो गया, तब निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है। अब चित्त या अंतःकरण के अंदर कर्तृत्व-भोक्तृत्वभाव से रहित जो अपना असंग आत्मस्वरूप है वही बच जाता है। अंतःकरण लीन हुआ नहीं और उस में कोई वृत्ति भी रही नहीं, यहाँ तक कि कर्तृत्वभाव भी रहा नहीं; तब जो बच गया, वह केवल शुद्ध आत्मस्वरूप ही है। 'शिष्यते' कहकर आचार्य यह ध्वनित कर रहे हैं कि उसकी प्राप्ति नहीं हुई, वह है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो पहले से ही। विचार से जब हम नेति नेति के द्वारा मूर्तामूर्त सब चीज़ों को हटाते चले जाते हैं तब जिसे नहीं हटाया जा सकता वह वस्तु अर्थात् अधिष्ठान स्वयम् शेष रह जाता है। विचार से जब बाध, त्रैकालिक-अत्यंताभाव-निश्चय करते हैं तब बाध करने वाले का बाध नहीं होगा। जैसे कमरे के अंदर से कोई कहता है 'सारा सामान खाली हो गया,' तब खाली को देखने वाला तो अंदर बच गया। इसी प्रकार मूर्तामूर्त का 'नेति नेति' के द्वारा बाध करने पर बाध करने वाला अवशिष्ट रहेगा ही। एक आत्मा ही शेष रहता है। उपासना में भी जब किसी वृत्ति को नहीं बनने दिया, सारी वृत्तियाँ हट गयीं, तब केवल किसी वृत्ति को नहीं बनने देने की वृत्ति है। जब यह सविकल्पता भी अनायास सिद्ध हो गई तब 'किसी वृत्ति को नहीं बनने देना' यह भाव भी छोड़ दिया। तब सर्वथा निर्वृत्तिक अवस्था आ गई और आत्मा तो रह ही गया।

ज्ञान से फ़र्क़ यह रहता है कि ज्ञान में तो त्रैकालिक अत्यंताभाव-निश्चय होने से बाध होता है, उपासना में 'नहीं है' की अवस्था तो बन जाती है लेकिन 'नहीं था' यह नहीं बनता है। यहाँ यह याद रखना कि जिसने पहले श्रवण-मनन से समझ लिया है कि जो नहीं है वह किसी भी क्षण में नहीं है, उसी से ऐसी उपासना भी होगी। यह निश्चय ही है कि जिसकी जो जाति है वह नहीं बदलती है। परमेश्वर या ब्रह्म 'है' (सत्) जाति का है। और यह नाम-रूपात्मक संसार 'नहीं है' जाति का ही है। जो है नहीं वह दीखने-मात्र से तो 'है' जाति का नहीं हो जायेगा। ब्रह्म है, नाम-रूप नहीं है—इसका निश्चय वेदवाक्य से ही है। सिवाय माँ-बाप के वचन के कि 'तू मेरा बेटा है', और कोई प्रमाण नहीं है कि मैं इसका बेटा कैसे? इसी प्रकार वेदवाक्य के सिवाय हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि ब्रह्म है ही। वेद कहता है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' अतः ब्रह्म 'है'जाति का ही है। जिसने श्रवण के द्वारा यह निश्चय कर लिया है उसकी निर्बीज समाधि होगी तो अनात्मा कैसा भी उपस्थित नहीं होगा। किन्तु जिसने श्रवण नहीं किया है उसके अनुभव का प्रकार यही रहता है कि 'यह संसार मेरे लिए नहीं है,' परंतु यह सर्वथा किसी के लिए, कहीं भी, कभी भी नहीं है—यह निश्चय नहीं होता। 'नहीं है' का जब बार-बार अभ्यास करते हैं तब जो असंग वस्तु बच गई, इसकी बार-बार वासना बनाते हैं, बार-बार समाधि का अभ्यास करते हैं तो 'नहीं है' की वासना दृढ हो जाती है। तब तत् और त्वम् दोनों पदार्थों की उपाधियाँ नहीं हैं, यह पता लग ही गया इसलिये चिद् वस्तु एक ही है—यह निश्चय होता है। गुरु उसे तत्त्वमसि सुना चुके हैं; चूँकि दोनों की उपाधियों को वह पहले छोड़ चुका है, इसलिए 'मैं ही ब्रह्म हूँ' 'ब्रह्म ही मैं है' यह ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

यह उत्पत्ति है वाक्य से ही क्योंकि दोनों एक हैं यह सिवाय वेदवाक्य के और कोई नहीं कह सकता। वेद का वाक्य अपौरुषेय होने से नित्य है। किसी संबंध को वह नहीं कहता है, किसी देश या किसी काल से सीमित को नहीं कहता है, सब परिच्छेदों से रहित तत्त्व को वेद ही कह सकता है। वेद की अपौरुषेयता पर ज़ोर देना पड़ता है क्योंकि मनुष्य जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बात को कहेगा उसको किसी तरह जानकर कहेगा, अन्यथा तो झूठ होगा। साधनों से जानें तो उनकी सीमा ज्ञान को प्रभावित करती है। ब्रह्म तत्त्व हमेशा इन्द्रियों और मन के अतीत है, वे उसको जान नहीं सकते। तत्त्वमसि आदि पौरुषेय वाक्य हो तो अविश्वसनीय होगा। लेकिन जो पौरुषेय वाक्य नहीं है उससे प्रमा ज्ञान निश्चित हो जाता है। ॥१२७॥

निर्गुणोपासक को होने वाले तत्त्वज्ञान का स्वरूप बताते हैं–

निर्विकाराऽसङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥१२८॥

आत्मा की शास्त्रोक्त निर्विकारता, असंगता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता, पूर्णता तुरन्त बिना विवाद के बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

तत्त्वज्ञान का स्वरूप बताते हैं : ब्रह्म निर्विकार है, उसमें कभी भी किसी भी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं हो सकता। सब चीजों में तो बदलाव आता है, लेकिन 'है' में कोई बदलाव नहीं आता। सारे बदलाव 'है' में दीखते हैं, पर क्या 'है' में अब तक कोई बदलाव आया? कपड़ा है; कपड़ा जला दिया तो राख है। कपड़ा और राख बिलकुल अलग हैं। लेकिन कपड़े के 'है' और राख के 'है' में क्या कोई फ़र्क़ है? अतः 'है' सर्वथा निर्विकार है और इसीलिए असंग है, उसमें कोई चिपकाव नहीं होता। अन्य चीजों में किसी का किसी के साथ संपर्क हो जाता है जिससे कुछ असर भी छूट ही जाता है। परंतु परमात्मा के अंदर सारे संसार का संबंध प्रतीत होने पर भी उस पर किसी चीज का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह असंग नित्य स्वप्रकाश है। अन्य सब चीजों को जानने की ज़रूरत है, उसको जानने के लिए किसी की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही ज्ञान है। अपने में देख सकते हो कि 'मैं' निर्विकार है।

एक बार बड़ा भारी प्लेग रोग फैला था। पूरे गाँव मर गए, लाखों मौंते हो गयीं। एक घर के तेरह लोग थे, उनमें से एक को छोड़कर बाकी सारे मर गये। जो बच गया, वह सब मुर्दों को बैलगाड़ी में भरकर जलाने ले गया। मन में विचार किया 'इनको जलाकर मैं भी चिता में कूद कर मर जाऊँ। मैं भी जिन्दा रह कर क्या करूँगा!' अपने लिए चिता तैयार कर रहा था तो श्मशान में रहने वाला मसानिया कहने लगा 'आज जिसके घर में तेरह आदमी मरे हैं वह बड़ा सौभाग्यशाली है।' इसने सोचा यह कोई पागल आदमी होगा उससे पूछा–'यह कैसे कह रहे हो कि वह सौभाग्यशाली है?' उसने कहा–'वह करोड़पति बनेगा। पुत्र-पुत्री सबको खुश देखेगा।' आत्महत्या ऐसी चेष्टा है कि उसमें थोड़ी-सी भी रुकावट आ जाये तो फिर आदमी आत्महत्या नहीं कर सकता! जब तक नशे जैसी धुन सवार है तब तक अपने आप को मार डाले तो मार डाले, बाद में आत्महत्या नहीं कर सकता। वह मसानिये की बात सुन कर, सबको जला कर घर वापिस आ गया। सचमुच में धीरे-धीरे उसका व्यापार बढ़ने लगा और वह वास्तव में करोड़पति बन गया। वह अपनी जीवन-कथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुनाया करता था। विचार करो, जिस समय उसके घर के लोग मर गये थे तब उसे लगता था 'मैं बड़ा दुःखी हूँ' और अब उसी को नहीं लगता है कि 'मैं दुःखी हूँ'। इससे यह सिद्ध होता है कि मैं तो निर्विकार ही रहता है, असंग ही रहता है। किसी का पति मर जाये, किसी की माँ मर जाये तो दो-तीन दिन तक सर्वथा अच्छा नहीं लगता, व्यक्ति भूखा रहता है, रोता रहता है। छह महीने बाद उससे मिलने जाओ तो पहले की अपेक्षा काफी सामान्य हो चुकता है।

चाहे जितना शोक कर ले, है तो आत्मा निर्विकार और असंग ही। इसी प्रकार 'मैं' नित्य हूँ। हमें कोई समय ऐसा याद नहीं कि मैं नहीं हूँ। मैं नहीं हूँ—यह तभी जान सकते हो जब उस समय तुम हो! जैसे घड़ा नहीं है जानने के लिए तुम्हें होना पड़ेगा इसी प्रकार 'मैं नहीं हूँ'—यह तब जानो जब पहले मैं हो। किन्तु जब मैं हूँ ही तो मैं नहीं हूँ यह कैसे कहोगे? इसलिए 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव कभी भी हो नहीं सकता। दूसरे की बात से जानते हैं कि मैं नहीं था लेकिन मैं की नित्यता स्वभावसिद्ध है। मैं स्वप्रकाश है क्योंकि अपने आपको जानने के लिए मुझे किसी अन्य की ज़रूरत नहीं पड़ती। कभी कोई किसी डॉक्टर से नहीं कहता कि नाडी देखकर बताईये कि मैं जिन्दा हूँ या मर गया! मैं हूँ ही, इसलिये घोर अंधकार में भी सन्देह नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं। मैं है और यह ज्ञान भी है। मैं हमेशा एक रहता हूँ। व्याकरण में सिखाते हैं कि रामः एक वचन और रामाः बहुवचन होता है, 'घोड़ा' का बहुवचन घोड़े होता है। बहुवचन कहते हो तो मतलब है कम-से-कम तीन हैं; रामाः राम, राम और राम। इसीं प्रकार तुम का बहुवचन तुम लोग अर्थात् तुम + तुम + तुम। व्याकरण में 'मैं' के बहुवचन में 'हम' कहेंगे तो क्या वहाँ मतलब है मैं + मैं + मैं? ऐसा नहीं है। मैं के बहुवचन का अर्थ है—मैं + तुम + वह। 'मैं' अकेला ही रहता है, तुम और वह मिलकर बहुवचन 'हम' बनता है। इसलिए आत्मतत्त्व हमेशा एक ही है। किसी अन्य चीज़ का भाव न होने से वह पूर्ण है। शास्त्र ने उस तत्त्व के बारे में यह सब कहा है। जब तक यह निर्बीज अवस्था नहीं हुई थी तब तक आत्मा की निर्विकारता आदि के बारे में विवाद था, जब निर्बीज या निरोध समाधि में चले गये, वहाँ पर तो कोई शब्द, स्पर्श, गंध आदि, मन की वृत्ति इत्यादि कुछ भी नहीं रह गये इसलिए कोई विवाद नहीं रहा। तब शास्त्र की कही हुई बात अविवाद के कारण झट, तुरंत बुद्धि में आरूढ हो जाती है। इस प्रकार, निर्विकल्प समाधि से अपरोक्ष ज्ञान का उदय होना सरल हो जाता है। ॥१२८॥

निर्विकल्प समाधि से अपरोक्ष साक्षात्कार में शास्त्रीय आधार सूचित करते हैं —

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः।
एवं च दृष्टद्वाराऽपि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥१२९॥

तत्त्वज्ञान के प्रयोजन से योगाभ्यास अमृतबिन्दु आदि में विहित है। इस प्रकार दृष्ट द्वार से भी ज्ञानहेतु होने के कारण अन्य साधनों से निर्गुणोपासना बेहतर है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योगाभ्यास अर्थात् निर्विकल्प समाधि का अभ्यास ज्ञान का हेतु है यह अमृतबिन्दु उपनिषद् इत्यादि में कहा गया है। यहाँ युक्ति से सिद्ध किया और अमृतबिन्दु इत्यादि श्रुति से सिद्ध है ही। इस प्रकार वह दृष्ट द्वार और अदृष्ट द्वार दोनों से उपयोगी है। समाधि से तत्त्वज्ञान में सुविधा अनुभवसिद्ध भी है और शास्त्रीय विधि होने से, कथंचित् इस जन्म में ज्ञान न हुआ तो जन्मान्तर में समाधि सफल होगी। इस प्रकार युक्ति और प्रमाण दोनों मिलने के कारण यह सिद्ध होता है कि बाकी जितने सगुण आदि ध्यान हैं उनकी अपेक्षा निर्गुण ध्यान श्रेष्ठ है। शास्त्र से तो पता चलता है कि सगुण ध्यान भी निर्गुण ज्ञान को दे देता है। जैसे गीता में भगवान् ने कहा कि 'जो इस प्रकार से मेरी आराधना करता है उसे 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'। जब मैं उसके ध्यान-पूजा से प्रसन्न हो जाता हूँ तब उसे आत्मज्ञान दे देता हूँ।' सगुण ध्यान से निर्गुण ज्ञान हो जाता है, यह बात शास्त्रसिद्ध तो है, लेकिन इसमें युक्ति नहीं दे सकते कि सगुणध्यान से निर्गुणज्ञान क्यों होगा? जिस प्रकार भैंस को जानने से गाय का ज्ञान नहीं हो सकता वैसे ही सगुण-ध्यान से निर्गुण का ज्ञान कैसे होता है? युक्ति से वह सिद्ध नहीं होता लेकिन शास्त्र से मान्य है। निर्गुण ध्यान से ज्ञान की प्राप्ति होती है यह शास्त्रसिद्ध तो है ही, परंतु युक्तिसिद्ध भी है यह उसकी विशेष श्रेष्ठता है। ॥१२९॥

चूँकि निर्गुण ध्यान इतना श्रेष्ठ है इसलिए–

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम्।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥१३०॥

निर्गुणोपासना की उपेक्षा कर तीर्थ-यात्रा, जप आदि ही करने वालों पर 'मिठाई, फैंक कर हाथ चाटना' यह कहावत चरितार्थ होती है।

चूँकि यह ध्यान युक्ति, शास्त्र आदि सबसे सिद्ध है इसलिये इससे परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उसको छोड़कर, उसकी उपेक्षा करके कि 'निर्गुण ध्यान बड़ा झंझट का काम है, कौन करे! इससे अच्छा तो तीर्थयात्रा करो, बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि तीर्थों में जाओ,' आदि अन्य साधन करना निकृष्ट ही है। कहीं तो परमात्मा मिल ही जायेगा मानकर कुछ लोग तीर्थयात्रा करते हैं। अन्य लोग जप करते हैं कि इतने करोड़ जप कर लेंगे तो शायद कुछ हो जायेगा। और भी अनेक साधन हैं, उनको ही करते हैं। अन्य साधनों को करते हुए निर्गुण उपासना करते हैं तो फिर ठीक है क्योंकि ये सब अंतःकरण की शुद्धि का साधन बन जायेंगे। परंतु परमेश्वर की उपासना को *छोड़कर* केवल ये ही साधन करते रहे, तो अनुचित है। आजकल कुछ लोग तीर्थयात्रा, जप आदि नहीं करते, कहते हैं कि कंगलों, कोढ़ियों की सेवा करो, बिना माँ-बाप वालों की सेवा करो, यह सब ही परमेश्वर की सेवा है, इनसे ही कल्याण हो जायेगा। ऐसे लोग तो और भी ज़्यादा परमेश्वर से दूर ले जाने वाले हैं। यह सब मत करो–ऐसा हम लोग नहीं कहते, परंतु यह सब करने के साथ परमेश्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की उपासना ज़रूर करो क्योंकि उससे तुम्हारा मन शुद्ध होकर परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी। जो समर्थ होकर भी निर्गुणोपासना नहीं करता उसके लिए कह रहे हैं : तुम्हारे हाथ में किसी ने रसगुल्ला रखा। तुमने कहा कि रसगुल्ले को क्या खाना, उसे तो गिरा दिया; लेकिन मीठा तुम्हें अच्छा लगता है इसलिए रसगुल्ला फैंककर हाथ को चाटते हो क्योंकि हथेली पर थोड़ा-सा मिठास रह जाता है! इसी प्रकार मनुष्य-शरीर में आकर परमात्म-ध्यान प्रधान है, और उसे कर भी सकते हैं। लेकिन उसे छोड़ दिया और थोड़ी-बहुत अंतःकरण की शुद्धि करने वाले काम करते हैं। यह तो रसगुल्ले को फैंककर हथेली को चाटने जैसी बात हो रही है। ॥१३०॥

तत्त्वज्ञान के साक्षात् हेतुभूत विचार की बजाये निर्गुणोपासना भी पूर्वोक्त कहावत चरितार्थ करती है, यह समझाते हैं–

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि।
बाढं तस्माद् विचारस्याऽसंभवे योग ईरितः ॥१३१॥

विचार छोड़कर उपासना करने वालों की भी वैसी ही स्थिति यदि कहो तो ठीक बात है। इसीलिये विचार सम्भव न रहने पर योग का विधान है।

हमारे यहाँ साधनों को करने का क्रम बताया है। जो जितना कर सके वह उतना करे। कर सकने की योग्यता होने पर नहीं करता है तो दोष का भागी है। जो विचार करने की सामर्थ्य वाला है, वह यदि विचार *छोड़कर* ध्यान करे तो दोष का भागी है। परंतु सभी विचार करने की सामर्थ्य वाले नहीं होते, वे ध्यान करें। ठीक इसी प्रकार बहुत-से लोग सगुण ध्यान कर ही नहीं सकते। उनकी समझ में ही नहीं आता कि परमेश्वर क्या है। वे लोगों की सेवा करें तो कभी न कभी उनकी समझ में भी आ जायेगा। अनेक लोग यह भी नहीं कर सकते। बहुत से लोग घुमक्कड़ होते हैं, घूमने का ही काम करते हैं। जिसका स्वभाव घूमने का होता है, वह घूमने से चूक नहीं सकता। उससे शास्त्र कहता है कि जाना ही है तो तीर्थ करने जाओ। प्राचीन परंपरा थी कि कहीं जाते थे तो कोई न कोई तीर्थ सामने रखते थे। भले ही जा कलकत्ते रहे हो लेकिन काली जी के दर्शन करने जाना है अथवा गंगा-सागर जाना है यह सोचोगे तो उसके कुछ-न-कुछ संस्कार मन में आयेंगे। इसलिए नियम है कि श्रेष्ठ साधन का त्याग न करे। जिसके लिए विचार करना संभव नहीं है उसीके लिए योग को बताया गया है, विचार में समर्थ उसे छोड़कर योग करे यह शास्त्र में नहीं कहा है। इसीलिए महर्षि वसिष्ठ ने कहा है कि योग व ज्ञान दोनों मार्ग हैं लेकिन कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनसे समाधि का अभ्यास नहीं होता और कुछ लोग होते हैं कि चाहे जितना युक्ति से विचार कर लें उनको निश्चय होता ही नहीं है। जिसके लिए विचार करना संभव नहीं है उसके लिए योग कहा गया है। ॥१३१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचार में कठिनाई क्या है इसे संक्षेप में व्यक्त करने के लिये विचार क्यों असम्भव हो जाता है यह बताते हैं–

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात् तत्त्वधीर्न हि।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१३२॥

जिन साधकों का चित्त अधिक अशान्त है उन्हें विचार से तत्त्वनिश्चय नहीं होता अतः उनके लिए योग (निर्गुणोपासना) मुख्य उपाय है जिससे बुद्धिगत प्रमाद नष्ट हो जाता है।

जिनका चित्त बहुत व्याकुल है वे विचार में अधिकारी नहीं। व्याकुल-शब्द का अर्थ यहाँ व्यग्र समझना। जिसके पास बहुत से काम एक-साथ उपस्थित हों उसका चित्त हमेशा व्यग्र रहता है। आज माँ की तबीयत खराब है, कल पत्नी की तो फिर बच्चों की तबीयत खराब हो जाती है। तब तक चिट्ठी आ जाती है कि साले की तबीयत खराब हो गई! इसी प्रकार, व्यापार सम्भालते रहना पड़ता है। कभी चीज़ का भाव बढ़ता है तो उसकी उपलब्धि नहीं होती, कभी माल बढ़े हुए भाव में आ जाता है, इत्यादि एक के बाद एक कार्य लगा ही रहता है तो चित्त व्याकुल रहना ही है। साधारण भाषा में कहते हैं कि एक जगह से कपड़ा सिया तो तेरह जगह से फट गया! गृहस्थ जीवन प्रायः इस प्रकार का होता है। अन्यथा भी चित्त व्याकुल हो सकता है, परंतु प्रायः गृहस्थियों का चित्त रहता व्याकुल है। ऐसे लोग चाहे जितना विचार करें, उनकी ब्रह्माकार वृत्ति बनती ही नहीं है, उन्हें तत्त्वनिश्चय हो नहीं पाता। इसलिए उनके लिए मुख्य यही है कि वे योग का अभ्यास करें, चित्तवृत्ति का निरोध करें तो कम-से-कम समाधि की अवस्था में जब उन्हें निर्विकार तत्त्व की प्रतीति होगी तब पहले पढ़े हुए शास्त्र का अर्थ उनके सामने स्पष्ट होने लगेगा। अभी तो एक के बाद एक चिंता लगी है। दुःख हो तो व्यग्रता, सुख हो तो भी व्यग्रता। जैसे आज अमुक का जन्मदिन है तो सोचते रहेंगे कि भेंट क्या दें! इसलिए व्यग्रता बनी ही रहती है कि कोई न कोई झंझट लगा ही रहता है। ऐसी स्थिति में विचार से तत्त्वबुद्धि होती ही नहीं है। विचार तो सब समय करना पड़ता है और योग का अभ्यास सवेरे-शाम दो घण्टे भी कर लो तो लाभप्रद हो सकता है। योग करने से क्या होता है? उससे धीदर्प अर्थात् बुद्धि की व्यग्रता नष्ट हो जाती है। ॥१३२॥

विचार में कौन अधिकारी यह बताते हैं–

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम्।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥१३३॥

सिर्फ मोह से जिनका चित्त आवृत है, बुद्धि जिनकी व्याकुल नहीं है, उन्हें 'सांख्य' कहलाने वाला विचार शीघ्र सिद्धि प्रदान करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिनको वैसी व्यग्रता नहीं है, न पत्नी की चिन्ता, न बच्चों की और न दुकान की झंझट है, प्रायः ऐसे लोग संन्यासी होते हैं। और भी कई हैं, लेकिन प्रायः संन्यासी को ऐसी कोई झंझट नहीं रहती। उन्हें आत्मज्ञान में रुकावट केवल अज्ञान से है। अज्ञान का ही आवरण है क्योंकि विक्षेप है नहीं, स्वभाव से वहाँ विक्षेप का कोई कारण नहीं है। अज्ञान का आवरण है अर्थात् आत्मा का तत्त्व क्या है यह उन्हें पता नहीं है। उतने-मात्र से जिनका आत्मा आच्छादित है, उनके लिए विचार ही मुख्य है। क्योंकि उन्हें दिन भर के लिए कोई दूसरी व्यग्रता तो है नहीं इसलिए हर समय, हर परिस्थिति में उनका विचार जागरूक रहेगा। इसलिए संन्यासी के लिए तो माना कि वह भिक्षा करने भी जाये तो रास्ते में ॐकार का चिन्तन करता जाए। उसके लिए आत्मविचार ही मुख्य उपाय है। उसके लिए योगाभ्यास पर्याप्त नहीं रहेगा। विचार की विशेषता यह है कि जैसे ही संशय दूर होता है वैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति झट बन जाती है। विचार को शास्त्रकारों ने सांख्य नाम से कहा है। सांख्य का अर्थ है 'सम्यक् ख्यायते ज्ञायते इति' जिससे किसी चीज़ को ठीक प्रकार से, वह जैसी है वैसा जान लिया जाता है, वह सांख्य बुद्धि है। परवर्ती काल में सांख्य शब्द का प्रयोग कपिल ऋषि के दर्शन के लिए अधिक होने लगा। परंतु मूलतः सांख्य का मतलब केवल यह है कि जहाँ भली प्रकार से ज्ञान कराया जाये। संन्यासी को चूँकि विक्षेप है नहीं, केवल आवरण है इसलिये विचार से जैसे ही उसके संदेह दूर हुए वैसे ही तत्त्वज्ञान में स्थिर हो जाता है। ॥१३३॥

यह बात स्वयं भगवान् ने गीता में (५.५) कही है यह याद दिलाते हैं–

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१३४॥

सांख्यों (विचारकों) को मिलने वाला स्थान ही योगियों को मिलता है अतः सांख्य व योग को एक समझना ही ठीक है।

सांख्य अर्थात् विचारमार्ग के द्वारा जिस पद की प्राप्ति होती है, वही पद योग से भी प्राप्त होता है। इस प्रकार, सांख्य और योग दोनों एक ही काम को सिद्ध करने वाले हैं। अतः सांख्य व योग दोनों को एक समझने वाले उसी सच्ची बात को देखते हैं, शास्त्र के अर्थ को ठीक समझते हैं। तात्पर्य है कि औपनिषद विचार सांख्य शब्द का एवं निर्गुण-उपासना योग शब्द का मुख्य अर्थ है, अन्य तात्पर्य गौण हैं। ॥१३४॥

स्मृति की तरह श्रुति में (श्वे. ६.१३) भी यही बात कही है–

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः।
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥१३५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह कारण तत्त्व सांख्य-योग से अधिगम के योग्य है ऐसा श्रुतिवचन प्रसिद्ध है। सांख्य और योग नाम से प्रसिद्ध शास्त्रों में जो तो श्रुति से विरुद्ध है वह सब अवास्तविक है।

श्वेताश्वतर की श्रुति का भाग उद्धृत है। इस सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला अभिन्न निमित्तोपादान कारण एक ब्रह्म ही है। वेदांत को छोड़कर संसार में दूसरे सब कहते हैं कि बनता कुछ है, बनाता कोई और है। परमेश्वर बनाने वाला है—यह तो सभी ईश्वरवादी मानते हैं। लेकिन किन्हीं परमाणुओं से बनाया, कोई प्रकृति थी उससे बनाया आदि मानते हैं। आधुनिक काल में भी सृष्टि किसी अनादि तत्त्व से ही संभावित करते हैं, भले ही उसे अचेतन मानते हैं। कुछ उपादान था और भगवान् ने कार्य बनाया—यह तो सभी ईश्वरवादी मानते हैं, वेदान्त कहता है कि परमेश्वर ने सारी ही दुनिया को बनाया। कार्य और ईश्वर से स्वतंत्र उपादान मानने वाले ईश्वर को सर्वकर्त्ता नहीं समझा पाते क्योंकि उपादान के प्रति वे उसे कर्त्ता नहीं मानते। यदि कुछ चीज़, परमाणु या प्रकृति, ऐसी है जो बिना ईश्वर के बनाये हो सकती है तो सारी दुनिया भी बिना ईश्वर के बनाये हो सकती है! इसलिए वेदांती कहता है कि *सब कुछ* परमेश्वर ने ही बनाया। उसकी सामग्री भी वह खुद ही है। प्रायः कहते हैं कि ऐसा तो कहीं देखा नहीं जाता कि जो बनाये वही खुद बने, किसी न किसी उपादान से कोई न कोई कार्य बनाता है और बनाने वाला भी होता है। किन्तु विचार करो, तुम हर तीसरे दिन अपनी दाढ़ी और सिर के बाल बनाते हो, उसके लिये कच्चा माल तुम कहाँ से लाते हो? दाढ़ी-बाल तुम ही बनाते हो और तुम ही बन भी जाते हो। वेद कहता है कि जैसे बाल और रोयें एकमात्र तुमसे ही बनते हैं, वैसे ही यह सारा विश्व उस परब्रह्म परमात्मा से ही बना है। उसे जानने के दोनों उपाय बताये—सांख्य अर्थात् ठीक प्रकार से विचार और ठीक प्रकार से ध्यानयोग।

कपिल और पतंजलि के शास्त्रों को लोक में सांख्य और योग कहते हैं। उनमें अनेक मान्यतायें श्रुतिविरुद्ध हैं। सांख्यवादी जगत् का कारण परमेश्वर या पुरुष से भिन्न प्रकृति को मानता है। योग दर्शन भी प्रकृति को ईश्वर से अलग मानता है। इसी प्रकार अन्य अनेक चीज़ें उन्होंने कल्पित कर रखी हैं। सांख्य व योग में कपिल और पतंजलि ने कुछ बातें श्रुति के अनुकूल भी कही हैं, कुछ विरुद्ध कही हैं। विरुद्ध बातें गलत हैं, सही स्वीकार्य हैं। नास्तिक दर्शन वाले तो वेद की बात काटने में ही लगे रहते हैं। आस्तिकों में पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा वालों का कहना है कि हम शास्त्र को ही मानेंगे, उसे समझने के लिए तो युक्ति का विचार करते हैं। परंतु शास्त्र ने गलत कहा या ठीक कहा—यह विचार नहीं करते। शास्त्र ने ठीक ही कहा है यह स्वीकार कर उसके लिए युक्ति सोचते हैं। दूसरे आस्तिक—नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग भी श्रुति को मानते हैं लेकिन कहते हैं कि युक्ति से जो समझ में आये उस बात को वेद कहे तो यथावत् मानो लेकिन जिसमें युक्ति न मिले, वेद की उस बात का खण्डन मत करो, केवल थोड़ा जोड़-घटाकर अर्थ कर दो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वे कभी वेद का खण्डन नहीं करते इसीलिए आस्तिक हैं; क्योंकि वेद को नहीं मानने वाला नास्तिक है, वेद को मानने वाला आस्तिक है। ईश्वर को नहीं माने तो आपत्ति नहीं है, लेकिन वेद को जो नहीं माने, उसे आस्तिक नहीं मान सकते। आस्तिक तो हैं, लेकिन केवल वेद में कही हुई बात को ही मानना—ऐसा नियम वे नहीं मानते। इसलिए इन लोगों के मत में बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो श्रुति से विरुद्ध हैं। चूँकि विचार किया है इसलिए दर्शनको सांख्य नाम से कह देते हैं, तथा जहाँ ध्यान बताया है उसे योग कह देते हैं। लेकिन वे सच्चे सांख्य-योग नहीं हैं। सच्चा सांख्य या योग वही है जो वेद ने बताया है। वेद के वाक्यों का युक्तिपूर्वक विचार सांख्य है और वेद ने जिस परमात्मा को कहा है उसका ध्यान करके साक्षात्कार करना योग है। ॥१३५॥

श्वेताश्वतर उपनिषद्, ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् आदि श्रुति और भगवद्गीता आदि स्मृति के द्वारा सांख्य और योग अर्थात् ज्ञान, विचार और चित्तनिरोध का अभ्यास—ये दोनों ही साधन आत्मज्ञान का कारण बनते हैं। ज्ञान का तो दृष्ट फल है, इसलिए यहीं अपरोक्ष अनुभव हो जाता है तो निश्चित पता लग जाता है कि अज्ञान नष्ट हो गया इसलिए मोक्ष अवश्यम्भावी है। ज्ञान के अंदर तो यह प्रश्न नहीं उठता कि आगे क्या होगा। परंतु उपासना में यह प्रश्न जरूर होता है क्योंकि उपासना का यहीं मोक्षरूप फल होता हो, यह बात निश्चित तो है नहीं। यह पता नहीं लग सकता है कि हमारी उपासना पूरी तैयार है जिससे मोक्ष ज़रूर हो जायेगा, क्योंकि उपासना का फल यहाँ अर्थात् दृष्ट नहीं है। यदि कोई व्यक्ति उपासना करता रहा, तत्त्वज्ञान हुआ नहीं, इहलोक के सुख तो उपासक के पहले ही गये क्योंकि उपासक का, बाकी तो छोड़ो, पेट भी पूरी तरह नहीं भर सकता! शास्त्र में ऐसा ही कहा गया है कि आधा पेट खाओ, एक-चौथाई पानी के लिए और एक-चौथाई हवा के लिये खाली रखो। इसलिए भोजन का सुख उसने छोड़ा। नींद का सुख भी छोड़ा क्योंकि भगवान् ने कह दिया कि और लोग जब सोते रहें तब तुम जगते रहो, और लोग जब जगते हों तब तुम सोओ! अपरिग्रही है, पास में कोई विषय भी नहीं है जिनका कुछ भोग करे। योगी के लिए सारे ऐहिक सुखों के द्वार बंद ही हैं, इसलिए इहलोक तो गया, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। ज्ञान हुआ नहीं इसलिए मोक्ष भी होगा नहीं; कर्म छोड़ दिये, इसलिए स्वर्ग आदि भी नहीं होंगे। संसारी का परलोक गया पर यहाँ के सुख भोग लेता है, कर्मी को इहलोक का पूरा सुख तो नहीं मिलता, परंतु परलोक जायेगा तो वहाँ का सुख भोग लेगा। परंतु निर्गुणोपासक की स्थिति क्या बनेगी? इसका उत्तर देते हैं—

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६॥

इस जन्म में जिसकी उपासना पर्याप्त दृढ नहीं भी हुई, मर जाने पर वह अन्य जन्म में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या ब्रह्मलोक में परमार्थ तत्त्व का साक्षात्कार पाकर मुक्त हो ही जाता है।

('नातिपक्वं' पाठान्तर है।) ज्ञान तो सम्भव था नहीं, उपासना भी पकी नहीं; 'अपि' से कर्म भी समझ सकते हैं अर्थात् प्रधानतः उपासना में तत्पर रहने से स्वर्ग आदि उत्कृष्ट लोक देने वाले कर्म भी किये नहीं। वह मरने पर जिस योग्य देह में पहुँचेगा वहाँ आगे साधना सम्भव होगी यह गीता आदि से समर्थित है। यदि अपक्व किन्तु पर्याप्त गम्भीर हो गयी तो उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मलोक प्राप्त होता है जहाँ ब्रह्मा जी के उपदेश से तत्त्वबोध सुलभ है। 'ब्रह्मलोक' से इष्ट का लोक समझना चाहिये। ऐसे स्थलों में सगुण ब्रह्म के लिये ब्रह्म शब्द आता है, गुणमूर्ति अर्थात् चतुर्भुज ब्रह्मा जी के लिये नहीं। जैसे पृथ्वी लोक तो एक ही पर भौगोलिक भेद से स्थितियाँ भिन्न हैं अतः वर्णनों में भेद रहेगा ही वैसे ब्रह्मलोक एक होने पर भी इष्टभेद से वहाँ के वर्णन विभिन्न मिलते हैं; वैकुण्ठ, कैलास, मणिद्वीप आदि के बारे में बतायी बातें अलग-अलग हैं पर चर्चा एक ही लोक की समझनी चाहिये जैसे भारत, अफ्रीका, चीन, यूरोप के वर्णन सर्वथा अलग होने पर भी हैं सब पृथ्वी के ही वर्णन। लोक 'दर्शन' को कहते हैं। अंग्रेजी में इसी को look कहते हैं। जहाँ हमेशा सगुण ब्रह्म के दर्शन होते रहते हैं वह ब्रह्मलोक है। मनुस्मृति में लिखा है कि वहाँ जाकर कल्पांत में ब्रह्मा जी उपदेश देते हैं। महाप्रलय में जब ब्रह्मा जी अपने स्वरूप में लीन होते हैं, तब उनके साथ, इस उपासना के द्वारा उनके लोक में गये हुए जितने उपासक हैं वे सब मुक्त हो जाते हैं। यह ख्याल रखना कि ब्रह्मलोक में जाने वाले भी दो तरह के साधक हैं। अश्वमेध आदि कुछ ऐसे कर्म बताये हैं जिन्हें करके भी ब्रह्मलोक में जाते हैं और दूसरे इस योगाभ्यास से अर्थात् सगुण की उपासना करके जाते हैं। जो कर्म करके गये हैं वे तो वापिस आ जाते हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती पर जो परमेश्वर की उपासना करके गये हैं उनकी कल्पान्त में मुक्ति होती है। सगुण ब्रह्मलोक में जो उपासना करके गये हैं वे तो वापिस नहीं आते, जो कर्म करके गये हैं वे वापिस आ जाते हैं। ब्रह्मलोक में पहुँचे भी लेकिन भगवान् की उपासना नहीं की तो वापिस आना पड़ता है। उपासकों को ब्रह्मा के उपदेश से तत्त्वज्ञान हो जाता है और उस तत्त्वज्ञान से वे मुक्त हो जाते हैं।

'वा' से विकल्प करते हैं : किसी का ध्यान लगभग पक गया है, थोड़ी कमी है तो मरणकाल में जब शरीर का त्याग होता है तब वह ध्यान पक जाता है। ध्यान को रोकने वाली कोई न कोई चंचलता आदि होती है; मरने के साथ ही उस रुकावट का संबंध तो टूट ही गया अतः ध्यान पूरा पक जाता है। शरीर छूटने के साथ उस रुकावट का त्याग हो गया, और कोई प्रतिबंधक था नहीं अतः मरने के झटके में ही ज्ञान हो जाता है। ॥१३६॥

ब्रह्मलोक की बात उपनिषद् में आ गई, गीता (८.६) में कह दिया कि मरणकाल में कैसे हो जाता है। प्रायः करके मरणकाल में इसलिए नहीं होता कि अनेक चीज़ें उस समय मन में उपस्थित रहती हैं, भगवान् ही वहाँ उपस्थित नहीं होते। लेकिन उपासक ने तो इतनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दृढतर उपासना कर ली है कि इष्ट ही उस समय उसके सामने रह जाता है। बेहोशी की अवस्था में मनुष्य की वास्तविकता का पता लगता है। प्रसिद्ध और प्रकाण्ड विद्वान् अप्पयदीक्षित भगवान् शंकर के परम भक्त थे। उन्होंने जन्मभर उपासना की, बड़े-बड़े कर्म किये, अनेक सोमयाग किये, सौ जगह वेद-पाठशालायें खोलीं। एक बार उन्हें विचार आया कि मेरे मन में परमात्मा के दृढ संस्कार आये हैं या नहीं इसका पता लगाना चाहिए। चेलों से पहले कह दिया कि 'आज मैं खूब बड़बड़ाऊँगा, जो बोलूँ वह तुम लोग लिखते जाना।' भाँग पीने के बाद खूब नशा चढ़ा तो बड़बड़ाने लगे। उस बड़बड़ाहट में उन्होंने भगवान् शंकर की प्रशंसा में बड़ा सुंदर स्तोत्र गाया! शिष्यों ने उसे पूरा लिख लिया। उस नशे में भी और कोई बात उनके मन में आई ही नहीं। बाद में उनके चित्त में बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब मन में संसार की कोई बात नहीं है। वही स्तोत्र 'आत्मार्पण-स्तुति' नाम से प्रसिद्ध है। मन में जो दृढ वासना प्रविष्ट होती है वही अंतिम समय में प्रकट होती है। इसलिए भगवान् ने गीता में जो कहा है उसे उद्धृत कर मरणकाल की भावना का महत्त्व प्रकट करते हैं–

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥१३७॥

'जिस-जिस भी भावको अन्त में याद करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है' (गी. ८.६), '(मरते समय) जैसा चित्त (संकल्प) होता है, तदनुरूप प्रयाण करता है' (प्रश्न. ३.१०) इत्यादि शास्त्र से (उपासना मरणद्वारा भी सार्थक कही गयी है)।

जिस-जिस चीज़ को तुम अंतिम काल में स्मरण करोगे उसे पाओगे। अंत में अर्थात् जब शरीर छूटता है, तब जो वृत्ति बनती है। लोक में भी कहते हैं कि 'अंत मति सो गति।' अंतिम समय में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हैं मरने के बाद उसी-उसी भाव को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् ने वहाँ उसका कारण भी बता दिया 'सदा तद्भावभावितः' क्योंकि हर समय उसके सिवाय दूसरा चिन्तन किया ही नहीं है, सदा उस भाव से भावित रहा है। ऐसा नहीं है कि रोज़ दो घण्टे ध्यान करे तो मरते समय ईश्वरध्यान हो जायेगा! जब निरंतर उसी की भावना करोगे तब उसकी वृत्ति ऐसी दृढ होगी कि अंतिम समय में भी वही वृत्ति बनकर उसी भाव को प्राप्त होगे। प्रश्नोपनिषत् कहती है 'यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।' जिस निश्चय को अर्थात् दृढ संस्कारों और वासनाओं को प्राप्त कर लेता है उसके द्वारा ही प्राण खींच कर ले जाये जाते हैं। इस प्रकार, श्रुति और स्मृति दोनों ने यह बात कही है। अंतिम काल की वृत्ति सफल हो जाती है। चूँकि इस साधक ने निर्गुण ब्रह्म का ध्यान किया है, इसीलिए वह निर्गुण ब्रह्म को जाता है अर्थात् उसका मोक्ष हो जाता है, यह एक ही बात है केवल कहने का ही फ़र्क़ है। या तो यहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्गुणोपासक को तत्त्वज्ञान हो जाता है अथवा मरण-काल में अंतिम वृत्ति बनने से मुक्ति हो जाती है। ये दोनों भी नहीं होते तो वह अपने इष्टदेव के लोक को प्राप्त कर जाता है। ॥१३७॥

प्रश्न उठता है कि दर्शित वचन अन्तिम वृत्ति के अनुसार भावी जन्म की प्राप्ति ही कहते हैं, उससे मोक्ष कैसे बता रहे हैं? उत्तर देते हैं–

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात् सगुणोपासने यथा ॥१३८॥

आखिरी वृत्ति से भविष्य का जन्म निश्चित है तो जैसे सगुण की उपासना से मरते समय सगुण आकार की वृत्ति अवश्य बनेगी वैसे निर्गुण की उपासना से निर्गुण के आकार की वृत्ति भी अवश्य बनेगी।

जैसे सगुणोपासना करने वालों को अंतिम समय में सगुण की प्रतीति होगी, उसी प्रकार निर्गुणोपासक को भी निर्गुण का ज्ञान या प्रतीति होगी। चाहे सगुण की हो, चाहे निर्गुण की हो और चाहे कोई वैषयिक हो, जो भी अंतिम वृत्ति है उससे ही भावी जन्म का निर्णय होता है। अगला जन्म क्या होगा–यह इसपर निर्भर करता है कि हमारी अंतिम वृत्ति क्या बनी। अंतिम वृत्ति क्या बने, इसका निर्णायक होता है कि हमने किस चीज़ की सदा भावना की है। अधिकतर लोग चूँकि सदा तद्भाव-भावित होते नहीं हैं, इसलिये उन्हें कई प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं। उनमें से कौन-सी प्रतीति अंत में होगी, इसका कोई ठिकाना नहीं है, कोई निश्चित नहीं कह सकता। महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है: एक बड़े भारी उपासक योगी थे, उन्हें निश्चित पता था कि उन्हें इष्ट-लोक को ही जाना है। योगी थे, इसलिए उन्हें मरने का काल भी पता था। उन्होंने शिष्यों से कहा 'तुम लोग जब मेरे शरीर को गंगा जी में डालोगे तब आकाश से फूल बरसेंगे और देवता लोग दुंदुभि बजायेंगे। तब समझ लेना कि मैं मुक्त हो गया, नहीं तो समझना कि गड़बड़ हो गया।' शिष्यों की तो आदत होती है प्रचार करने की। गुरु जी ने तो मना किया था कि वह बात किसी को मत बताना पर जब गुरु जी का शरीर छूटा तो शिष्यों ने गाँव में सब लोगों को खबर करवा दी 'आज गुरु जी का शरीर गंगा जी में डालेंगे, आप लोग आकर चमत्कार देखना।' भगवान् तो नटखट हैं ही! गंगा-किनारे बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई। लोगों ने मिलकर उन्हें गंगा जी में डाला लेकिन शिष्यों ने जैसी घोषणा की थी, उसके अनुसार न आकाश से फूल बरसे, दुंदुभि तो क्या, कहीं से गधे की आवाज भी नहीं आई! सब शिष्यों का चेहरा फीका पड़ गया। लोग भी कहने लगे कि ऐसे कोई चमत्कार नहीं हुआ करते। शिष्य उदास थे।

चार-छह महीने बाद दिवंगत स्वामी जी के एक गुरुभाई उधर से निकले। उन्होंने देखा कि सारे आश्रम में उदासीनता पसरी है, शिष्य ढीले पड़ गये हैं। पूछा तो शिष्यों ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहा—गुरु जी चले गये। उन्होंने कहा—'यह तो शरीर का धर्म है, तुम लोग साधना में लगे रहो, ऐसे दुःखी नहीं होना चाहिए, ऐसे दुःखी तो गृहस्थ लोग हुआ करते हैं।' तब शिष्यों ने सच्ची बात बताई 'शरीर छोड़ने से पहले गुरु जी ने ऐसा-ऐसा कहा था। उन्होंने तो वह बात किसी को भी बताने को मना किया था। लेकिन हमने सोचा कि लोग गुरु जी का चमत्कार देखेंगे तो उनका कल्याण होगा, अतः हमने सब जगह प्रचार कर दिया। लेकिन कुछ हुआ नहीं। गुरु जी की बात झूठी तो होनी नहीं चाहिए। जब गुरु जी की सद्गति नहीं हुई तो चेलों की क्या गति होनी है! इसलिए हम सब उदास हो गये। दुःख तो है ही, लेकिन सारी दुनिया में बदनामी हो गई, इसका दुःख ज्यादा है।' उन्होंने भी सोचा कि गुरुभाई थे तो सिद्ध, उनकी कही बात झूठी नहीं होनी चाहिए। विचार करते रहे कि आखिर उनके मन में ऐसी क्या अंतिम वृत्ति हो सकती थी? अंत में उन्होंने शिष्यों से पूछा 'अंतिम समय में हमारे गुरुभाई कहाँ लेटे थे, मुझे वह जगह दिखाओ, उनका मुँह किधर, किस दिशा में था?' जब उस जगह पहुँचे और उसी स्थिति या उस कोण से देखा तो ठीक सामने एक मटकी लटकी थी। वह मटकी मँगाकर उसके अंदर देखा तो एक बेर (फल) पड़ा था। उसे निकाला और उन लोगों के देखते-देखते उनके सामने ही वह बेर तोड़ दिया। देखा कि उसमें एक सफेद मोटी लट कुलबुला रही थी। उन्होंने चेलों से कहा—'यह तुम्हारे गुरु जी हैं'। सब आश्चर्य में पड़ गये कि यह कैसे हो गया! तब उनसे कहा 'अब फिर सब लोग गंगा जी चलो।' वहाँ जाकर जैसे ही उस कीड़े को गंगा जी में डाला वैसे ही आकाश में दुंदुभि बजने लगी और फूल भी बरसने लगे। अब सब चेलों का चेहरा खिल गया। लेकिन कुछ समझ में नहीं आया कि गुरु जी वह लट कैसे बन गये?

तब गुरुभाई ने चेलों से कहा 'मैंने खूब विचार किया कि उनके मन में संसार की कोई वृत्ति तो हो नहीं सकती थी। इसलिए मैंने उसी जगह लेट कर देखा तो वह मटकी नजर आ गई। मैंने सोचा कि गुरुभाई को भी अंतिम समय में स्वभाव से वह मटकी ही सामने दीखी होगी तो उसमें पड़ी हुई कुछ चीज़ की याद आई होगी। इसलिए मैंने वह मटकी मँगाकर देखा तो उसमें कोई रुपया-पैसा या गहना तो था नहीं। एक बेर फल ही था जिसमें उन के मन की अंतिम वृत्ति अटक गई। मैं समझ गया कि गुरुभाई उस शांत लट के रूप में तृप्त थे। कोई इच्छा तो उनके मन में थी नहीं लेकिन यह वृत्ति बन गई कि मटकी में बेर बहुत अच्छा है वह खाने को मिल जाये तो बहुत अच्छा है, और वही मरने का अंतिम क्षण था। जब उस बेर की स्मृति आ गई तो उसे खाने के लिए लट होना पड़ा। जब उसे गंगा जी में डाला तो वह अपने इष्ट-लोक को चले गये।' विचार करो, एक क्षण को बेर भी याद आ गया तो क्या हाल हो गया और हम लोगों को अंतिम क्षण में कितने बेर याद आ जायें, क्या ठिकाना है! जो अंतिम प्रत्यय अथवा वृत्ति होती है उससे निश्चित ही भावी जन्म हो जाता है। जिसकी अंतिम क्षण में निर्गुण की वृत्ति होगी उसे निर्गुण की प्राप्ति होगी और जिसको सगुण की प्रतीति होगी उसे सगुण ईश्वरभाव की प्राप्ति होगी। ॥१३८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्गुण भाव की प्राप्ति ही मोक्ष है यह स्पष्ट करते हैं–

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम्।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥१३९॥

ब्रह्म सदा निर्गुणस्वरूप है (अतः उस स्थिति को) कहने के लिये 'निर्गुणभाव की प्राप्ति' भले ही कहा जाये, अर्थात् यह मोक्ष ही है। जैसे संवादी होने पर भ्रम केवल नाम है, (व्यवहारतः प्रमा ही है वैसे उपासनाजन्य होने पर भी निर्गुण-स्वरूपता मोक्ष ही है)।

परमात्मा का जो निर्गुण रूप है वह नित्य है, इसलिए उसकी जो वृत्ति बनेगी उससे नित्य निर्गुण की ही प्रतीति होगी। नित्य निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। तत्त्वमसि आदि वाक्य का बल ही ऐसा है कि वृत्ति बन जाती है, निर्गुण का ज्ञान हो जाता है। जो चीज़ बिलकुल नहीं हो, उसके लिए भी शब्द बोला जाता है तो कुछ भान हो ही जाता है। शब्द किसी अर्थ का ज़रूर भान करायेगा। जैसे तुमने किसी से कहा–'तू गधा है।' तो सुनते ही उसको पहले भान होगा कि मैं गधा, लेकिन तभी उसको याद आ जायेगा कि गधा चार पैर वाला होता है और रेंकता है। मैं चार पैर का नहीं हूँ ओर रेंकता भी नहीं हूँ, इसलिए मैं गधा कैसे हो सकता हूँ! तब लक्षणा करेगा कि गधा बेवकूफ होता है, इसलिए यह मुझसे कह रहा है कि मैं बेवकूफ हूँ। लक्षणा तुम तभी करोगे जब पहले वाच्य पता चले कि मैं गधा हूँ। तभी आगे विचार करोगे कि इसका मतलब क्या है। 'मेरा गधा होना' अत्यंत असत् है फिर भी कोई कहेगा तो अर्थज्ञान होगा ही। जब अत्यंत असत् अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है तो 'तत्त्वमसि' वाक्य सुनते ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह प्रतीति होगी ही और तुम ब्रह्म तो सचमुच में हो। जब अत्यंत झूठी चीज का भान सुनते ही हो जाता है तो सबसे सच्ची चीज़ का ज्ञान सुनते ही क्यों नहीं होगा? इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विद्मस्तन्मोहहानतः।' शब्द की शक्ति अचिन्त्य है, इसे कोई सोच ही नहीं सकता। अगर विचार करके देखो तो मनुष्य जाति की सारी उन्नति का मूल कारण शब्द है। शब्द होने से ही हम अपना यथार्थ ज्ञान अगली पीढ़ी को दे पाते हैं। अन्यथा, जो प्रयोग करोगे उसका ज्ञान तो तुम्हारे पास ही रहेगा। बिना शब्द के किसी दूसरे को समझा नहीं सकते। इसलिए शब्द की शक्ति अचिन्त्य है। वह शक्ति है ज़रूर जिससे ज्ञान होते ही मोह या अज्ञान नष्ट हो जाता है। 'मैं गधा हूँ' सुनते ही ज्ञान हुआ, लेकिन आगे विचार किया तो निश्चय हुआ कि मैं गधा नहीं हूँ। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' सुनकर भी तुमको ज्ञान तो हो जायेगा कि 'मैं ब्रह्म हूँ' लेकिन अगले ही क्षण कहोगे 'मैं ब्रह्म कैसे? मैं तो सुखी-दुःखी होने वाला, कर्त्ता-भोक्ता, अत्यंत छोटी-सी चीज़ों को जानने वाला, अत्यंत छोटे काम करने की शक्ति वाला और ब्रह्म सारी सृष्टि को पैदा करने वाला, सर्वव्यापक है, इसलिए मैं ब्रह्म नहीं हो सकता।' जिसको वेदवाक्य पर श्रद्धा होगी कि वेद गलत तो कह नहीं रहा है, वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुरु से पूछेगा 'समझ में नहीं आ रहा है, मैं कैसे ब्रह्म हो सकता हूँ?' तब गुरु संदेहों को हटायेगा, तत् और त्वं पदार्थों का शोधन करायेगा। शब्द से ज्ञान तो होता है लेकिन प्रतिबद्ध होता है। जो श्रद्धा वाला नहीं होगा, उसको भी ज्ञान हो जायेगा परंतु अनुभवविरोध से कट जायेगा। एक सज्जन कहा करते थे कि प्राचीन ऋषि खूब भाँग छानते थे, उसके नशे में ही कह देते थे कि 'मैं ब्रह्म हूँ,' भला कोई ब्रह्म हो सकता है! इसलिए वेद पर श्रद्धा नहीं होगी तो शब्दजन्य प्रमा नहीं हो पायेगी।

क्योंकि आत्मा हमेशा निर्गुण स्वरूप है इसलिए निर्गुण का अंतिम प्रत्यय होने पर निर्गुण की प्राप्ति होगी। चूँकि वह स्वरूप स्वाभाविक है, इसलिए नित्य निर्गुण की ही प्राप्ति है। निर्गुण की प्राप्ति उपासना से हुई, परंतु नित्य हुई। निर्गुणभावकी प्राप्ति और मोक्ष—दोनों में नाममात्र का फ़र्क़ है, नित्य निर्गुण की प्राप्ति का मतलब तो मोक्ष ही है। यह तो ठीक है कि ज्ञान नहीं हुआ परंतु निर्गुणभाव की प्राप्ति होना ही तो मोक्ष है। अपने नित्य निर्गुण रूप में स्थिति हो जाना ही मोक्ष बताया गया है। जैसे संवादी भ्रम फल-काल में प्रमा हो जाता है, इसी प्रकार से अंतिम काल में हुए निर्गुण-भान का बाधक कोई नहीं है जिससे वह बगैर कटे रह जाने से मोक्ष ही है। प्रमा का मतलब ही है जहाँ 'ऐसा नहीं' यह ज्ञान नहीं होता। चूँकि निर्गुण-भान होते ही वह मर गया इसलिये 'ऐसा नहीं है' समझने का कोई कारण ही नहीं रह गया ॥१३९॥

ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव होने से उक्त प्रक्रिया को संगत बनाते हैं—

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०॥

निर्गुणोपासना के बल से मूलभूत अविद्या मिटाने वाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जैसे अविमुक्त काशी क्षेत्र में नियमानुसार मरणपर्यन्त रहकर मरने से संसार से तारने वाले ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है।

निर्गुण उपासना है तो क्रिया क्योंकि मन से करते हो, परंतु उसको मुक्ति का साधन बताया है। फिर 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' का क्या होगा? नित्य निर्गुण की उपासना की सामर्थ्य से मूल अविद्या को हटाने वाली, अविद्या का नाश करने वाली ब्रह्माकार वृत्ति पैदा हो जाती है—यह उस उपासना का फल हुआ। यद्यपि प्रधानतः विचार से ही ज्ञान होता है, तथापि निर्गुण उपासना से अंतिम क्षण में अखण्डाकार ही वृत्ति बनती है इसलिए मोक्ष हो जायेगा। उपासना के बल से अंतिम वृत्ति ब्रह्माकार बन जाती है। भगवान् भी कहते हैं 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' कि जो मेरी उपासना करता रहता है, मैं उसे बुद्धियोग देता हूँ अर्थात् उसे ब्रह्माकार वृत्ति देता हूँ। उस वृत्ति से ही वह मुझे प्राप्त करता है। होता तो ज्ञान से ही मोक्ष है, पर भगवान् वह ज्ञान देते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवेकादि साधनों से विचार न करने वालों के लिये मोक्ष का एक उपाय शास्त्र में प्रसिद्ध है 'काश्यां तु मरणान् मुक्तिः' काशी में मरने से मोक्ष होता है। यह वेद का वाक्य है। कुत्ते, बिल्ली आदि भी मरते हैं तो उनका वहाँ मोक्ष होता है। जब रामकृष्ण परमहंस काशी गये तो मणिकर्णिका घाट पर उन्होंने देखा कि भगवान् विश्वनाथ साक्षात् आकर मुर्दे को अपनी गोद में लेकर उसके कान में कुछ फुसफुसाते हैं जिससे उनकी मुक्ति हो जाती है। केवल आदमी ही नहीं, जो बकरी, घोड़े, मच्छर तक भी वहाँ मरते हैं वे सब मुक्त हो जाते हैं। उन्होंने यह वहाँ प्रत्यक्ष देखा और शास्त्र तो कहता ही है। काशी में मरने से मोक्ष कैसे होता है—इस पर आचार्यों ने विचार किया है। भगवान् सुरेश्वराचार्य का तो एक ग्रंथ ही 'काशीमृतिमोक्षविचार' है जिसमें स्पष्ट किया कि वहाँ कैसे मोक्ष होता है। काशी में मरने से पहले जीव को काल भैरव दण्ड देते हैं। काल भैरव का प्रभाव काशी में अक्षुण्ण है। काशी में रहने के बड़े नियम हैं, जैसे काशी क्षेत्र में जहाँ कहीं थूक नहीं सकते, हर जगह टट्टी-पेशाब नहीं कर सकते इत्यादि। प्रायः उन नियमों का पूरी तरह से कोई पालन नहीं करता है। इसलिए जब तक काल भैरव उस जीव को पहले भैरव-यंत्रणा देकर उसके पाप खत्म नहीं कर देते तब तक भगवान् शंकर उसे उपदेश नहीं देते। उपदेश देते ज़रूर हैं। वहाँ यह नियत नहीं है कि कितने काल में मोक्ष होगा। इसलिए काल भैरव पहले जीव को शुद्ध कर देते हैं तब शंकर भगवान् उसे ज्ञान देते हैं और उसका मोक्ष हो जाता है। इसलिए 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' के नियम से विरोध नहीं है।

एक आदमी ने काशी में रहकर सारे नियमों का पालन किया। भगवान् शंकर तो आशुतोष हैं ही, जब वह आदमी मरा तो उन्होंने उसे उपदेश देने के लिए अपनी गोद में लिया। काल भैरव ने उसे भगवान् शंकर की गोद से यह कहकर छीन लिया कि 'मुझे दिये बिना पहले ही आपने इसे कैसे ले लिया! पहले मेरा अधिकार है। आपका अधिकार तब है जब पहले यह शुद्ध हो जाये।' भगवान् शंकर ने पूछा—'यह तो काशी में पूरे नियमों से रहा है और इसने कोई गलती नहीं की है।' काल भैरव ने कहा—'आप तो ऐसे ही कह देते हैं, इसने सारे नियमों का पालन नहीं किया है क्योंकि मरते समय इसने मुँह से लार काशी में गिरायी!', मरते समय बेहोशी में लार गिरती ही है, लेकिन तब थोड़ा जिन्दा तो रहता ही है। इसलिए उसे ज़ोर से एक डण्डा भैरव जी ने मारा जिससे उसका वह पाप नष्ट हो गया, फिर भगवान् शंकर ने उसे उपदेश देकर मुक्त कर दिया। काल भैरव का ऐसा प्रभाव है। इसलिए शास्त्र में जो यह बात आती है कि बिना पाप न्यून हुए ज्ञान नहीं होता, वह भी घट जाती है और ज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह भी घट जाता है। कोई गुरु आकर श्रवण मनन करायेंगे इत्यादि इन्तज़ार नहीं करना पड़ता क्योंकि शंकर जी ज्ञान दे देते हैं। यह सब तो काशी में मरने का फल है।

जैसे काशी-सेवन करने से तारक ब्रह्म ॐकार का उपदेश मिलता है, वैसे ही मरते समय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या ब्रह्मलोक में उपासना के बल से निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है। ॥१४०॥

नृसिंहतापनीय उपनिषद् का प्रमाण देते हैं कि निर्गुणोपासना से मोक्ष होता है—

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥१४१॥

उपासक कामनाओं से रहित हो जाता है, कामना के प्रेरक संस्कारों से भी रहित होता है, शरीर-इन्द्रियों में अहं-ममभाव नहीं रखता, अभय ही होता है—यों उपासक का मोक्ष नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत् में निर्दिष्ट है।

'सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैवसमवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (नृ.उ.५.२), 'अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवं वेद' (नृ.उ.७.१), 'चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम्' (नृ.उ. ८.१) यह उपनिषद् स्पष्ट बताती है कि परिपक्व उपासक सारी कामनाओं से रहित हो जाता है, सारी कामनायें उस से निकल जाती हैं। लगता तो है कि अकाम 'कामना नहीं रही' और निष्काम 'कामना निकल गई' दोनों का एक ही मतलब है, परंतु विवेक के द्वारा नई कामना तो पैदा नहीं होती परंतु जो पुराने संस्कार पड़े हुए हैं वे अंतःकरण में कामना की उत्पत्ति करते रहते हैं। उन्हें पूरा करने के लिए साधक-चेष्टा नहीं करता परंतु कामना आती तो रहेगी। जब वह भी आना बंद कर दे, तब निष्काम हुए। बहुत बार कामनायें इसलिए चली जाती हैं कि उनका कोई साधन ही नहीं है। लोक में प्रसिद्ध है कि कूद-कूद कर देख लिया, अंगूर तक नहीं पहुँच पाये तो अंत में कह दिया कि अंगूर खट्टे हैं, कौन खाये! इसी प्रकार से कभी प्रतीत होता है कि मुझे कामना ही नहीं है जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। किंतु उपासक की जितनी कामनायें थीं वे सब पूर्ण हो गयीं, और कोई कामना बची ही नहीं इसलिये वह आप्तकाम हो जाता है। जैसे तुम्हारे सामने कोई तेज़ इच्छा होती है तो बाकी सब कामनायें उस तीव्र इच्छा के सामने दब जाती हैं, केवल उसी चीज़ की इच्छा पूरी तरह से रहती है, वैसे यह सर्वथा परमात्मा को ही चाहता है। चाहना खत्म नहीं होती यह ठीक है, लेकिन इसकी *पूरी* चाहना परमात्मा की ही है, इसलिए बाकी सब कामनायें पूर्ण हो गयीं। इसी प्रकार वह शरीर-इन्द्रिय-प्राण-मन से रहित, सर्वथा स्वतंत्र, स्वयं अपना ही राजा होता है। इस प्रकार मुक्त के स्वरूप का वहाँ वर्णन किया। ब्रह्म का जो वर्णन है, वही मुक्त का वर्णन है। इसकी प्राप्ति उपासना से कही है। इस प्रकार नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद् उक्त सन्दर्भ में प्रमाण है। ॥१४१॥

मोक्षसाधन के बारे में श्रुतिविरोध के परिहार का उपसंहार करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपासनस्य सामर्थ्याद् विद्योत्पत्तिर्भवेत् ततः।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥१४२॥

क्योंकि उपासना के प्रभाव से तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न हो जाता है इसलिये 'अन्य मार्ग नहीं' इत्यादि शास्त्र (श्वे. ३.८) से कोई विरोध नहीं है।

जैसे काशी-मरण से मोक्ष और ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं—दोनों का समाधान हो जाता है वैसे ही उपासना की सामर्थ्य से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः मोक्ष तो ज्ञान से ही है। इसलिए वेद ने बिलकुल स्पष्ट किया है 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. ३.८) अर्थात् ज्ञान के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता मोक्ष का नहीं है। मोक्ष में पहुँचने का तो एक ही रास्ता आत्मज्ञान है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। लोग कई रास्ते गिनाते रहते हैं, कहते हैं देशसेवा, लोकसेवा आदि करके वहाँ पहुँच सकते हैं। इसके आगे कोई तो कहता है कि चोरबाजारी करके भी बड़े-बड़े मंदिर बनाने से वहाँ पहुँच जायेंगे! परंतु ये सब बातें सर्वथा वेद-विरुद्ध हैं। वेद ने केवल यह नहीं कहा कि ज्ञान से पहुँचते हैं बल्कि कहा है कि उसके सिवाय दूसरा रास्ता है ही नहीं। उपासना से ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति इस क्रम में शास्त्रवचनों का परस्पर कोई विरोध नहीं है। ॥१४२॥

मरने पर या ब्रह्मलोक में उपासक ब्रह्म को जानकर मुक्त होता है इस बात को श्रुति से समर्थित करते हैं—

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ॥१४३॥

तापनीयोपनिषत् में निष्काम उपासना से मुक्ति बतायी ही है, सकाम की ब्रह्मोपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति शैब्यके प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ने (प्रश्नो. ५) समझायी है।

निर्गुण की उपासना हमेशा निष्काम ही होती है। सगुण-उपासना तो कामना से भी होती है और बिना कामना के भी होती है। भगवान् ने जहाँ भक्त गिनाये वहाँ चार प्रकार के भक्तों में तीन तो कामना वाले गिनाये—आर्त, रोग आदि से दुःखी होकर भजन करता है तो उसका रोग दूर हो जाता है। अर्थार्थी—जिसका व्यापार नहीं चमक रहा, नौकरी में उन्नति नहीं हो रही है, वह जब ध्यान-भजन करता है तो उसका व्यापार ठीक हो जाता है, नौकरी में उन्नति होती है। जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान चाहने वाले ज्ञान के लिए जाते हैं तो उनकी भी इच्छा पूरी हो जाती है। जो केवल परमात्मा से प्रेम करता है, कुछ नहीं चाहता, वह भी भगवान् की उपासना (भक्ति) करता है। भगवान् ने बहुत स्पष्ट कर दिया है कि 'उदाराः सर्व एवैते' अर्थात् कहीं यह नहीं समझ लेना कि केवल ज्ञानी ही मेरा भक्त है! भगवान् कहते हैं कि मुझे सब प्रिय हैं, मुझसे माँगने वाला कुछ बुरा नहीं क्योंकि किसी भी तरह मेरी तरफ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आया। हमारी परंपरा में एक मण्डलेश्वर थे। अपने कक्ष में बैठे, रास्ते जाते हुए किसी व्यक्ति को 'महादेव, महादेव' कहते हुए सुनते थे तो उसे एक पैसा दे देते थे! उस जमाने में एक पैसे की बड़ी कीमत थी। आश्रम में रहने वाले कहने लगे 'आप ऐसे पैसा लुटाते हैं। पैसा पाने वाला न जाने चोरी करता है, डाका डालता है या किसी की हत्या करने वाला है। इसलिए कुछ विचार करके पैसा दिया कीजिए।' मण्डलेश्वर जी कहते थे 'सबको पता है, मैं इस तरह महादेव कहते सुनकर पैसा ज़रूर देता हूँ, फिर भी देखो कि महादेव कहने वाले कितने कम निकलते हैं!' अगर कोई एक सेकेण्ड को भी महादेव कहे तो उतनी देर भगवान् के पास है ही और उस समय तो बाकी बुराई से हटा हुआ भी है। भगवान् शंकर ने यहाँ तक कह दिया है कि 'महादेव महादेव महादेव' ऐसा तीन बार कोई कह दे तो पहली बार कहने पर मैं उसे मोक्ष दे देता हूँ। अतः दूसरी-तीसरी बार कहता है तो मुझे चिंता हो जाती है कि अब मेरे पास देने को कुछ बचा नहीं! इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं कि सब भजन करने वाले उदार हैं। यह बात दूसरी है कि ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है। सबका कल्याण होगा ही, यह निश्चित है। तापनीय उपनिषद् में निष्काम उपासन से मुक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया।

यह उपासना यदि सकाम, कामना से करेगा तो वह भी ब्रह्मलोक में जायेगा ही। की तो उसने उपासना ही है, कामना से की है तो उसके मन में जो कामना है वह पूरी हो जायेगी। कामना वाला होकर भी उपासक ब्रह्मलोक जाता है, इस बात को प्रश्नोपनिषद् में शैब्य के प्रश्न के जवाब में बताया गया है। ॥१४३॥

प्रश्नोपनिषद् में शैब्य के प्रश्न से जैसा निर्णय किया है उस के सार को बताते हैं—

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते।
स एतस्माज्जीवघनात् परं पुरुषमीक्षते ॥१४४॥

जो तीन मात्राओं वाले ॐकार से उपासना करता है वह इस जीवघन अर्थात् हिरण्यगर्भ से परे जो निरुपाधिक चेतन उसका साक्षात्कार पाता है।

जो तीन मात्रा वाले 'ॐ' इस अक्षर से परमपुरुष का ध्यान करता है वह पापरहित हो ब्रह्मलोक जाता है जहाँ परमात्मदर्शन प्राप्त करता है—ऐसा प्रश्नोपनिषत् (५.५) में समझाया गया है। ॐ इस अक्षर में अ, उ और म् तीन मात्रायें हैं। इस अक्षर के द्वारा जो परमपुरुष परमेश्वर का ध्यान करता है वह यहाँ से जा कर पहले तो सूर्यलोक में प्रवेश करता है और तब जैसे साँप की केंचुली उतर जाती है, वैसे ही इसका जो पाप है, वह सारा उतर जाता है। स्थूल शरीर तो मरते समय उतर गया, फिर जब वह सूर्यलोक में गया, तब उसका सूक्ष्म शरीर भी उतर गया। सूक्ष्म शरीर में ही सारे पाप (और पुण्य) रहते हैं। पुर्यष्टक के अंदर ही कर्म भी रहेंगे। जब वह सूक्ष्म शरीर भी उतर गया तो सब कर्मों से मुक्त हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिर साम के जो अधिष्ठाता देवता हैं, वे उसे ब्रह्मलोक में लेकर जाते हैं। तब केवल कारण शरीर ही रहता है, उसके साथ ही वह ब्रह्मलोक को जाता है। यह ठीक है कि ब्रह्मलोक को अश्वमेध आदि कर्म करने वाले भी जाते हैं, परंतु एक यंत्र के द्वारा उनके पाप छील कर अलग किए जाते हैं। उपासक तो, जैसे साँप बिना किसी कष्ट के अपना छिलका (केंचुली) उतार देता है ऐसे ही सूक्ष्म शरीर से छूट जाता है। ब्रह्मलोक में जाने पर चूँकि सूक्ष्म शरीर की उपाधि तो है नहीं, अविद्या या अज्ञान में चूँकि कोई भेद है नहीं, भेद तो अंतःकरण आदि को लेकर ही हुए थे, इसलिए अब वह जीवघन अर्थात् हिरणयगर्भ को प्राप्त करता है। तब इस सारी जगद्रूपी पुरी में सोने वाले तथा हिरण्यगर्भ से भी परे जो पुरुष निरुपाधिक चैतन्यरूप है उसको हिरण्यगर्भ की कृपा से जान लेता है। वहाँ तक पहुँचना इस उपासना के प्रभाव से हुआ, वहाँ जीवात्मैक्य-ज्ञान हो जाता है। हम लोगों को तो शब्द की जरूरत पड़ती है, परंतु शब्द भी तो आख़िर ज्ञान के आकार का होकर ही हमारे काम आता है! वहाँ चूँकि हिरण्यगर्भ समष्टि अंतःकरण है इसलिए उसके अंदर सीधा ही वह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ॥१४४॥

इस बात को भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में (४. ३. १५) भी कहा है–

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात् सकामस्येति वर्णितम् ॥१४५॥

अप्रतीक-अधिकरण में 'जो जैसे निश्चय वाला होता है वह वैसा बन जाता है' यह निर्णय बताया है। इसलिये कामना वाले द्वारा अनुष्ठित ब्रह्मोपासना ब्रह्मलोक-रूप फल वाली होती है यह वर्णन किया।

अप्रतीकाधिकरण का सूत्र है 'अप्रतीकालम्बनान्नयति इति बादरायणः' (४. ३. १५)। एक ध्यान है प्रतीक के सहारे, जैसे शालिग्राम में विष्णु का ध्यान है। अथवा प्राण में स्वर्ग-बुद्धि आदि सभी प्रतीकोपासनायें हैं। जो ब्रह्म का रूप नहीं है, उसे ब्रह्म का रूप मानकर प्रतीक-उपासना की जाती है। प्रतीक वह चीज़ होती है जो स्वयं ध्येय न हो। जैसे पूजा करने के विधान में कहा कि विष्णुपूजा ऐसे करे। परन्तु विष्णु भगवान् आयें तभी पूजा करें! इसलिये शालिग्राम को विष्णु मान कर पूजा कर लेते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर तो मायाविशिष्ट चेतन है, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सृष्टि स्थिति लय करने वाला है। लेकिन उसको हम लोग समझ नहीं पा रहे हैं तो उसका ध्यान कैसे करें? विष्णु को ईश्वर का प्रतीक बनाकर ध्यान कर सकते हैं। जगत् के सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाला ईश्वर; विष्णु केवल स्थिति करने वाला अतः ईश्वर है नहीं फिर भी शास्त्रानुसार उनमें ईश्वरदृष्टि सफल है। चाहे मूर्ति में देवदृष्टि हो या विष्णु-आदि में ईश्वर-दृष्टि हो, प्रतीकोपासनायें हैं। इनका सहारा लेने वाले ब्रह्मलोक से वंचित रहते हैं क्योंकि 'अप्रतीकालम्बन' अर्थात् जो प्रतीकोपासक नहीं उन्हें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मलोक तक पहुँचाया जाता है। प्रणव क्योंकि केवल प्रतीक नहीं है, पर-अपर ब्रह्मरूप उसे कहा है, इसलिये उसके सहारे उपासना करने वाले 'अप्रतीकालम्बन' होने से ब्रह्मलोक पा लेते हैं। बृहदारण्यक (४.४.५) में बताया है कि कामना से क्रतु अर्थात् संकल्प, क्रतु से कर्म और उससे फल मिलता है। संकल्पानुसारी फल मिलने को 'तत्क्रतु-न्याय' कहते हैं। अन्यत्र भी कहा है 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' (मुद्गल. ३.३) कि उपासना के अनुरूप स्थिति उपलब्ध होती है। प्रतीकोपासना में केवल ब्रह्मसंकल्प है नहीं क्योंकि वहाँ प्रतीक प्रधान होता है। उदाहृत सूत्रभाष्य में यह स्पष्ट है। इसलिये प्रतीकोपासक ब्रह्मभाव न पाये यह संगत है। क्रतु या संकल्प से ईश्वर ने सृष्टि ही रच दी तो इसके महत्त्व को क्या कहा जाये! साधक को चाहिये कि असत्संकल्पों से दूर रहे, सत्संकल्प ही करे। धीरे-धीरे संकल्प का भी साक्षी ही रहे तो ब्रह्मभाव सुलभ होगा।

विषयकामना-पूर्वक उपासना से ब्रह्मलोक में भोगोपलब्धि होती है। वे विषय वैसे ही सत्य हैं जैसे इह लोक के विषय। कुछ लोग उपासनाफलभूत विषयों को प्रातिभासिक मानना चाहते हैं, कुछ लोग उन्हें पारमार्थिक मानना चाहते हैं लेकिन छान्दोग्यादि भाष्य में आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि यहाँ के हों या लोकान्तर के, कर्म से मिलें या उपासना से, भोग व्यावहारिक हैं। अन्यथा ऐन्द्रिय विषय भी प्रातिभासिक मानें जायें तो क्या विरोध होगा! हम सभी भोग मनःस्तर पर ग्रहण करते हैं। बाह्य वस्तु का तो गोलक या इन्द्रिय से ही सम्पर्क रहता है, हमसे नहीं। हमें तो विषयेन्द्रिय-संपर्क से बनी मनोवृत्ति ही उपलब्ध हो सकती है। अतः ब्रह्मलोक के विषयों में धरती क़े विषयों से कोई अधिक सत्यता की कल्पना व्यर्थ है। ॥१४५॥

निष्काम उपासक मरने पर अन्तिम वृत्ति के अनुसार निर्गुणभावरूप मोक्ष पा जाता है, सकाम ब्रह्मलोक जाता है तो सकाम को मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान कैसे होता है? इसके उत्तर में कहते हैं–

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात् तत्र तत्त्वमवेक्षते।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥१४६॥

भले ही कामना वाला था पर उपासना निर्गुण की ही की थी अतः ब्रह्मलोक में वह ब्रह्मतत्त्व का दर्शन पा लेता है। वह भी पुनः जन्म-मरण के चक्र में भटकता नहीं, कल्प की समाप्ति में मुक्त हो जाता है।

सकाम के लिये अतिकठिन होने पर भी निर्गुण-उपासना सम्भव है ही। उसे ब्रह्मलोक में कामना-पूर्ति का प्रभूत अवसर मिलता है किंतु पूर्व में अनुष्ठित निर्गुण-उपासना के ही प्रभाव से 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ' ऐसा तत्त्वदर्शन पाकर कल्पसमाप्ति में वह मुक्त ही होता है, जन्म-मरण के प्रबन्ध में लौटता नहीं। यद्यपि पहले छान्दोग्य में (४.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१५.५) ही बताया कि देवयान से ब्रह्मलोक गया साधक इस 'मानव आवर्त्त' में नहीं लौटता तथापि यह मतलब नहीं कि गन्धर्व आदि बन जाता है वरन् जीवभाव से भँवर में पड़ना 'मानव आवर्त' में पड़ना है अतः जन्मादिचक्र से निवृत्त होता है यही तात्पर्य है। आठवें अध्यायके अंत में (८.१५) छान्दोग्य में ही 'न च पुनरावर्त्तते' स्पष्ट कहा है। उत्तरमार्ग से जाने वालों के पुनरावर्त्तन का प्रश्नोपनिषत् (१. १०) में भी निषेध किया है। ॥१४६॥

श्लोक ६२ में निर्गुणोपासना के लिये प्रमाण-प्रतिज्ञाकर तापनीय, शैव्यप्रश्न, कठ और माण्डूक्य का नाम लिया था। इन स्थलों पर प्रणव की उपासना का विस्तार प्रसिद्ध है। उसी प्रसंग का अनुसरण करते हुए कहते हैं—

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः।
क्वचित् सगुणताऽप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥१४७॥

वेद में बतायी प्रणव-निर्भर उपासनायें प्रायः निर्गुण-विषयक हैं फिर भी कहीं सगुण-विषयक भी कही हैं।

प्रणव परमेश्वर का साक्षात् रूप होने से, निकटतम नाम होने से इसके द्वारा परमेश्वर वस्तुतः जैसा है वैसा ध्यान अर्थात् निर्गुण ध्यान ही प्रधानतः विहित है। पुत्र-वित्त-लोकादि सब एषणायें छोड़े संन्यासी का ही इसलिये प्रणवजप में अधिकार प्रसिद्ध है। सकाम प्रणवयुक्त विभिन्न मन्त्र जपे, केवल प्रणव में सकाम का अधिकार नहीं माना जाता। किन्तु कहीं-कहीं वेद ने प्रणव से सगुण ध्यान भी बताया है जिसके आधार पर तन्त्र-आगमों में काफी विस्तार है। अतः ओंकार को 'कामद' और 'मोक्षद' कहा गया है। प्रणव का सहारा लेने वाला तुच्छ कामनाओं वाला नहीं होगा, इष्टदर्शन आदि दिव्य कामनाओं वाला हो सकता है। ॥१४७॥

निर्गुण-सगुण दोनों की उपासना में प्रणव का विनियोग है यह बात प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट कही बताते हैं—

परापरब्रह्मरूप ओङ्कार उपवर्णितः।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८॥

प्रष्टा सत्यकाम को मुनि पिप्पलाद ने परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों रूपों वाला ओंकार समझाया है।

सत्यकाम ने पिप्पलाद से पूछा यह प्रश्नोपनिषत् पंचम प्रश्न में बताया। पिप्पलाद महर्षि मुनि थे। जो परमात्मा के बारे में वार्ता से अतिरिक्त दूसरी वार्ता करता ही नहीं वही मुनि हो सकता है। उनसे इधर-उधर की बात पूछो तो वे जवाब ही नहीं देते। पहले एक मण्डलेश्वर थे, उनसे कोई आकर बात करता तो वे गद्दी पर तकिये के ऊपर सिर रखकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सो जाते थे! आश्रम में काम करने वाले कोठारी आदि ने कहा 'अमुक भक्त आया था, आप सो गये, उससे बात नहीं की, भक्त को कुछ उपदेश दिया कीजिए।' उन्होंने कहा 'वह उपदेश सुनने नहीं आता, वह तो अपनी बात सुनाने आता है कि वहाँ यह हुआ, वहाँ वह हुआ, यह कैसे सुधर जाये। मैं उसकी बेकार बातों को क्या सुनूँ? जब वह नमो नारायणाय करता है तब आशीर्वाद दे देता हूँ।' फिर भी महात्मा कहने लगे 'ऐसा नहीं, भक्त को कुछ तो बताना चाहिए। 'उन्होंने कहा—'ठीक है, कुछ उपदेश कर देंगे।' वह अगले दिन आया। मण्डलेश्वर जी ने योगवासिष्ठ का प्रकरण सुनाना शुरू किया तो वह दो-चार मिनट में ही उठकर चल दिया! ऐसे ही और दो-तीन जने भी आये पर दो-तीन मिनट बैठकर चल दिये। मण्डलेश्वर जी ने महात्माओं से कहा—'देखा! पहले तो ये लोग आधा-आधा घण्टा बैठते थे और अब कुछ सुनाने लगा हूँ तो दो-चार मिनट में चल देते हैं। मैंने पहले ही कहा था कि ये लोग सुनने नहीं, सुनाने आते हैं कि अमुक समस्या कैसे हल होगी, व्यापार में नुकसान कैसे हो गया इत्यादि। मैं तो यही उपदेश करूँगा कि अच्छा हुआ पैसा चला गया, अब इसकी सुरक्षा नहीं करते रहना पड़ेगा। भगवान् करे, बचा-खुचा रुपया भी चला जाये तो भगवान् के भजन में लगो।' मुनि तो यही सब सुनायेगा। पिप्पलाद महर्षि मुनि थे। मुनि को कोई दाल-रोटी नहीं देगा। पीपल के पेड़ के पत्ते और उसमें लगे छोटे-छोटे फल खाकर रहते थे। उनको संसार से कोई मतलब नहीं था। छह जने उनसे पूछने आये और छहों को बहुत अच्छे ढंग से जवाब दिया। आचार्य शंकर बताते हैं कि असली मुनि क्या हैः माया अनिर्वचनीय होने से शब्दप्रयोग का विषय नहीं, ब्रह्म को बताने वाला कोई शब्द हो नहीं सकता, इसलिए ब्रह्म का प्रतिपादन भी शब्द से नहीं। अतः न माया को और न ब्रह्म को शब्द से बता सकते हैं। इस बात का जिसको ज्ञान है वही असल में मौन का आचरण करता है। पिप्पलाद मुनि इस प्रकार के थे। शैब्य सत्यकाम ने पूछा कि जो आमरण ओंकार का ध्यान करता है वह किस लोक को जाता है? उन्होंने कहा—'एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म'। परब्रह्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्म और अपर ब्रह्म अर्थात् मायाविशिष्ट; इन दोनों को ही ओंकार कहते हैं। चूँकि इन दोनों को ओंकार कहते हैं, इसलिए इसे तुम चाहे सगुण ब्रह्म की दृष्टि से देखो कि वह सृष्टि स्थिति लय करने वाला है या चाहे निर्गुण ब्रह्म की दृष्टि से देखो कि अधिष्ठान है जिसमें ये सब प्रतीतियाँ होती हैं, दोनों ही ओंकार की उपासना हैं। यदि सगुण को इससे ध्याता है तो साधक सगुण की प्राप्ति कर लेता है और यदि इससे निर्गुण को ध्याता है तो निर्गुण की प्राप्ति कर लेता है। ॥१४८॥

कठोपनिषत् (१.२.१६) से भी पूर्वोक्त विकल्प सिद्ध करते हैं—

एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।
इति प्रोक्तं यमेनाऽपि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूछने वाले नचिकेता को यमराज ने भी समझाया कि इस ओंकाररूप सहारे को जानकर जो जिसे चाहता है वह उसे उपलब्ध हो जाता है।

महर्षि पिप्पलाद की तरह देवताओं ने भी इस बात को कहा है। नचिकेता ने यमदेव से प्रश्न पूछा कि मरकर क्या होता है? इसमें यम के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं हो सकता! क्योंकि मरने के बाद यमदेव ही सब को ले जाते हैं। वहाँ यमराज ने यही कहा कि इस ओंकार का ध्यान करके जो सगुण तत्त्व की इच्छा करता है वह सगुण परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है और जो उसके निर्गुणरूप की उपासना करता है वह निर्गुण को प्राप्त हो जाता है। जिसकी जो इच्छा है, उसको वह प्राप्त हो जाता है। ॥१४९॥

प्रसंग पूरा करते हैं–

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत्।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥१५०॥

निर्गुण की ठीक-ठीक उपासना करने वाले को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, यहीं हो, मरने पर हो या ब्रह्मलोक में हो।

जो निर्गुण की उपासना करने वाला है और उसकी वह उपासना सम्यक् हो जाती है वह ब्रह्मदर्शन पाता है। सम्यक् अर्थात् यावज्जीवन, जब तक मृत्यु न आ जाये और जब तक नींद न आ जाये तब तक जो ब्रह्म-दृष्टि रखे। ऐसे साधक की निर्गुण उपासना सिद्ध हो जाती है। उसको निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार अवश्य हो जाता है। वह उपासना दृढ पक जाती है तो परमेश्वर की कृपा से परमेश्वर स्वयं ही आकर उसे तत्त्वज्ञान दे देते हैं क्योंकि भगवान् की प्रतिज्ञा है 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' मैं उनको बुद्धियोग दे देता हूँ अर्थात् मैं उनको उपदेश देकर उनकी ब्रह्माकार वृत्ति स्थिर कर देता हूँ। ब्रह्माकार वृत्ति बन गई तो वह निर्गुण-भाव को प्राप्त हो जाता है। पूरा सिद्ध हो जाता है तो यहीं जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है। किसी कारण से यदि उपासना दृढ नहीं हो पाई, परंतु उसी के संस्कार प्रबल हैं तो मरते समय अखण्ड वृत्ति बन जाती है। जैसे लोक में कोई आदमी अपने पालतू कुत्ते को चौबीस घंटे तो नहीं सोचता रहता, परंतु बीच-बीच में उसे कुत्ते की याद आती है। घर से बाहर जाये तो सोचेगा कि उसे समय पर खाने को मिला होगा या नहीं आदि। बाकी काम-काज भी करता है लेकिन बीच-बीच में अपने कुत्ते को भी सोचता है। इसी प्रकार जो सब समय निर्गुण उपासना करता रहता है, परंतु कुछ व्यवहार भी करता है, उसे मरते समय ब्रह्म ही याद आता है जैसे चूँकि वह सब समय उस कुत्ते को सोचता रहा है तो उसे मरण काल में भी वही कुत्ता याद आता है! जो सब समय सम्यक् निर्गुण उपासना करता है उसका जब मरण-काल आता है, उस समय सम्यक् की हुई निर्गुण उपासना सिद्ध होकर उसकी गति हो जाती है, अंतकाल में उसे निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अंतकाल में जो मति सो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गति होती है। अगर उतनी भी दृढता नहीं तो जैसा तुलसीदास जी कहते हैं 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं अंत राम कहि आवत नाहिं' चाहे जितना यत्न कर ले तब भी मरते समय इष्ट की याद नहीं आती। किंतु जिसकी उपासना कम-से-कम उतनी दृढ है, वह अपने इष्ट लोक को, सगुण ब्रह्म के लोक को जाता है और संसार के अंत में ब्रह्मा जी के उपदेश से मुक्त हो जाता है। साधना पूरी हो जाये तो यहीं जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है। उपासना पूरी नहीं हुई, तो मरणकाल में होता है, वह भी नहीं हुआ तो ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त होता है। हर हालत में जिसने निर्गुण उपासना ढंग से कर ली, उसे यहाँ वापिस नहीं आना पड़ता।

निर्गुण उपासना संभव भी है और उपनिषद् के द्वारा प्रमाणित भी है। निर्गुण उपासना का फल या तो यहीं सिद्ध होकर ज्ञान हो जाता है अथवा मरण-काल में ज्ञान हो जाता है; अन्यथा ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्माजी के उपदेश से ज्ञान हो जाता है। विचार करने में जो अशक्त है, जो विचार नहीं कर सकता है, वसिष्ठ जी ने यही कहा है कि उसके लिये यही उपाय है। परमात्मा के साक्षात्कार के लिए दो रास्ते हैं—योग और ज्ञान। मन को चित्त इसलिए कहते हैं कि यह चित् तो है लेकिन चित् के साथ 'त' और लगा है। 'चित्तं चिच्च विजानीयात् तकाररहितं यदा। तकारो विषयाध्यासः जपारागो मणौ यथा।' चित्त में से तकार मिटा दो तो चित् रह जाता है। तकार का अर्थ विषयाध्यास है। वह अध्यास दो प्रकार का है : अहं के अंदर जड चीज़ों का अध्यास और जड चीज़ों में आत्मा की सद्रूपता का अध्यास। जब इन दोनों अध्यासों की निवृत्ति हो जाती है तब चित् ही रह जाता है। कुछ लोग तो विचार के द्वारा ही निश्चय कर लेते हैं और उनका निश्चय अटल हो जाता है। परंतु कुछ लोगों के लिए यह विचार मार्ग कठिन होता है। जो विचार करने में अक्षम हैं वे ध्यान कर लें। ज्ञान से निश्चय होने के बाद स्वभाव से ही निरंतर वह भान रहता है। किसी प्रारब्ध-भोग के कारण यदि वृत्ति नहीं चलती तो भी उसको परमात्माकार वृत्ति बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। जिसका निश्चय हो गया है उसको तो केवल इतना ही ख्याल रखना है कि विरुद्ध निश्चय की कोई वृत्ति न बने। किन्तु ध्यानरूप साधन अपनाने वाले को उस जाति की वृत्ति का प्रवाह रखना है अर्थात् उसके मन में समान जाति की वृत्ति का प्रवाह हो और विजातीय वृत्ति न आये। जिसका ज्ञान-निश्चय हो गया है उसको वृत्ति रखने की ज़रूरत नहीं है ॥१५०॥

विचार-अक्षम के लिए निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का विधान बताते हैं—

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितम्।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति सन्ततम् ॥१५१॥

विचार में असमर्थ साधक सतत आत्मा की उपासना करे यह बात 'आत्मगीता' में स्पष्ट बतायी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्गुण ब्रह्म के ध्यान की बात 'आत्मगीता' में स्पष्ट करके बताई है कि जो विचार करने में अक्षम है, विचार नहीं कर सकता है, वह उपासना करे। विचार करने में असामर्थ्य का कारण प्रज्ञा की कमी भी होता है क्योंकि सूक्ष्म बात को समझने के लिए प्रज्ञा चाहिए। गुरु की उपलब्धि भी चाहिए, गुरु ऊहापोह करने में विचक्षण होना चाहिए। कई बार शिष्य के मन में शंका है, परंतु वह शंका प्रकट नहीं कर पाता। समझ में नहीं आ रहा है—इतना तो निश्चित है। योग्य गुरु उसके चेहरे इत्यादि को देखकर समझ जाते हैं और समाधान करते हैं। ज्ञान तो अनेकों को हो जाता है परंतु दूसरे को उपदेश देने की सामर्थ्य सबमें नहीं होती। योग्य गुरु नहीं मिला जो तुम्हारी शंकाओं को दूर कर सके तो भी उपासना का ही सहारा है। ऐसे कई कारण होते हैं जिनसे विचार संभव नहीं होता। जो विचार में अक्षम है वह निरंतर आत्मा की उपासना करे। पंचकोशों से अतिरिक्त, नाम-रूप से अतिरिक्त, सारे संसार का अधिष्ठानरूप जो निर्गुण तत्त्व है उसका चिंतन करे। ठीक जैसे हमको आँख से तो रामजी का चित्र दीखता है परंतु हम विश्वास के बल से उसमें रामचन्द्रजी को देखते हैं, इसी प्रकार से हमको तो नाम-रूपविशिष्ट, पंचकोश-विशिष्ट ब्रह्म की प्रतीति होती है परंतु उपासना में हम उसको नामरूपरहित-पंचकोशरहित देखते हैं। दीखता तो तब भी नाम-रूप वाला ही रहता है। जैसे फोटो तो दीखती ही रहेगी, फोटो देखते हुए ही हमको उसमें राम जी की दृष्टि करनी है। ध्यान के लिए जैसे विश्वास करना पड़ेगा कि यह राम है, इसी प्रकार नाम-रूपात्मक जगत् में ब्रह्मदृष्टि करनी है। एक आदमी आकर हमको सोने की मोहर चढ़ा जाता है। दूसरा हमारी सोने की मोहर भी ले जाता है और साथ में हमारा कमण्डतु भी ले जाता है! दोनों को हम एक कैसे समझें? समझने के लिये तो विवेक का पैनापन चाहिये, उसके अभाव में ही उपासना की जा रही है इसलिए कहा कि दीखेगी नाम-रूप उपाधि, परंतु दृष्टि करनी है कि नाम-रूप से रहित निर्गुण ब्रह्म है। मुमुक्षु के संन्यास पर भाष्यकार बार-बार ज़ोर देते हैं क्योंकि किसी भी अवस्था में तुम चिन्तन कर सकते हो—यह बात बिलकुल ठीक है लेकिन व्यवहार-काल में ऐसा होता नहीं है! जितना तुम्हारा व्यवहार न्यून-न्यूनतर होगा उतनी ही ज्यादा तुम यह उपासना कर सकोगे। कोई विशेष बल वाला हो तो कर्मठ रहकर भले ही कर ले। किंतु मुख्यतः निर्गुणोपासना संन्यासी से ही निभेगी, सफल होगी। ॥१५१॥

आत्मोपासना कर्त्तव्य है यही बताते हैं—

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः।
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥१५२॥

साक्षात्कार में असमर्थ मुमुक्षु भी निःसंकोच मेरा चिन्तन करे। समय से उसके अनुभव में आकर अवश्य फलस्वरूप से उसे उपलब्ध होता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साक्षिभाव में स्थिर रहना ही साक्षात्कार है। जो ऐसा नहीं कर सकता परन्तु उसको यह निश्चय है कि 'मैं' मन से अलग हूँ; यह विवेक से निश्चय हो जाता है। फिर भी मन दुःखी होने पर 'मैं दुःखी नहीं हूँ' ऐसा दृढ अनुभव नहीं होता। साक्षिभाव में स्थित रहने का या साक्षात्कार का मतलब वसिष्ठ जी कहते हैं, यह है कि आकाश को टुकड़े-टुकड़े होते देखे तो भी मन में नहीं हो कि इसके टुकड़े कैसे हो गये! बालू के ढेर में पानी हो सकता है तो आकाश के टुकड़े क्यों नहीं हो सकते? ऐसी स्थिति सरलता से प्राप्त नहीं होती क्योंकि संसार में कार्य-कारणभाव जरूरी लगता है। हमारे अंतःकरण में देश, काल, कार्यकारणभाव ऐसा स्थित है कि निश्चय करने पर भी लगता है कि कुछ तो कारण होता ही है! इसलिए साक्षात्कार करने में साधक असमर्थ रहता है। ऐसे असमर्थ के लिये भी भगवान् शंकर कहते हैं कि मुझ निर्गुण का अशंकित चिन्तन करे। यह *अशंकित चिंतन* करना कठिन है। जैसे शास्त्र ने कहा कि शालिग्राम विष्णु है तो है ही, इसी प्रकार भगवान् शंकर ने विस्तार से बता दिया कि मैं कैसे अधिष्ठानमात्र हूँ, तो निश्चय होना चाहिए कि ऐसा ही है। संदेह वाला व्यक्ति कभी ध्यान भी नहीं कर सकेगा। निर्गुण का चिंतन निस्संदिग्ध करो तभी सफल होगा। जब दीर्घकाल तक ऐसा चिंतन करने से दृढ संस्कार बन जाता है तब वह अनुभव में आरूढ हो जाता है। फिर स्वभाव से वैसा ही प्रतीत होता है। बालक भाषा सीखते समय पूरे वाक्य को सोच नहीं पाता, वाक्यार्थ की संकल्पना नहीं कर पाता किन्तु दीर्घ अभ्यास से उसे वाक्यार्थ ही प्रतीत होता है एवं वाक्य सोचकर ही शब्द बोलता है। इसी प्रकार 'मुझ समेत सारा जगत् परमात्मा है' इसका संस्कार दृढ होने पर यही निश्चय निरायास रहता है। सन्त नामदेव ने रोटी ले जाते कुत्ते को किसी कोशिश से नारायण नहीं देखा वरन् सहजता से ही उन्हें वह नारायण ही दीखा। यही अनुभव में आरूढ होना कहा जाता है। इस स्थिति में सन्तत आनन्दरूप फल उपलब्ध हो जाता है। ॥१५२॥

आत्मलाभ के लिये इसे अचूक उपाय बताते हैं–

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥१५३॥

गहरे गड्ढे में छिपे खजाने को पाने के लिये खोदने के अलावा जैसे तरीका नहीं वैसे मुझ सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये भी स्वात्मा के चिन्तन को छोड़कर अन्य उपाय नहीं है।

पिता जी ने जमीन में बहुत धन गाड़ दिया। उनका शरीर छूट गया। अब वह धन तुम्हारा है, तुम्हारे पास है पर उस धन की प्राप्ति के लिये सिवाय उस जमीन को खोदने के और कोई उपाय नहीं है। तुम वहाँ रोज़ आते-जाते हो परंतु कोई काम पड़ने पर खोदे बगैर उससे कोई लाभ नहीं ले सकते। तुम ही उस धन के मालिक हो लेकिन उसे *प्राप्त* करने के लिए खुदाई करनी पड़ेगी। इसी प्रकार ब्रह्म तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है। भगवान्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने स्पष्ट कह दिया 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' तुम्हारे पास ही है परंतु तुम्हें चिंतन से ही मिलेगा। 'मैं'—इस रूप से ही परमात्मा तुम्हारे अंदर बैठा हुआ है, लेकिन वह सारे अध्यासों से ढका हुआ है। जब आत्मचिन्तन करते हो तब धीरे-धीरे वह अनात्मा का कीचड़रूप सारे अध्यास निकलते जाते हैं। आत्मचिन्तन को छोड़कर और कोई उपाय इन्हें निकालने का नहीं है। ॥१५३॥

रूपक से उक्त तथ्य स्पष्ट करते हैं—

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात् पुनः।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥१५४॥

बुद्धिरूप कुदाली से देहरूप शिला हटाकर बार-बार मनरूप ज़मीन खोद कर पुरुष को चाहिये कि मैं-रूप खजाना प्राप्त करे।

पहले ज़माने में जब ज़मीन के अंदर धन गाड़ते थे तो उस पर मिट्टी डालने के पहले एक पत्थर रख देते थे जिससे मिट्टी उसके अंदर न जाय। इसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म देह पत्थर की जगह हैं इसलिए देहरूपी पत्थर को हटाना ज़रूरी है। इसको हटाने के लिए बार-बार खोदना अर्थात् आत्माकार वृत्ति बनानी है। 'मां गृह्णीयात्' से भगवान् कहते हैं कि तब मुझे प्राप्त कर लोगे। मैं हूँ तुम्हारे हृदय में ही, इसलिए कहीं से आना नहीं है, लेकिन फिर भी आत्माकार वृत्ति बनने पर ही मैं तुम्हारे काम का हो सकता हूँ। तब प्रतिक्षण तुम्हें परमानन्द का अनुभव होगा क्योंकि तुम ही आनन्दरूप हो जाओगे। मैं तुम्हारा सर्वस्व, तुम्हारा ख़ज़ाना हूँ, उसी को तुम खोदकर निकालो। यह कौन कर सकता है? जो पुरुष है वही करता है। पुरुष वह है जो इस बात को जाने कि मैं पुरुष हूँ। पुरी में शयन करने वाला हूँ, पुरी नहीं हूँ—इस बात को जाने तब पुरुष होता है। ॥१५४॥

तत्त्वज्ञान में असमर्थ के लिये आत्मध्यान उपाय है इसे समर्थित करते हैं—

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम्।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१५५॥

अनुभव न होने पर भी 'ब्रह्म हूँ' यही चिन्तन किया जाये। जो है नहीं वह भी जब ध्यान से मिल जाता है तब हमेशा उपलब्ध ब्रह्म ध्यान से मिलेगा इसमें क्या कहना!

अनुभव न होने पर भी 'मैं ब्रह्म' ऐसा चिन्तन करे। समझ में आता है कि हम सच्चिदानन्दरूप हैं परंतु जब तक इसका भान न हो तब तक इसका फायदा नहीं है। अतः जब तक इसका भान न हो तब तक इसका ध्यान करने में उपयोग है। सर्वथा नहीं समझे हुए होगे तो इसका ध्यान भी कैसे करोगे? अनुभव हो गया होता तो मुक्त हो गये होते! जब हम निर्गुण का ध्यान करते हैं तब तक निर्गुण का साक्षात्कार नहीं हो गया। फिर भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा बार-बार चिन्तन करना है। अभी बार-बार स्मरण आयेगा मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं इन्द्रियाँ हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं अल्पज्ञ हूँ, अल्पशक्तिमान हूँ, मैं पापी हूँ, इत्यादि; बार-बार तुमको चिन्तन करना है कि यह सब मैं नहीं, मैं तो ब्रह्म हूँ। ध्यान से तो जो चीज़ सच्ची नहीं होती है उसकी भी प्राप्ति हो जाती है! असत् का अर्थ शून्य है। बौद्ध लोग 'कुछ नहीं' का अर्थात् शून्य का ध्यान करते हैं तो उन्हें शून्यभाव की प्राप्ति हो जाती है। शून्य है नहीं फिर भी उस की प्राप्ति हो जाती है! मूर्ति विष्णु नहीं है, परंतु उसका ध्यान करते-करते एक दिन विष्णु मिल जाते हैं। निर्गुण ब्रह्मरूप से अपना ध्यान करते-करते वहाँ तुमको निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। जो तुम नहीं हो उस भाव को भी जब ध्यान से प्राप्त कर लेते हो तो ब्रह्म नित्यप्राप्त है अतः मिलना अनिवार्य है। जो चीज़ नहीं है वह भी ध्यान से प्रतीत हो जाती है, ब्रह्म तो सचमुच में तुम हो, प्रमाण से सिद्ध होता है कि तुम ब्रह्म ही हो अतः अपनी ब्रह्मरूपता की प्रतीति भी अवश्य होगी। ॥१५५॥

परोक्ष वस्तु के ध्यान तो परिपाक से पूर्व प्रभावी नहीं होते किन्तु आत्मध्यान का प्रभाव अविलम्ब होता है यह रहस्य प्रकट करते हैं—

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद् दिने दिने।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात् पशुर्वद ॥१५६॥

ध्यान करते रहें तो अनात्मा में 'मैं'-बुद्धि प्रतिदिन कम होती जाती है। यह फल अनुभव करते हुए भी जो ध्यान-तत्पर न हो, उससे अन्य पशु कौन होगा!

निर्गुण का ध्यान करते हो तो प्रतिदिन अनात्मबुद्धि अर्थात् शरीर, मन आदि जो अनात्म पदार्थ हैं उनके अंदर तुम्हारा मैं-निश्चय कम होने लग जाता है। सर्वथा हटता तो नहीं है, लेकिन कम हो जाता है। ऐसे समझ लो कि आज से साठ साल पहले हम लोगों में अधिकतर का निश्चय था कि मैं ब्राह्मण हूँ, या मैं क्षत्रिय हूँ इत्यादि। पचास साल से सिखाया गया कि तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय नहीं वरन् इंसान हो। अब उसी का निरंतर चिंतन करते-करते लोग कहते हैं कि आखिर हैं तो हम इंसान ही। यह अकस्मात् नहीं हुआ, पहली पीढ़ी में कुछ और दूसरी पीढ़ी में कुछ अधिक संस्कार पड़े तो तीसरी पीढ़ी को निश्चय हो गया है। बार-बार संस्कार पड़ने से 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह संस्कार चला गया और मैं इंसान हूँ—यह संस्कार आ गया। आगे और भी उन्नति हो सकती है! एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक ने कहा है कि कुत्ते-बिल्लियों को कभी मानसिक रोग नहीं होता है, तो हम कुत्ते-बिल्ली जैसे क्यों नहीं हो सकते? 'Why can't we be normal like cats and dogs?' पहले इंसान बने हो, आगे 'मैं पशु हूँ' ऐसा अभ्यास भी हो जायेगा। पश्चिमी लोग कहते हैं कि पहले हम बंदर थे, फिर पूँछ घिसते-घिसते इंसान बने। आजकल यह उपदेश देते हैं कि तुम आदमी थे, समाज ने तुम्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बना दिया। अधिकतर लोग यह मानने भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लग गये कि यह सामाजिक व्यवस्था है। मनु भगवान् को खूब बदनाम भी किया गया है कि यह मनुवाद है। निरंतर प्रचार का यह नतीजा होता है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह बुद्धि बार-बार बनाने से ब्रह्मभाव की प्रतीति सम्भव है। बीच में याद भी आयेगा कि 'दो दिन से कुछ खाया नहीं है, पेट में चूहे दौड़ने लगे हैं' तो मन में होगा कि 'मैं भूखा हूँ', लेकिन फिर तुरंत ही याद आयेगा कि 'भूख तो प्राण का धर्म है, हूँ तो मैं ब्रह्म ही।' इस प्रकार आत्मनिश्चय स्थिर होता जाता है। यह निरंतर हर साधक अपने में देख सकता है, दूसरे में भी देख सकता है। जो इस मार्ग में चलने वाले हैं वे शरीर आदि में आसक्ति वाले नहीं देखे जाते। यों प्रत्यक्ष फल दीखते हुए भी निरंतर ध्यान या चिंतन नहीं करे तो बताओ, इससे बड़ा जानवर और कौन होगा! ॥१५६॥

प्रकरणार्थ का संग्रह करते हैं

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम्।
पश्यन् मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१५७॥

ध्यान से देह में आत्मबुद्धि नष्ट कर अद्वय आत्मा का साक्षात्कार करते हुए मरणधर्मा अमृत होकर यहीं ब्रह्मभाव पा लेता है।

ध्यान करने से शरीराभिमान नष्ट होता चला जाता है। किसके ध्यान से ऐसा होता है? अद्वितीय आत्मा के ध्यान से। नाम-रूप की प्रतीति होने पर, चाहे देह आदि हो, चाहे पर्वत आदि हो, न देह आदि उसके ब्रह्मभाव में भेद लाते हैं और न पर्वत आदि उसके अंदर द्वैतभाव लाते हैं क्योंकि याद करता है कि ये दोनों अध्यस्त हुए इसमें ही रहते हैं, पैदा होते हैं और इसमें ही अंत में लीन हो जाते हैं। देहादि और बाह्य प्रपंच मुझ आत्मतत्त्व से उत्पन्न हुआ, प्रतीत हुआ और मुझमें ही लीन हो जाता है, इसलिए वह मुझ में द्वितीयता नहीं ला सकता। साधक बार-बार इस चीज़ की तरफ ध्यान देता है तो यह वृत्ति बनती है। 'देह' अर्थात् शरीर इसलिए नामतः कहा कि साधारण से साधारण मनुष्य भी यह जानता है कि शरीर पैदा हुआ है और एक दिन मर जायेगा, मैं न पैदा होने वाला और न मरने वाला हूँ। इसलिए शरीर के अंदर 'मैं हूँ' यह भाव हो ही कैसे सकता है! गलत पाठ पढ़ लिया इसलिए ऐसा लगता है कि मैं शरीर हूँ। अद्वितीय आत्मा को जब तक देहाभिमान है तब तक मरणधर्मा होने का भ्रम और जब यह अभिमान नहीं रहता तो सब अनात्मधर्मों से रहित हो जाता है। यही कारण है कि यहीं, जीते हुए जीवन्मुक्ति का अनुभव हो जाता है। ॥१५७॥

प्रकरण-विचार का फल बताकर उपसंहार करते हैं–

ध्यानदीपमिमं सम्यक् परामृशति यो नरः।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥१५८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचित-पञ्चदश्यां नवमो ध्यानदीपः समाप्तः॥

जो नर इस 'ध्यानदीप' का ठीक-ठीक परिशीलन करता है वह संशय-रहित हो निरन्तर ब्रह्मध्यान में ही तत्पर रहता है।

इस ध्यानदीप प्रकरण को जो भली प्रकार से आगे-पीछे विचार करके समझ लेता है वही फल पाता है। कौन समझेगा? नर ही समझ सकता है। नर का मतलब है 'न विषयेषु रमते इति नरः' जो विषयों में रमण नहीं करता उसे नर कहते हैं। विषयों में रमण करने वाला तो निर्गुण ध्यान को इसलिए नहीं कर सकता कि वह यही सोचेगा कि मेरी कामनायें कैसे पूरी होंगी? पहले ही कहा था कि निर्गुण ध्यान निष्काम के लिए है, सकाम के लिए है नहीं। 'नर' कह कर वही बता दिया। ध्यान से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होगी या नहीं, अथवा मर कर भी प्राप्ति होगी या नहीं इत्यादि संशय को छोड़कर जो नर है वह निरंतर ब्रह्म का ध्यान करता है यह इसके अध्ययन का प्रभाव है। ॥१५८॥

॥ ध्यानदीप प्रकरण पूरा हुआ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दसवाँ
नाटकदीप प्रकरण

नाटक दीख सके यह सम्भव बनाने वाले दीपक को उदाहरण बनाकर आत्मा की परमार्थता का प्रतिपादन करता हुआ दसवाँ प्रकरण प्रारम्भ होता है। त्वम्पदार्थ का शोधन जिनमें प्रधान है ऐसे पाँच दीप-प्रकरणों में यह अंतिम है। तत्त्व का अनुस्मरण-रूप मङ्गलाचरण करते हुए कहते हैं–

परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया।
स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः।।१।।

अद्वितीय, आनन्द और पूर्ण परमात्मा पहले अपनी माया से खुद ही जगत् होकर जीवरूप से उसमें घुसा।

निष्प्रपंच ब्रह्म केवल मौन के द्वारा ही उपदिष्ट हो सकता है। उपनिषदों में प्रसंग आया है–एक ऋषि के पास एक राजा ब्रह्म-विषयक प्रश्न पूछता है। ऋषि कुछ जवाब नहीं देते। राजा ने सोचा, कम सुनते होंगे, तो ज़रा ज़ोर से बोला। फिर भी वे जवाब नहीं देते। अंत में ऋषि ने कहा 'मैं कह तो रहा हूँ पर तू सुन नहीं रहा। ब्रह्म को बतलाने के लिए सिवाय मौन के कुछ नहीं कहा जा सकता।' ब्रह्म के विषय में न मन की, न शब्द की प्रवृत्ति है। न मन से उसे जान सकते हो, न शब्द से कह सकते हो। सनत्कुमारों को जब दक्षिणामूर्ति ने मौन से उपदेश दिया, तब उन्हें ज्ञान हो गया। जो उत्तमाधिकारी है उसे बिना शब्द के उपदेश दे सकते हो, पर मंदाधिकारियों के लिए यह सम्भव नहीं है। सनत्-कुमार समझ गये, परन्तु वह राजा नहीं समझ सका। बिना निष्प्रपंच के ज्ञान के काम चलता नहीं, और निष्प्रपंच का उपदेश मौन से होता है! शिव हैं करुणावतार। उन्होंने सोचा कि मौन व्याख्या से मंदाधिकारियों को तो कुछ लाभ होगा नहीं। अतः उन्होंने प्रक्रिया बनाई 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपञ्च्यते' जो नहीं हुआ है उसका आरोप करो और जब उसको हटाओगे, तब शुद्ध वस्तु का ज्ञान हो जायेगा। जैसे कपड़े का मैल है, उसको हटाने के लिए साबुनरूप दूसरा मैल लगाते हो, वह मैलरूप 'सर्फ' कपड़े के मैल को लेकर पानी से निकल जाता है। सर्फ का लगाना अध्यारोप है। अध्यारोप इसलिए करना पड़ता है क्योंकि पहले संसाररूप अध्यास है। जैसे कपड़ा मैला है, तभी साबुन से धोना पड़ता है। सबसे बड़ा मैल संसार है। वास्तव में संसार कभी है नहीं, पर हमें इसका अध्यास है तो इसे हटाने के लिए शास्त्र अध्यारोप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करता है कि संसार कैसे बना। परमेश्वर से आकाश, आकाश से वायु अर्थात् पर्यावरण हुआ, इत्यादि प्रकार से संसार पैदा हुआ। संसार दीख रहा है, इसलिए बताया कि कैसे पैदा हुआ। क्रमशः अपवाद करते हैं—यह पृथ्वी जल से अतिरिक्त नहीं, जल तेज से अतिरिक्त नहीं; इस प्रकार से अपवादरूप पानी से अध्यारोप सहित संसाररूप मैल को धोते हैं। अंत में आकाश भी नहीं केवल ब्रह्म रहता है। इस तरह, तुमने जो संसार मान रखा था, वह धुल जाता है। अध्यारोप-प्रक्रिया समझने पर ही लय-प्रक्रिया के द्वारा हटेगा। संसार को किसी अन्य ढंग से बना समझते रहे तो उसका निवारण नहीं हो पायेगा। तत्त्वज्ञानियों ने अध्यारोप का क्रम कल्पित किया है, यह वास्तविक नहीं है। शिष्यों के लिये समझने में उपयोगी यह प्रक्रिया है।

'पूर्व' अर्थात् जब तक संसार सृष्ट नहीं हुआ था। हर-एक को स्वभाव से लगता है कि संसार बना। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सृष्टि अनादि है इसलिए इसके बनने की जरूरत नहीं। कुछ लोग साथ में यह भी मानते हैं कि यह सृष्टि चलती रहती है कर्म के द्वारा। कर्म से ही चीज़ें फलभोग के लिए प्राप्त होती हैं। इस तरह कर्म को उन्होंने संचालक माना। सृष्टि-चक्र के प्रारम्भ का कारण कुछ नहीं माना लेकिन सृष्टि की प्रत्येक वस्तु तो उत्पन्न होती है जिसमें हेतु कर्म स्वीकारा। किंतु कर्म भी जन्य ही है। अतः 'पूर्वम्' अर्थात् सब चीज़ों के सामने आने से पहले क्या था? 'अद्वयानन्दपूर्णः परमात्मा।' जब तक ये सब सामने नहीं आये थे, इस संसार का सृजन नहीं हुआ था, तब तक अद्वय तत्त्व था। इसके आने के बाद तो वह सदृश्य हुआ यह कह सकते हो पर उससे पहले तो कोई दूसरा नहीं था। इसलिए श्रुति कहती है 'एकमेवाऽद्वितीयम्' जब दूसरा नहीं था तब क्या वह पत्थर की तरह था? अतः कहा 'आनन्दः' आनंदरूप, सुखरूप था। उसको आनंद नहीं था, उसमें आनंद नहीं था, वह आनन्दरूप ही था। और पूर्ण था। उसने न किसी कमी के कारण यह सृष्टि बनाई, न उसका कोई प्रयोजन था। इसलिए गीता में भी भगवान् ने कहा 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'। कुछ भी ऐसा नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है। कुछ प्राप्त करने योग्य भी नहीं है। जीव या तो किसी चीज़ को प्राप्त करने के लिए कर्म करते हैं, या जो कुछ प्राप्त है उसे हटाने के लिए कर्म करते हैं। यदि लोक-दृष्टि से सोचें कि परमेश्वर ने अमुक काम के लिए सृष्टि की तो ऐसा नहीं। स्वभाव से ही उसने रचना की। अद्वयानंद पूर्ण था, फिर भी स्वमायया अपनी माया से वह जगत् बना। माया बिना किसी हेतु के हुआ करती है। इसलिए 'माया से' अर्थात् बिना किसी हेतु के। स्वयं किसी हेतु से नहीं है पर आगे सब चीज़ों को पैदा करने की सामर्थ्य वाली है। स्वयं माया कुछ भी करने में असमर्थ है किन्तु परमात्मा से सम्बन्धित होकर सब कुछ कर लेती है। उस माया शक्ति से वह स्वयं ही जगत्-रूप से प्रतीत होता है। जिस प्रकार से रस्सी ही साँपरूप से प्रतीत होती है इसी प्रकार जो कुछ है वह ब्रह्म ही है, परन्तु सारे जगत्-रूप में प्रतीत होता है। माया के अलावा और किसी प्रकार से समझ में नहीं आयेगा कि ब्रह्म कोढ़ी, लंगड़ा, लूला किसलिए बना! हम लोग डंडे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के ज़ोर से दुःखी बनाये जाते हैं, परन्तु जानकर तो कोई भी दुःखी होना नहीं चाहता। संसार में दुःखी ज्यादा, सुखी कम ही नज़र आयेंगे। आचार्य शंकर तो कहते हैं कि संसार में सुख असम्भव है। संसार बनाने वाले परमात्मा कह रहे हैं कि संसार 'दुःखालयम्' है, इसमें सुख की गन्ध भी नहीं हो सकती। ऐसा दुःखरूप वह क्यों बना? माया से ही यह सम्भव है, क्योंकि तभी बिना बने बना हुआ प्रतीत हो रहा है। अतः इस प्रकरण में कहा कि जगत् नाटक की तरह खेल है। जैसे भजन करने वाला काम-क्रोध-रहित व्यक्ति रावण बना दिया जाता है। वह हनुमान् जी पर क्रोध करता है, पर वह क्रोधी नहीं है। इसी का नाम नाटक है—बिना रावण हुए, रावण की तरह खेल करना। इसी प्रकार, बिना दुःखी हुए दुःखी की तरह दीखना—नाटक है। नाटक में तुम सचमुच में कुछ नहीं बनते। इसी प्रकार इस संसार में तुम सचमुच में बने नहीं हो। नाटक में दूसरे दर्शक हैं पर यहाँ परमात्मा के सिवाय कोई नहीं है। दर्शक भी वही बन गया—'प्राविशज्जीवरूपतः' जो दीख रहा है वह भी बना, और जो देख रहा है वह भी बना, वही जीवरूप से प्रविष्ट हो गया। उसने जगत् अनेक प्रकार का बनाया है, तदन्तर्गत जितने शरीर बनाये, उन सबमें प्रवेश करता है।।१।।

विचारशील के निश्चय में प्रतिबंधक बनते हैं संशय। अनेक साधकों को संशय न होने पर भी विपर्ययवश निश्चय नहीं हो पाता। उन्हें नित्य-निरन्तर तत्त्वानुसन्धान चलाते रहना उपयोगी है। एक अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व है, इसमें बुद्धि स्थिर क्यों नहीं होती? क्योंकि हमें यह प्रपंच प्रतीत हो रहा है। इसीलिए अध्यारोप करना पड़ता है कि जो प्रपंच प्रतीत हो रहा है वह अद्वितीय ब्रह्म का विरोधी न रहे। इसलिए बतलाया कि अद्वितीय परमात्मतत्त्व, अपनी माया के द्वारा इस सारे प्रपंच की रचना करके, इसमें जीवरूप से प्रविष्ट हुआ। उस परमात्मा ने, अपनी माया के द्वारा इस जगत् को प्रतीत किया है। इसकी प्रतीति होवे इसलिए स्वयं ही जीवरूप से इसमें प्रवेश किया है। प्रश्न उठता है कि यदि उसी ने जीवरूप से प्रवेश किया, तो पूज्य-पूजकभाव कैसे बनेगा? यदि उसी ने प्रवेश किया है तो सब जगह एक जैसा ही हुआ। फिर एक पूज्य है और एक हम हैं पूजा करने वाले—यह भेद कैसे? इसका उत्तर देते हैं—

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत्।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम्।।२।।

विष्णु आदि उत्तम शरीरों में घुसा ब्रह्म देवता हो जाता है, मनुष्य आदि अधम शरीरों में रहता हुआ मरणधर्मा हो जाता है।

मोडक के अनुसार 'मर्त्यताम्' की जगह 'देवताम्' पाठ है। अधम शरीर में रहकर देवता की सेवा करता है—यह अर्थ है।

विष्णु इत्यादि के देहों की उत्तमता है। प्रविष्ट तो उसमें भी परमेश्वर है और तुम्हारे में भी। उस प्रविष्ट परमेश्वर में भेद नहीं है। भेद देहों में है। यहाँ देह का मतलब केवल स्थूल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देह ही नहीं है; सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय; इनमें कोई तो श्रेष्ठ उपाधि है, कोई कनिष्ठ है। भेद चेतन का नहीं है, इन उपाधियों में है। विष्णु आदि उत्तम देह हैं इसलिए उनमें वही परमेश्वर प्रविष्ट हुआ पूज्य देवतारूप से विद्यमान है। मनुष्य आदि अन्य अधम देहों के अन्दर प्रविष्ट हुआ मनुष्यभाव को प्राप्त कर लेता है, पूजक बन जाता है, ध्यान करने वाला हो जाता है और देवता शरीरों में पूज्य हो जाता है। सारे शरीर में मैं एक हूँ, पर मलमूत्र-द्वारों में हाथ लगे तो हाथ धोना पड़ता है। अगर मुँह से कोई गलत बात निकल जाती है या वेदपाठ में स्वर की गलती हो गयी तो दोष-निवृत्ति के लिए कान को हाथ लगाते हैं। एक जगह हाथ लगा तो अपवित्र हो गया, कान में हाथ लगा तो दोष-निवर्त्तक हो गया! पर तुम तो सारे शरीर में एक जैसे हो। यह इसीलिए कि उपाधि का अन्तर है। शरीर में ही कोई पवित्र स्थल, कोई अपवित्र स्थल है। इसी प्रकार सभी में परमात्मा एक-जैसा है। परन्तु विष्णु की उपाधि उत्तम है इसलिए पूज्य है और मच्छर की उपाधि अधम है अतः उसे मार देते हो। भगवान् ने भी कहा कि सबके हृदय में वही ईश्वर है। परन्तु इसका निरन्तर चिन्तन कैसे होवे? व्यवहार में जो भेद दीखता है वह उपाधि के कारण है वास्तविक अभेद है। जीव की उपाधि शास्त्रकारों ने अविद्या बताई। अविद्या एक ही है। इसलिए 'जीवरूप से परमेश्वर ने प्रवेश किया' कहने पर समष्टि जीव ही समझना चाहिए। वही अंतःकरण आदि उपाधि में प्रकट होता है। अविद्या तो विष्णु में और हम में एक जैसी है पर उनका अंतःकरण, सूक्ष्म शरीर उत्तम है, हमारा अधम है। इसलिये एक होने पर भी उपाधिभेद को लेकर पूज्य-पूजकभाव बन जायेगा।। २।।

अध्यारोप बता चुके, अब संक्षेप से अपवाद का संग्रह करते हैं–

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम्।।३।।

अनेक जन्मों में परमेश्वरका भजन करने से (चित्त शुद्ध होने पर) स्व-तत्त्व का विचार करना चाहता है। विचार से माया का बोध हो चुकने पर स्वयं ही बचा रहता है।

अनेक जन्मों तक जीव देवताओं का भजन-उपासना करता है। तब उसके मन में आता है कि 'पूजा करने वाला मैं कौन हूँ?' अनेक जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप अपनी आत्मरूपता का विचार करने की इच्छा भी होती है। अन्यथा, संसार में लोगों को कभी यह जिज्ञासा ही नहीं होती कि मेरा स्वरूप क्या है, मैं कौन हूँ। प्रायः आदमी अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शरीररूप मानकर ही सन्तुष्ट रहता है, निश्चय में बना रहता है। फिर जब कभी विचार आता है तब समझ आता है कि शरीर छोड़कर जाता हूँ, दूसरे शरीर में पुण्य-पाप का फल प्राप्त होता है, इसलिए शरीर से भिन्न कुछ मैं हूँ। वह मेरा स्वरूप क्या है? बुद्धि यहाँ है और आगे भी रहती है। क्या वही मैं हूँ? फिर विचार होता है कि बुद्धिवृत्ति कभी होती है, कभी नहीं होती। और विरुद्ध बुद्धिवृत्तियाँ भी होती हैं, उन सब में मेरा स्वरूप क्या है? जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुभूति इस विचार में प्रवृत्त कराने वाली है वह प्रत्यभिज्ञा है। शरीर-मन सब के परिवर्तन होने पर भी, यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि मैं ही वह हूँ। बाल्य अवस्था में जो मैं था, वही मैं इस वृद्धावस्था में भी हूँ। इसी प्रकार से काम, क्रोध आदि की वृत्तियाँ बदलीं, परन्तु मैं वही हूँ, पहले कामी था, अब क्रोधी हूँ। इस प्रकार जो सब अनुभवों के अंदर अपना अनुवेध दीख रहा है, वही विचार में प्रवृत्त कराता है कि वह कौन है जो इन सब चीजों का अनुभव करने वाला है। तब आत्मविचार में प्रवृत्ति होती है, वरना आदमी अनेक (संसारी) बातों का घण्टों विचार करता है, मैं कौन हूँ?– इसका विचार होता ही नहीं।

जब अनेक जन्मों तक शुभ कर्म करेगा तभी देवताओं की कृपा से बाहरी वृत्तियाँ छोड़कर आन्तरिक विचार की तरफ जायेगा। चिकित्सा के बारे में जानना चाहते हो तो उस शास्त्र की पुस्तकें पढ़ते हो, जो उनको जाननेवाला है उसके पास जाते हो। इसी प्रकार आत्मा को बतलाने वाला शास्त्र उपनिषद् है। जिसने आत्मा का अनुभव किया है, उससे ही उपनिषदों के अनुसार यह विचार मिलेगा। श्रवण से आत्मविचार मिलता है। विचार से समझ आता है कि मैं वह ब्रह्म हूँ जिसने माया के द्वारा यह सारी सृष्टि रची। प्रविष्ट हुआ रूप सच्चा नहीं है, जिसने सारा संसार रचा है वही सत्य है। वही अपना अद्वितीय आनन्दरूप है। जैसे ही यह निश्चय होता है वैसे ही अज्ञान, अविद्या आदि शब्दों से कही जाने वाली माया नष्ट हो जाती है और तब 'स्वयम् शिष्यते', पूर्ण आनन्दरूप बच जाता है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है, वही अवशिष्ट रह जाता है। सृष्टि, प्रवेश आदि करने से रहित जो उसका स्वरूप है वह बच जाता है। यह अपवाद हो गया।। ३ ।।

स्वरूप से बच जाना ही मोक्ष है यह समझाते हैं–

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता।
बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते।। ४।।

अद्वय आनन्दरूप आत्मा की सद्वयता और दुःखिता बन्धन कहलाती है। स्वरूप से रहना मुक्ति कहलाता है।

इस समय ब्रह्म सविशेष है, माया के कार्य वाला है। माया-तत्कार्य से रहित जो उसका शुद्ध रूप, निष्प्रपंच रूप है वही मैं हूँ– यह निश्चयात्मक अनुभव हो जाने पर जीव सारे बन्धनों से छूट जाता है। बन्धनिवृत्ति ही मोक्ष है, चूँकि बन्ध-निवृत्ति ज्ञान से होती है, इसलिये कहा जाता है कि ज्ञान से मोक्ष होता है। मुक्ति तो हमारा स्वरूप है, वह ज्ञान से पैदा नहीं होता। परन्तु बन्धन अज्ञान के द्वारा अध्यारोपित है। ज्ञान से बन्धन की निवृत्ति होती है, इसी से कह दिया जाता है कि मोक्ष हो गया। देश, काल, वस्तु किसी भी प्रकार की सजातीय-विजातीय-स्वगत द्वितीयता जहाँ नहीं है वह आत्मा है। वह सब भेदों से रहित है। आनन्द ही उसका स्वरूप है। ऐसे अद्वितीय आनन्द के अन्दर 'सद्वयत्वं' भेद उपस्थित हो गया। अनेक जड पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनसे विजातीय भेद है। दूसरे जीवादि प्रतीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होते हैं, उनसे सजातीय भेद है। इस प्रकार से जो अद्वितीय है उसमें हमको सद्वितीयता की प्रतीति हो रही है। इन सब से मैं अलग हूँ—यह भी सद्वितीयता का अनुभव है। अनेक सद्वितीयतायें प्रतीत हो रही हैं, यह बन्धन है। प्रवृत्ति मार्ग में संसार को बढ़ाना चाहते हो, अतः जितनी सद्वितीयता बढ़ाओगे उतनी उन्नति मानोगे। एक डाक्टर के स्थान पर अनेक विभिन्न विशेषज्ञ हो जाने को उन्नति मानोगे। सद्वितीयता बढ़ना प्रवृत्ति-मार्ग में उन्नति मानी जाती है। निवृत्ति-मार्ग वाले के लिये इससे विपरीत है। जितनी सद्वितीयता समाप्त हो, उतना ही वह श्रेष्ठ समझेगा। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों में उन्नति एक-जैसी नहीं हो सकती। एक आदमी पहाड़ों में नंगा रहता है, गर्मी-सर्दी सहन करता है। निवृत्ति-मार्ग के लिये वह उन्नत है पर प्रवृत्ति-मार्गी उसको उन्नत नहीं कहेगा वरन् विभिन्न मौसमों के अनुसार अलग-अलग परिधान जिसके पास हैं उसे उन्नत मानेगा। जब बन्धन को बढ़ाना चाहो तब प्रवृत्ति मार्ग पर चलो। जब मोक्ष चाहो तब निवृत्तिमार्ग पर चलो, तभी प्रवृत्ति-उपयोगी व्यर्थ लगेगा। इन दोनों मार्गों का समन्वय हो नहीं सकता। एक साथ गंगोत्री और गंगासागर नहीं पहुँचा जा सकता! निवृत्ति और प्रवृत्ति सर्वथा विरुद्ध मार्ग हैं। बन्धन और मोक्ष का मेल नहीं हो सकता। सद्वयता प्रतीत होते ही दुःखिता सामने आ जाती है। अद्वय वस्तु आनन्दरूप है, सद्वयता दुःखरूप है। सद्वयता भी है ब्रह्म का रूप ही किंतु दुःखी नहीं रहना चाहते हो, इसलिये इसे बन्धन स्वीकारते हो। परमात्मा आनन्दघन है, संसार दुःखालय है। जो कभी थोड़ा-बहुत सुख लग जाता है वह केवल अविवेक के कारण। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि 'सर्वं दुःख विवेकिनाम्'। संसार में जो सुख समझे जाते हैं वे भी विवेकियों की दृष्टि में दुःख ही हैं। अद्वितीय आनन्दरूप के अन्दर सद्वितीयता और दुःखिता की प्रतीति का नाम बन्धन है। जब यह प्रतीति हटकर अद्वयानन्द अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ तब मोक्ष है। फिर दुःखिता की कोई प्रतीति नहीं है। जिसने इस बात को समझ लिया है कि सिनेमा में दो ही चीज़ें हैं, रोशनी और अंधेरा; इस बात को जानने वाला उसे देख कर रोयेगा नहीं। वहाँ अन्धकार और प्रकाश के कारण थोड़ा अन्तर हो सकता है, पर यहाँ तो सर्वथा अद्वितीयता है, एक अखंड प्रकाश के अलावा कुछ है ही नहीं। इसलिये सारा संसार उस तत्त्वज्ञ के लिये नंन्दनवन है। दस मंज़िला मकान उसके लिये बन जाए या भूकम्प में वह गिर जाऐ, वह वैसे ही दोनों को देखकर हँसता है।। ४।।

मोक्षोपाय का निर्धारण करते हैं—

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत्।।५।।

बन्धन अविचार-प्रयुक्त है अतः विचार से हट जाता है। इसलिये हमेशा ही जीव और परमात्मा के बारे में विचार करना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बन्धन क्यों होता है? अविचारकृत ही बन्धन है, विचार नहीं करने से उसकी स्थिति है। यहाँ, विचार नहीं करने वाली स्थिति से अज्ञान की उपलक्षणा समझनी चाहिये। साधारणतः तो 'अविचार' का मतलब 'विचार नहीं', पर 'नहीं' से(अभाव से) कुछ उत्पन्न हो नहीं सकता है! इसलिये अविचार का मतलब अज्ञान है। अज्ञान के द्वारा ही सारा बन्धन है। अज्ञान इसलिये है कि उसे हटाने का उपाय नहीं किया गया है। अज्ञान अनादि है, उसका कारण कुछ नहीं है। अज्ञान ज्ञान से ही हट सकता है। ज्ञान श्रवन-मनन आदि विचार से होता है। अतः जैसे यहाँ अविचार से अज्ञान समझना है, वैसे ही 'विचार' से ज्ञान समझना है। जो सद्वयता और दुःखिता है, वह इसलिये कि हमने इन पर विचार नहीं किया। दुःख क्या है, कौन दुःखी है, मैं कौन हूँ– इस पर विचार किये बिना ही दुःखी होते रहते हैं। विचार करें तो दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं है। इसलिये 'सर्वदा', सब परिस्थितियों में, प्रविष्ट हुआ जीव क्या है, और जो प्रविष्ट हुआ वह परमात्मा क्या है?—इसका विचार कर्त्तव्य है। जीव और परमात्मा का जो स्वरूप है, उसका ही विचार करना चाहिये। जब तक तत्त्वसाक्षात्कार न हो जाये तब तक श्रवण आदि साधन में लगा ही रहे, यह मुमुक्षुका कार्य है। श्रवण किसका? जीव और ब्रह्म इन दोनों को बतलाने वाला जो शास्त्र है उसी का पहले श्रवणरूप विचार करे। क्योंकि शरीर में बैठकर ही विचार करोगे अतः शरीर-रक्षा के लिये जितना आवश्यक है उतना कार्य करते हुए बाकी समय विचार में ही लगाना चाहिये। दूसरी चीजों का विचार न करो, जीव और परमात्मा का ही विचार करो। इसी तरह सजातीय वृत्ति का प्रवाह बनता है। विजातीय वृत्तियाँ न बन पायें इसकी सावधानी रखनी पड़ती है। लगातार ऐसे प्रयास से तत्त्व-साक्षात्कार होता है। संस्कारों की दृढता अपेक्षित है ताकि विपरीत अनुभव विचलन का हेतु न बने।। ५।।

विचारणीय जीवका परिचय देते हैं–

अहमित्यभिमन्ता यः कर्त्ताऽसौ तस्य साधनम्।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते।। ६।।

जो 'मैं' ऐसा अभिमान करता है वह कर्त्ता है। उसका (प्रधान) साधन मन है। मन की क्रियाएँ क्रमशः उत्पन्न होने वाली आंतरिक और बाह्य वृत्तियाँ हैं।

जो 'मैं' ऐसा अभिमान करता है वह कर्त्ता जीव है। अहंकारात्मिका मन की वृत्ति को वह अपना स्वरूप समझता है। 'मैं' यह वृत्ति तो मन की है, और मन स्वरूप से, महाभूतों का विकार होने से, जड है। परन्तु उस मैं-वृत्ति में अध्यास कर लेता है इसलिये आत्मा को 'मैं हूँ' ऐसा बोध होता है। मैं अर्थात् प्रत्यगात्मा तो निरुपाधि है जबकि हमें जो 'मैं' अनुभूयमान है उसमें उपाधि-संबंध स्पष्ट है अतः हम 'मैं' से प्रत्यक् के बजाये अहंकारवृत्ति को समझ रहे हैं। प्रत्यक् और अहंकार, दोनों को 'मैं'-शब्द से कहा जाता है। जब हम 'मैं' कहते हैं, तब एक तो मैं अनुभूति है, वह है वृत्तिज्ञान और यह भी मालूम रहता है कि 'मैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस मैं-अनुभूति को जानने वाला हूँ,' यह प्रत्यक्-स्वरूप का भान है। जो अहंकार के अन्दर अभिमान करता है, अर्थात् चिदाभास-विशिष्ट अहंकार है वह कर्त्ता बनता है। चित् अहंकार को अपने में अध्यस्त कर लेता है तब कर्त्ता बनता है। जड में चेतन का अध्यास भी होता है, और चेतन में जड का अध्यास भी होता है। दोनों में अन्तर है कि चेतन में जड का अध्यास स्वरूप से और जड में चेतन का अध्यास संसर्गमात्र से है। चेतन में पहले अविद्या के द्वारा मन की वृत्ति अहंकार अध्यस्त हुई, फिर उस अहंकार के अन्दर चेतन के संसर्ग का अध्यास हुआ, इसलिये 'मैं चेतन हूँ' ऐसा ज्ञान हुआ। चिदाभास-विशिष्ट अहंकार आगे मन, शरीर, इंद्रियाँ आदि सबसे सम्बन्धित होता चला जाता है और सब को 'मैं' मानता है! शरीर-पर्यन्त अहन्ता का अध्यास हो जाता है। इसलिये लगता है कि 'मैं गोरा हूँ'; गोरा कौन है? शरीर है। 'मैं काणा' अर्थात् इंद्रिय में अध्यास है। 'मैं विद्वान्' इस तरह बुद्धि में अभिमान होता है। सबसे पहले अहम् में अध्यास होता है फिर अहम् के द्वारा सब में अध्यास होता जाता है। यह अहम् ही कर्त्ता है। चिदाभास-विशिष्ट अहंकार ही सब कुछ करता है। कर्त्ता को सदैव साधन चाहिये, जैसे लकड़ी छीलने के लिये बसूला चाहिये। छीलेगा तो बढ़ई, पर बसूले से। इसी प्रकार अहम् कर्त्ता हुआ, इसके पास करण, साधन क्या है? साधन मन है। अन्तःकरण का संकल्प-विकल्प करने वाला भाग मन है। अन्तःकरण का अहम्भाव तो हो गया कर्त्ता। उसकी वृत्ति संकल्प-विकल्प, वह हो गई साधन जिसके द्वारा करेगा। जैसे मैं, कामना के द्वारा, हाथ इंद्रिय को प्रवृत्त करके दूसरे की जेब से पैसा निकाल लेता हूँ। अहंकार सीधा कुछ नहीं करता, उसका साधन मन है। मन की क्रिया क्या है? अन्दर और बाहर के बारे में बनने वाली वृत्तियाँ उसकी क्रियायें हैं। सामने कुछ देखने की इच्छ से हमने आँखों को प्रवृत्त किया तो सामने घड़ा दीखा। यह तो अंतःकरण की बहिर्वृत्ति हुई। और अंतर्वृत्ति वह जो मैं के बारे में बने। ये क्रम से होती हैं।। ६।।

इन दोनों वृत्तियों के स्वरूप को अलग-अलग करके दिखाते हैं–

अन्तर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्त्तारमुल्लिखेत्।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत्।। ७।।

'मैं' यह अन्तर्मुखी वृत्ति है जो कर्त्ता को व्यक्त करती है। 'यह' इस तरह बाहरी चीजों को 'यह' यों पहचानने वाली बहिर्मुखी वृत्ति है।

अन्दर की ओर मुख करने वाली जो वृत्ति है, मैं की वृत्ति, जिसका विषय बाहर नहीं है अन्दर ही है, इस अहंकार की वृत्ति में कर्त्ता बनने का उल्लेख आता है–'मैं करने वाला'। और बहिर्मुखा वृत्ति वह है जो 'यह' यों बाह्य चीज़ें ग्रहण करती है। भीतर-बाहर का विभाजन शरीर की अपेक्षा से समझना चाहिये। 'इदम्' अर्थात् यह; बाहर की सब चीजें यह-रूप से समझ आती हैं, अन्दर की सब चीजें मैं-रूप से समझ आती हैं। जितना विषय-दर्शन है, सब बाह्य ही है। विषय बाहर ही दीखते हैं। शरीर से बाहर जाने पर 'इदंता'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही है। शरीर से बाहर जब किसी को कामी क्रोधी समझते हैं तब भी 'यह कामी, यह क्रोधी' ऐसी ही प्रतीति होती है।। ७।।

बहिर्वृत्ति में इन्द्रियों का योगदान दिखाते हैं–

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः।
असाङ्कर्येण तान् भिन्द्याद् घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम्।।८।।

'इदम्' अर्थात् 'यह' के जो गंध, रूप, रस आदि विशेष, उनका मिलाये-जुलाये बिना भेदपूर्वक ग्रहण घ्राण आदि पाँचों इन्द्रियाँ करती हैं।

मन से ही अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति द्वारा सारा व्यवहार सिद्ध नहीं होता क्योंकि मन की बाह्य वृत्ति तो केवल 'इदम्' का उल्लेख करेगी 'यह'। आगे, यह क्या है? इसका पता अकेले मन से नहीं लग सकता। उसके लिये इंद्रियों की ज़रूरत पड़ती है। 'इदम्' के विशेष हैं–यह सफेद है, यह काला है, यह गरम है, यह ठंडा है, यह ठोस है, यह अच्छी गंध है, यह बुरी गंध है। ये सब 'यह' के भेद हो गये। इन सब भेदों का ज्ञान नाक, आँख इत्यादि जो इंद्रियाँ हैं, उनके द्वारा ही होता है। इन्द्रियों के अपने-अपने नियत विषय हैं, आँखें रूप ही देखती हैं, कान शब्द ही सुनते हैं इत्यादि। अतः ये अपने विषय का मिला-जुला नहीं वरन् अकेले का ग्रहण करती हैं। इंद्रियाँ अपने विषय को ही ग्रहण करेंगी। रूप आदि विशेषों को समझने के लिये इंद्रियों की ज़रूरत पड़ती है। बिना इंद्रियों के मन 'यह' केवल इतना मात्र जानता है, आगे उसके रूप आदि विशेषों को नहीं जान सकता। यह हो गया जीव का स्वरूप। हमेशा अपने जीवस्वरूप का विचार करो। अहंकारात्मिका वृत्ति से विशिष्ट जो मेरा रूप है वही कर्त्ता है तथा मन से करता है। 'इदम्' का ज्ञान होवे तो समझो कि मन की बहिर्वृत्ति है। जब 'मैं कामी, क्रोधी' इत्यादि प्रतीतियाँ होवें तब जानो कि अन्दर के बारे में प्रतीति है। यह हर समय करने का अभ्यास है। जब व्यवहार कर रहे हो तब इस प्रकार का विचार करते रहो। संसार की प्रवृत्ति में न जाने के लिये यही उपाय है। जब तुम अपने अहंकार-स्वरूप का मनन करोगे तब तुम को धीरे-धीरे लगेगा कि 'यह अहंकारात्मिकावृत्ति कर रही है, मैं नहीं'। बिना विचारे तो 'मैं कर्त्ता' का भाव बढ़ता ही जाता है। विचार से पता लगता है कि 'अध्यास से कर्त्ताभाव है, सचमुच में मैं करता हूँ नहीं। यह मेरा स्वरूप नहीं है, अहंकारात्मिका वृत्ति के साथ जुड़ने से प्रतीत हो रहा है।' यह विचार ऐसा है कि भोजन का कौर खाते हुऐ भी किया जा सकता है कि 'जीभ चख रही है, मन की वृत्ति बन रही है, उस वृत्ति को बनाने वाली अहंकारात्मिकावृत्ति है। वह चित् से युक्त बन रही है'। इतना विचार करोगे तो रसगुल्ले का स्वाद उड़ जाएगा! जब व्यवहार आदि करते हो तब यह अभ्यास करो।। ८।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिस समय व्यवहार नहीं कर रहे हो, तब साक्षिरूप परमात्मा का विचार करना चाहिये—

कर्त्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि।
स्फोरयेदकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः।। ९।।

कर्त्ता (अहंकार), क्रिया (मनोवृत्तियाँ) एवं अलग-अलग विषय—सभी को एक-साथ प्रकाशित करने वाला चित्स्वरूप वेदान्त शास्त्र में साक्षी कहा जाता है।

कर्त्ता अर्थात् चिदाभास-विशिष्ट अहंकार, क्रिया अर्थात् अन्दर के बारे में मैं-रूप और शरीर से बाहर के बारे में इदम्-रूप वृत्तियाँ और वृत्तियों के जो व्यावृत्त परस्पर विलक्षण विषय हैं—सभी को साक्षी प्रकाशित करता है। रसगुल्ले को आँख से सफेद जाना, जीभ से मीठा जाना, त्वक् के द्वारा कोमल जाना; ये सब इंद्रियों के व्यावृत्त विषय हैं। साधारणतः तो लगता है कि रसगुल्ले का ही एक ज्ञान है पर विचार से पता चलता है कि अनेक अनुभवों का पुंज रसगुल्ला-ज्ञान है। कर्त्ता, क्रिया और विषय सब अलग-अलग हैं, एक प्रयत्न से अर्थात् एक साथ ही जो इन सबको व्यक्त करता है वह साक्षी है। उसका स्वरूप चैतन्य ही है। व्यवहार-काल में साक्षी को ही चिद्रूप देखना है।। ९।।

एक-साथ प्रकाशन ही प्रकट करते हैं—

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम्।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत्।। १०।।

देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, सूँघ रहा हूँ, चख रहा हूँ, छू रहा हूँ—यों साक्षी सभी को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे नृत्यशाला में रखा दीपक वहाँ के सब लोगों को एक-साथ प्रकाशित करता है।

यद्यपि सूक्ष्म विशेषों के बारे में सावधानी-पूर्वक क्रम से ही प्रकाश होता है तथापि समूचे विषय का अनुभव ऐसा होता है जिसमें उसके बारे में सभी तरह के ज्ञान एकत्र हो जायें। रसगुल्ले के स्पर्श आदि क्रम से पता चलने पर भी रसगुल्ले की पूरी जानकारी में रूप-रस आदि सब साक्षी को एक-साथ भासते हैं। अंधेरे कमरे में अचानक बिजली जले तो सभी चीज़ों पर एक-साथ रोशनी पड़ती है, सभी एक-साथ दीख जाती हैं, उनके भासित होने में कोई क्रम नहीं होता, इसी तरह साक्षी इकट्ठे सब को प्रकाशित कर देता है। नृत्यशाला, रंगमंच को प्रकाशित करने के लिये जो दीपक जलाया जाता है वह वहाँ जो कोई है सभी को इकट्ठे ही प्रकाशित करता है, ऐसे ही देखना-सुनना-सूँघना-चखना-छूना—सभी को साक्षी इकट्ठे ही प्रकाशित करता है। 'अहं' अर्थात् कर्त्ता, 'सर्वम्' अर्थात् विषय और 'ईक्षे' इत्यादि अर्थात् दर्शन—यों त्रिपुटी का प्रकाश साक्षी से हो जाता है। द्रष्टा व दर्शन को अन्तर्वृत्ति से विषय करता है, यह फ़र्क है लेकिन प्रकाशन एक-साथ होता है। 'मैंने घड़ा जाना' यह इकट्ठे ही पता लगता है।। १०।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दृष्टान्त को और स्पष्ट करते हैं–

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ।। ११।।

नृत्यशाला में रखा दीपक प्रभु, सभ्य और नर्तकी, सब को बिना पक्षपात के प्रकाशित करता है। उन सबके न रहने पर भी जलता ही रहता है।

नृत्यशाला में जो दीपक है वह मालिक, राजा को जैसे प्रकाशित करता है वैसे ही अन्य दर्शकों को भी। ऐसा नहीं की मालिक को ज़्यादा प्रकाशित करे! जो वहाँ दर्शक बैठे हैं, उन सब को और जो नाचने वाली, नाटक करने वाली है उसे बिना कोई भेद किये, समानरूप से ही प्रकाशित करता है। चाहे राजा उठ कर चला जाये तब भी वैसा ही प्रकाश रहता है। नर्तकी और अन्य सबके उठकर जाने पर भी, उस अभाव में भी दीपक तो जलता ही रहता है। इसी प्रकार जब सब नहीं रहते तब 'सब नहीं हैं' इसी बात को साक्षी प्रकाशित करता रहता है। गहरी नींद में यह प्रकाश स्पष्ट होता है। उठकर यही कहते हो 'मैंने कुछ नहीं जाना'। हम कहते हैं कि 'मैंने घड़े को जाना' तो मतलब है, 'मैं घड़े को जान रहा था'। जब कहते हैं 'मैंने कुछ नहीं जाना' तो इसका मतलब है कि 'मैं कुछ नहीं को जान रहा था'। सब चीज़ें नहीं रहती हैं तब भी साक्षी वैसा का वैसा प्रकाशमान रहता है। जब प्रवृत्ति कर रहे हो तब व्यवहार में इन सब चीजों का ध्यान रखना चाहिये। कौन करने वाला है, किससे करता है इत्यादि विचार करने से विषयों में नहीं फँसते। इस प्रकार कर्त्ता को जानकर फिर जैसे ही करना खत्म हुआ, वैसे ही सारे को इकट्ठे ही साक्षी प्रकाशित करता है, कि 'मैंने यह सब कर लिया' इस प्रकार साक्षिभाव का प्रकाश स्पष्ट हो जाता है। जब कुछ भाव नहीं है तब साक्षी 'कुछ भाव नहीं है', इसको प्रकाशित करता है। यह अभ्यास हमेशा सब व्यवहारों में किया जा सकता है।। ११।।

दृष्टान्त के प्रभु इत्यादि को दार्ष्टान्त में घटाकर बतलाते हैं–

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्।।१२।।

अहंकार, बुद्धि और विषयों को साक्षी प्रकाशित करता है। अहंकारादि न रहने पर भी खुद तो साक्षी पहले की ही तरह भासमान रहता है।

इस सब खेल का मालिक कौन है? अहंकार। जब तक अहंकार रहेगा तभी तक ये मन आदि सब अपना-अपना काम करेंगे। मालिक है अहंकार, प्रभु की जगह और धी, अन्तःकरण उसका साधन है। जैसे वहाँ प्रभु, सभ्य और नर्तकी वैसे यहाँ अहंकार, बुद्धि और विषय हैं। जैसे नर्तकी नाचने वाली है वैसे ही विषय परिवर्तित होते रहते हैं। जैसे सभ्य नर्तकी को देखते रहते हैं, वैसे ही मन की वृत्ति विषयों को देखती रहती है। यद्यपि आगे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुद्धि को नर्तकी कहेंगे तथापि यहाँ ऐसा समझने से भी मूल अभिप्राय से कोई विरोध नहीं आता। जब अहंकार आदि नहीं रहते हैं तब भी साक्षी रहता है जैसे सुषुप्ति में, अथवा जाग्रत् में भी, जब थक करके चूर हो जाता है आदमी तब कुछ होश नहीं रहता। इन सब के अभाव में भी पूर्ववत्, अर्थात् अहंकारादि रहते जैसा भासता था वैसा ही वह साक्षी प्रकाशमान तो बना ही रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता।। १२।।

बुद्धि से स्वतंत्र साक्षी सिद्ध करते हैं–

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा।।१३।।

कूटस्थ के ज्ञप्तिरूप से निरन्तर भासमान रहते उसके प्रकाश से प्रकाशित होती यह बुद्धि अनेक तरह से नाचती है।

कूटस्थ निरन्तर भास ही रहा है। 'भास रहा' का मतलब यह नहीं कि किसी दूसरे को पता चल रहा है। वरन् स्वयं ही ज्ञानरूप से उपस्थित है। जैसे दीपक निरन्तर जल रहा है, प्रभु आदि आ गये तब दीपक प्रकाशक की तरह दिखता है। सब नहीं हैं तो केवल प्रकाशरूप रहता है। कूटस्थ मायने साक्षी। कूटस्थ इसलिये कहा कि इन सब चीजों के बदलने पर भी यह नहीं बदलता है। निरन्तर कैसे भासमान है? 'ज्ञप्तिरूपतः', ज्ञान-रूप से ही निरन्तर प्रकाशित है। हम लोग प्रकाश, भास आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो भ्रम होता है कि आत्मा कोई रोशनीरूप होगी! किंतु 'प्रकाश' का मतलब रोशनी से नहीं है। जैसे प्रकाश जो चीज़ जैसी है उसे वैसा प्रकट करता है, ऐसे ही जो चीज़ जैसी है उसको ज्ञान वैसा प्रकट करता है। इसी का नाम ज्ञान है। उस कूटस्थ के प्रकाश से प्रकाशित हुई बुद्धि अनेक प्रकार से नाचती है। बुद्धि को जब साक्षी से प्रकाश मिला था तो प्रकाशित हुई वह 'यह घड़ा, यह कपड़ा' इस प्रकार से विभिन्न आकार लेती रहती है। बिना कूटस्थ से प्रकाश पाये नहीं नाचेगी, प्रकाश से ही नाचेगी। बुद्धि की वृत्ति घटाकार बनने का मतलब होगा कि घट के अज्ञान का नाश होगा। अज्ञान का नाश बिना ज्ञान के हो नहीं सकता। इसलिये बिना प्रकाश के खाली वृत्ति बन सके ऐसा नहीं है। कूटस्थ का प्रकाश बुद्धि में आता है अहंकार से युक्त होकर। अर्थात् कूटस्थ से सीधे अहंकार प्रकाशित होता है, उसके माध्यम से अन्यान्य बुद्धिवृत्तियाँ प्रकाशित होती हैं। बुद्धि जड है, विकारों वाली है, कभी उत्पन्न होगी, कभी नष्ट होगी। अनित्य ज्ञान तो बुद्धि के जन्म-नाश से संगत हैं और निर्विकार एकरस निरन्तर रहता ज्ञान कूटस्थ का स्वरूप है। अतः केवल बुद्धि या जन्यज्ञान मानकर ही व्यवस्था नहीं बन सकती, उससे स्वतंत्र कूटस्थ स्वीकारना पड़ता है जो स्वप्रकाश, नित्य ज्ञानरूप है।। १३ ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दार्ष्टान्त ही और स्पष्ट करते हैं–

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः।।१४।।

अहंकार प्रभु है, विषय सभास्थित प्रेक्षक हैं, बुद्धि नर्तकी है, इंद्रियाँ ताल आदि वाद्य बजाने वाले हैं, साक्षी सबको प्रकाशित करता दीपक है।

प्रभु कौन होता है? अगर नर्तकी ने अच्छा नृत्य किया तो उसको अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि 'मैंने कितना अच्छा नाच करवाया'। यदि ख़राब नृत्य करती है तो विषाद करता है। भोग जिसे हो वह प्रभु होता है। इसी प्रकार यदि बुद्धि सुखद अनुभव करती है तो अहंकार को हर्ष होता है। यदि बुद्धि को दुःखद अनुभव होता है, तो अहंकार विषाद करता है। इसे श्रुति ने कहा है कि 'मैंने अच्छा क्यों नहीं किया और मैंने बुरा क्यों किया' ये हर्ष और विषाद जिसको होते हैं वही अहंकार है। अहंकार के द्वारा ही मालिक की तरह सारे कर्म किये जाते हैं। नाटक करने वालों ने नाटक किया, देखने वालों ने देखा, परन्तु अभिमान करने वाला राजा मालिक ही है। व्यापार अच्छा हुआ, लोगों को धन मिला, प्रसन्नता मालिक को हुई। और नुकसान हुआ तो भी मालिक को ही विषाद हुआ। इसी प्रकार से हमारे सारे कामों में अच्छे-बुरे का अभिमान जिसे होता है वह अहंकार है। जो दूसरे लोग दरबार में नृत्य देख रहे हैं वे सभ्य कहलाते हैं। वे देखते तो हैं, 'मैंने अच्छा या बुरा नृत्य कराया' ऐसा भाव उनमें नहीं आता है। इसी प्रकार रसगुल्ला खाकर मुझे तो मज़ा आया, पर रसगुल्ला प्रसन्नता आदि से रहित है। पुराना खट्टा रसगुल्ला खाया तो मुझे दुःख होगा, पर रसगुल्ले को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। सुख-दुःख तो किसी न किसी विषय से होगा, पर विषयको नहीं होगा। यद्यपि मैं भी ज़रूरी और विषय भी ज़रूरी, पर विषय को सुख-दुःख नहीं होता है, 'मैं' को होता है। नाटक को सभ्य भी वैसा ही देखते हैं जैसा प्रभु देखता है लेकिन उन्हें अभिमान नहीं होता। इसी तरह जड होने के कारण विषयों को भी अभिमान नहीं होता। इसलिये वे सभ्य-स्थानीय हैं। नाचने और अभिनय करने वाले लोग जैसे विकार वाले बनते रहते हैं वैसे ही यह बुद्धि तरह-तरह के विकारों वाली बनती रहती है। इंद्रियाँ ताल देने वालों की तरह हैं। जैसे तालधारी, तबलची आदि वाद्य बजाता है, उसके अनुसार नर्तकी के पैर सम पर आकर स्थिर होते हैं; उसी प्रकार से इंद्रियाँ जब विषयों को देखती हैं तब बुद्धि नाचती है।

ये सब तो अलग-अलग काम करेंगे, लेकिन दीपक सभ्य प्रभु और नर्तकी को भी दिखायेगा और वे नहीं रहें तो खाली शाला को प्रकाशित करेगा। इसी प्रकार साक्षी अहंकार को, विषयों को, इंद्रियों को और बुद्धि को भी प्रकाशित करता है। यह दीपक की जगह हो गया। जब कभी भी व्यवहार-भूमि में हो तब अहंकार के अन्दर प्रभु की दृष्टि करनी है, विषयों के अन्दर सभ्यों की दृष्टि करनी है। साक्षी इन सब को प्रकाशित कर रहा है। बार-बार ऐसा सोचकर फिर साक्षी में स्थित होना है। साक्षी में आने की यह विधि बतला रहे हैं।। १४।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहङ्कारादि जन्य, परिवर्तनशील वस्तुओं का प्रकाशक होने पर इनसे सम्बद्ध होते रहने पर साक्षी भी विकारी होगा– यह सम्भावना आती ही। उदाहरण में जैसे दीपक भी उत्पन्न आदि होता ही है, हिलता-डुलता भी है। आधुनिक वैज्ञानिक तो प्रकाश का गमन भी मानते हैं अतः वस्तुओं को क्रम से प्रकाशित भी कह सकते हैं। ऐसे ही साक्षी में विकार न माने जायें इसलिये समझाते हैं–

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद् यथा।
चिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत्।। १५ ।।

अपनी जगह पड़ा दीपक जैसे सब ओर प्रकाशित कर देता है वैसे स्थिर और स्थायी साक्षी बाहर भीतर सब प्रकाशित करता है।

सिद्धान्त के अनुसार वह्नि व्यापक है अतः सर्वत्र प्रकट ही होगी, इसके गमनागमन का प्रसंग नहीं, लौ आदि ही उत्पन्न, नष्ट, चंचल आदि हो सकती हैं, प्रकाशरूप वह्नि नहीं। इसी तरह साक्षी निर्विकार है। स्थिर से चांचल्यादि विकारों का निषेध है, स्थायी से जन्म-नाश का निषेध है। घड़ा जाना तो साक्षी उसे प्रकाशित करता है, इससे लगता है कि साक्षी में अन्तर आया, पहले घड़े को प्रकाशित नहीं कर रहा था, अब किया; किंतु साक्षी पहले भी अज्ञातरूप उसे प्रकाशित कर ही रहा था इसलिये साक्षी में अन्तर नहीं आया, घड़े में ही अज्ञातता हटना और ज्ञातता आना यह अन्तर आया। साक्षी नित्य होने से स्थायी है और स्वरूप से विभु होने से स्थिर है। बाह्य विषयों को प्रमाता के द्वारा एवं आन्तर विषयों को अज्ञान के द्वारा वह प्रकाशित करता है। बहिर्मुख या अन्तर्मुख जैसी वृत्ति होगी तदनुसार साक्षी अर्थों का प्रकाशक हो जायेगा, स्वयं वह निर्विकार चिद्रूप ही है।। १५ ।।

आत्मरूप साक्षी व्यापक है तो बाहर-भीतर का भेद कैसे? यह समझाते हैं–

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहङ्कृतिः।।१६।।

बाहर-भीतर का यह विभाजन शरीर की अपेक्षा से है, साक्षी में नहीं है। विषय बाहरी स्थान में मौजूद हैं और शरीर के अन्दर अहंकार है।

'बाहर-अन्दर को प्रकाशित करता है,' सुनने से साक्षी के बहार और अन्दर, यही प्राप्ति होती है। अर्थात् साक्षी अपने अन्दर को और बाहर को भी प्रकाशित करता है। किंतु 'अनन्तरम् अबाह्यम्' आदि वाक्यों के द्वारा साक्षी में किसी प्रकार का अन्दर-बाहर का भेद नहीं है। इसलिये बाहर-अन्दर का जो विभाग है वह शरीर की दृष्टि से है। शरीर के बाहर-अन्दर को प्रकाशित करता है–यह तात्पर्य है। साक्षी तो सब जगह एक जैसा ही है। घट-पट आदि विषय बाहर हैं क्योंकि शरीर से बाहर हैं और शरीर के अन्दर मैं-शब्द से कहा जाने वाला अहंकार कहा जाता है। 'अन्दर की तरफ प्रकाशित करता है' अर्थात् मैं को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशित करता है, कर्त्ता को प्रकाशित करता है। और बहार अर्थात् घट-पट आदि विषयों को प्रकाशित करता है।। १६ ।।

पहले 'मैं' यह भीतर का ज्ञान होता है फिर 'घड़े को जान रहा हूँ' यह बाहर का ज्ञान होता है, इससे लगता है कि ज्ञान करने वाला साक्षी भीतर से बाहर जाता है तो स्थिर कैसे? इसका उत्तर देते हैं–

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा।। १७।।

शरीर में स्थित बुद्धि इन्द्रियों के साथ बार-बार बाहर जाती है। प्रकाश्य उस बुद्धि की चंचलता व्यर्थ ही साक्षी पर आरोपित की जाती है।

अन्दर स्थित जो बुद्धि वही तो इंद्रियों से जुड़कर बाहर जाती है, साक्षी जाता नहीं, भ्रमसे समझते हैं कि साक्षी बाहर गया है। 'अक्षैः सहैव,' मन बिना इन्द्रियों की सहायता लिये शरीर से बाहर नहीं जाता। कुछ विचारक योगादि के प्रभाव से मन में बिना इन्द्रियों के सहारे भी दूर जाने की सामर्थ्य मानते हैं किंतु वेदान्त में मनोवृत्ति की तरह अविद्यावृत्ति से भी अनुभवों को समझा जाता है अतः जहाँ इंद्रियों के बगैर दूरादि का अनुभव हो वहाँ अविद्यावृत्ति मानी जाती है। अबाधित अनुभूति भ्रम नहीं होती अतः योगसिद्धि से हुआ ज्ञान सही हो सकता है। बुद्धि तो इंद्रियों के साथ ही बाहर जाती है। 'पुनः पुनः' बार-बार जाती है, दिनभर विषयों का ही दर्शन होता रहता है! एक तो इंद्रियाँ बहिर्मुखी हैं, दूसरा मन में विषयों के प्रति आकर्षण है, तीसरा विभिन्न इंद्रियादि से ग्रहण किये बिना विषयों का साकल्येन निश्चय नहीं होता इसलिये बार-बार बुद्धि को जाना पड़ता है। बुद्धि के साथ चिदाभास भी बाहर जाता है यह समझ लेना। साक्षी के द्वारा बुद्धि भास्य है, जानी जाती है। बुद्धि चंचल है। इस बात को साक्षी देखता है, साक्षी में तो वह चांचल्य नहीं है परन्तु उसके ऊपर आरोपित हो जाता है! चंचल बुद्धि को साक्षी प्रकाशित करता है, और उस प्रकाशन से ही हमें साक्षी का भान होता है इसलिये हम मान लेते हैं कि यह चंचलता साक्षी की है। यह आरोप वृथा, निरर्थक, निराधार है लेकिन हो जाता है। जो प्रकाश करने वाला भासक है, जानने वाला है, उस पर प्रकाश्य की चंचलता आरोपित हो जाती है।। १७।।

बुद्धि जानी जा रही है, उसकी चंचलता का आरोप जानने वाले साक्षी में हो रहा है– यह कैसे समझा जाये? भास्य के चांचल्य का आरोप प्रायः भास्य पर ही होता है, भासक पर नहीं अतः दृष्टांत से समझाते हैं–

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षाद् आतपोऽचलः।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा।।१८।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात् करोतीव तथा तथा।।१९।।

गवाक्ष से घर के अन्दर आयी थोड़ी रोशनी होती स्थिर है पर उसमें हाथ नचाने पर जैसे रोशनी नाचती-सी लगती है, वैसे साक्षी अपने स्थान पर स्थित है, बाहर-भीतर जाना-आना नहीं कर रहा लेकिन बुद्धि की चंचलता से लगता है मानो गमन-आगमन कर रहा हो।

पुराने घरों में इतनी खिड़कियाँ नहीं बनती थीं, केवल छोटे गवाक्ष या छेद होते थे जिनमें से सूर्य का प्रकाश आता था। उसमें से आता प्रकाश एक लम्बे दण्ड-सा दिखाई देता है। वह प्रकाश अचंचल है। पर उसमें अपनी अंगुलियाँ हिलाओ तो लगता है कि प्रकाश हिल रहा है! यहाँ नाच तो रही है भास्य अंगुली, उससे प्रतीत हो रहा है कि भासक प्रकाश नाच रहा है। इसी प्रकार भास्य बुद्धि नाच रही है और लगता यह है कि प्रकाशरूप साक्षी नाच रहा है। इसी तरह भासक प्रकाश के ऊपर भास्य के चांचल्य का आरोप देखा जाता है। 'नृत्यतीव' से कहा कि सचमुच में उसमें कोई हिलना-डुलना नहीं है, वह अचंचल है, लेकिन चलते हुऐ की तरह प्रतीत होता है। इसी प्रकार साक्षी बुद्धि के कारण चंचल प्रतीत होता है परन्तु है वह एक-जैसा; वह अपने स्थान में स्थित है। साक्षिभाव तभी तक रहता है जब तक मूलाज्ञान है। उसके बाद न साक्ष्यभाव है न साक्षिभाव है। जैसा स्वरूप है वैसा ही रह जाता है । मूलाविद्या से आवृत रहते ही आत्मा साक्षी है। इसलिये उसको निजस्थान कह दिया। उसका अपना स्थान हुआ अविद्या। जो जहाँ नियम से रहता है वही उसका स्थान है। साक्षिता का प्रयोजक होने से अविद्या को स्थान कहा। मोडक ने माना है कि वह अविद्या भी जहाँ रहती है उस ब्रह्म को साक्षी के रहने का स्थान समझना चाहिये। सर्वाधिष्ठान होने से वैसा कहना भी बन जाता है। साक्षी अविद्या में स्थित है, उसका आना-जाना, हिलना-डुलना कुछ नहीं है। बाहर, अर्थात् घट आदि स्थल में भी साक्षी का जाना नहीं है; और अहंकार के स्थल पर भी जाना नहीं है। वह बाहर-अन्दर कहीं जाता-आता नहीं है। लेकिन चूँकि बुद्धि चंचल है, कभी अन्दर अर्थात् अहंकार के बारे में बनती है, कभी बाहर अर्थात् घट-पट आदि की तरफ जाती है, इसलिये वह साक्षी जाते हुए की तरह प्रतीत हो जाता है। बुद्धि की चंचलता से साक्षी पर चंचलता का आरोप हो जाता है। ॥१९॥

'निजस्थान' ही स्पष्ट करते हैं–

न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः।।२०।।

साक्षी न बाहरी है न भीतरी, बाहर-भीतर दोनों बुद्धि के स्थान हैं। बुद्धि आदि सभी कुछ प्रतीत होना बंद होने पर साक्षी जहाँ भासता है वहीं है।

पूर्व श्लोक में कहा 'अपने स्थान में स्थित'; इसका मतलब हुआ कि साक्षी किसी स्थान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में है। जैसे जब कहते हैं कि साक्षी नित्य है तब प्रतीति यह होती है कि सब कालों में है। वस्तुस्थिति यह है कि काल उसमें कल्पित है! इसलिये काल उसका परिच्छेद नहीं कर सकता। परन्तु प्रतीति हो जाती है कि सब कालों में है जबकि है वह कालातीत, इसलिये वह किसी काल में नहीं है, सारे काल ही उसमें हैं। ऐसे ही जब कहते हैं कि वह अन्दर-बाहर सब को प्रकाशित करता है, तब लगता है कि वह किसी देश में है। सर्वव्यापक है सुनकर प्रतीति हो जाती है कि वह सब देशों में हैं। परन्तु वह सब देशों में नहीं, सब देश उसमें कल्पित हैं। ऐसे ही कहते हैं कि परमेश्वर सब के हृदय में है, तो प्रतीति हो जाती है कि परिच्छिन्न हृदय कै अन्दर वह है। पर वास्तव में सब हृदय उसमें कल्पित हैं। देश काल और वस्तुओं के परिच्छेद उसमें नहीं हैं क्योंकि वह देशातीत, कालातीत, वस्तुओं से अतीत है। स्थानपरिच्छिन्नता के भ्रम को हटाने के लिये कहते हैं कि साक्षी न बाहर है, न अन्दर है। आत्मा को 'अन्दर' शास्त्रों में केवल इसलिये कहा है कि अन्दर की तरफ जाने से उसकी उपलब्धि होती है। बाहर से वृत्ति हटाकर, अन्दर की तरफ ले जाने के उद्देश्य से कहा जाता है कि वह हृदय-देश में है, सबके अन्दर है इत्यादि। साक्षी न शरीर के बाहर है न अन्दर है। फिर अन्दर-बाहर कैसे कहा जाता है? इसलिये कि अन्दर और बाहर दोनों बुद्धि के देश हैं। बुद्धि बाहर जाती है तो बन्धन बढ़ता है, जब अन्दर आती है तब मनुष्य मोक्ष की तरफ प्रवृत्त होता है। जब बुद्धि बाहर जाती है तब लगता है साक्षी बाहर है, जब अन्दर आती है तब लगता है साक्षी अन्दर है।

फिर साक्षी का निज स्थान कौन-सा है? बुद्धि, मन, इंद्रियाँ ये सब जब शान्त हो जाते हैं अर्थात् इनकी प्रतीति नहीं होती तब जहाँ भासे वहाँ साक्षी है। बुद्धि आदि की प्रतीति घट-पट आदि की तरह तो होती नहीं है, इनकी क्रियाओं की प्रतीति से इनकी प्रतीति माननी पड़ती है। जैसे आँख की प्रतीति हम लोगों को नहीं होती। पर देखना-रूप क्रिया से मान लेते हैं कि हमारी आँखें हैं। सुनने की क्रिया से मान लेते हैं कि श्रवणेन्द्रिय है। अतः मन, बुद्धि, इंद्रियों की प्रतीति न होने का मतलब है इनकी क्रियाओं की प्रतीति का न होना। विचार करते-करते चित्त एकाग्र होता चला जाता है। अंत में विचार करने की भी प्रतीति नहीं रह जाती, कर्त्तापने की भी प्रतीति नहीं रह जाती। ये सब शान्त हो जाते हैं। इनको शान्त दोनों तरीके से किया जा सकता है; एक, प्राणायाम के द्वारा दीर्घ कालीन कुम्भक के अभ्यास से मन, बुद्धि, इंद्रियाँ– ये सब अपना कार्य नहीं करते। अतः इनकी प्रतीति नहीं होती। दूसरा उपाय है कि किसी एक चीज़ पर मन को एकाग्र करते चले जाओ, धीरे-धीरे मन की प्रतीति भी हट जाती है। इंद्रियों की प्रतीति तो पहले ही हट जाती है। अथवा श्रवण-मनन को लगातार करते-करते मन एकाग्र हो जाता है। हर हालत में, बुद्धि-मन-इंद्रियाँ शान्त हो जाती हैं ऐसी स्थिति चाहिये। जब इन सब की कोई भी क्रिया नहीं रह जाती, जब ये शान्त हो जाते हैं, तब वहाँ साक्षी 'अस्ति' और 'भाति' है भी और इसका भान भी होता है। भान इसलिये होता है कि बुद्धि आदि अंतःकारण की क्रियायें तो सब शान्त हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गई, कोई वृत्ति नहीं है, परन्तु अन्तःकरण अभी है। इसलिये अन्तःकरण में प्रतीति हो जाती है।

सुषुप्ति के अन्दर भी बुद्धि आदि अशेष अर्थात् सब शान्त तो हो जाते हैं, पर वहाँ खुद अन्तःकरण ही नहीं अतः भान नहीं होता। भान होने के लिये किसी-न-किसी आलम्बन की ज़रूरत होती है। जैसे भौतिकी के जानकार बताते हैं कि यदि प्रकाश्य कुछ न होवे तो प्रकाश की प्रतीति नहीं होगी भले ही प्रकाश है सही। इसलिये अन्तरिक्ष में चले जाते हो, तो घोर अन्धेरा दीखता है। सूर्य का प्रकाश तो आ रहा है, पर अंधेरा दीखता है। अंधेरा नहीं है, तुम हाथ या डंडा कुछ भी बाहर निकालो तो वह दिखता है! जैसे प्रकाश व्यक्त होने के लिये प्रकाश्य की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार से ज्ञानस्वरूप साक्षी अन्तःकरण के ऊपर जब पड़ता है तब उसका प्रकाश ज्ञात होता है। प्रकाशस्वरूप तो साक्षी है, लेकिन अंतःकरण हो, उसकी वृत्ति हो, कुछ-न-कुछ हो तभी उसमें वह प्रकाश पड़ेगा। अतः अन्तःकरण स्वरूप से शांत नहीं हो जाना चाहिये तब साक्षी भासेगा। वह भी शांत हो जाये तो नींद आ जायेगी। वहाँ वह है भी और प्रतीत भी होता है। दोनों इसलिये कहे कि अन्तःकरण जब शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्ति में, तब भी साक्षी है तो सही, पर उसका भान नहीं होता। यह याद रखना चाहिये कि ब्रह्म या साक्षी, जगत्-भ्रम का नाशक नहीं है। ठीक जैसे रस्सी सर्प के भ्रम को नष्ट नहीं करती। रस्सी का *ज्ञान* सर्प के भ्रम को नष्ट करता है। परमात्मा भ्रम का नाशक नहीं है। परमात्मा का ज्ञान भ्रम का नाशक है। ज्ञान ही अज्ञान को हटायेगा अत एव बंधननिवृत्तिका एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञान है, इसके बिना अज्ञान नहीं मिट सकता।

गीता में स्पष्ट कर दिया कि परमेश्वर भक्ति का क्या फल दे सकता है, 'ददामि बुद्धियोगं तम्'। सभी योगों का अन्तिम फल मैं ज्ञानयोग देता हूँ, ज्ञानयोग के अभ्यास से ही साधक मुझे प्राप्त करते हैं। दूसरे साधन ज्ञानयोग की सहायता करने वाले हैं। कर्मयोग तुम्हारे मलदोष को निवृत्त करता है। भक्ति, चाहे सगुण या राजयोग निर्गुण भक्ति हो, विक्षेप दूर करेगी। योगाभ्यास में भी यम-नियमों के अन्दर ही ईश्वरप्रणिधान आ गया है। सारा भक्तियोग ईश्वर-प्रणिधान ही है। अन्तर यह है कि पतंजलि ने प्रधान रूप से निर्गुण उपासना पर ज़ोर दिया है, भक्ति वाले सगुण उपासना पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं, निर्गुण उपासना पर नहीं। पर दोनों ही चित्त को एकाग्र करके विक्षेप दोष को हटाते हैं। विक्षेप के हटने पर ज्ञान योग आवरण को हटा देता है। तीन दोषों की निवृत्ति के लिये तीन मार्ग बताये हैं। पर भगवान् ने कहा कि बाकी सब ज्ञानयोग की तरफ ले जाते हैं और आवरणभंग, परमात्मा के साथ एक हो जाना तो केवल ज्ञानयोग से ही होता है। जैसा भगवान् ने कहा वैसा वेद भी कह रहा है। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति'। उस परमात्मा का ज्ञान ही तुम को नाशवान् संसार के पार ले जाता है। वेद ने स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान को छोड़, उसकी प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। स्पष्टरूप से यह अनेक श्रुति वाक्य बतलाते हैं। इस प्रकार निजस्थान का अभिप्राय सूचित किया।। २०।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वही अभिप्राय प्रकट करते हैं–

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक्।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः।। २१।।

बुद्धि आदि अशेष की संशान्ति हो जाने पर यदि कोई देश न भासे तो समझो कि साक्षी को स्व से अतिरिक्त किसी देश की, स्थान की अपेक्षा ही नहीं है। सारे देश उसमें कल्पित होने से ही वह सर्वगत है, स्वभाव से किसी देश से सम्बद्ध नहीं।

देश की सारी कल्पना व्यवहार को लेकर है। हमारा मन ऐसा बना है कि देश, काल और कार्य-कारणभाव इनके बिना सोच ही नहीं सकता। कोई बात होने पर प्रश्न होता है कहाँ, कब, की बात है? इसके बिना जिज्ञासा शांत नहीं होती। अन्य प्रश्न होता है कि इसका कारण क्या है? पेट खराब हुआ तो क्यों हुआ? सामान्य कारण से भी शान्ति नहीं होती। घड़ा बन गया, किसने बनाया, कहाँ का बना है? इसके पीछे बनाने वाले लोगों की भावना क्या है? मन का निर्माण ही ऐसा हुआ है कि इसके अन्दर देश, काल, और कार्य-कारण-भाव हमेशा निहित रहते हैं। बुद्धि की प्रवृत्ति तब होगी जब कुछ व्यवहार होगा। बुद्धि के बिना देश, काल, कार्य-कारणभाव की कल्पनायें नहीं हैं। जब व्यवहार शांत हो गया, उस समय देश की प्रतीति नहीं होती है। अतः यदि कहो कि जब बुद्धिआदि-अशेष संशान्त हो गये तब किसी देश का भान नहीं रहेगा तो यही समझो कि साक्षी किसी देश में नहीं होता है। शंका होगी कि नास्तिक भी कहता है परमात्मा कभी नहीं है, कहीं नहीं है। वही आपने भी कह दिया कि किसी देश में नहीं है! समाधान है कि जब हम कहते हैं कि वह सर्वगत है, तब अभिप्राय है कि देशादि-कल्पना का वह अधिष्ठान है। उससे अलग रहकर देश नाम की कोई चीज़ है ही नहीं। जैसे सारा संसार कल्पित है वैसे ही देश भी परमात्मा के अन्दर कल्पित है। अधिष्ठान होने के कारण उसको अपने से भिन्न किसी देश की अपेक्षा नहीं है जहाँ वह रहे। उसके होने से सब देश है, वह किसी देश में नहीं है। श्रुति उसको सर्वव्यापक क्यों कहती है? सर्वग शब्द के अन्दर ही यह अर्थ छिपा हुआ है : गम् धातु का अर्थ ज्ञान भी होता है। जो गति को बताने वाले धातु हैं वे सारे के सारे ज्ञान को बताने वाले हैं। सर्वगत का मतलब हो जाता है, सर्वज्ञानस्वरूप। जब ज्ञान से सम्बद्ध होता है तभी कोई देश है। बिना ज्ञान से सम्बद्ध हुए न कोई देश, न काल, न कार्यकारणभाव है। कार्य-कारणभाव वस्तुओं में तो होता नहीं है। वस्तुओं को आगे-पीछे देखकर हमें कार्य-कारणभाव की प्रतीति है। इसलिये जहाँ कार्य-कारण-भाव है वहाँ ज्ञान है। इसी प्रकार जहाँ देश है वहाँ देश का ज्ञान है, अन्यथा देश की सिद्धि ही नहीं है। सब को जानने वाला, सबका साक्षी है, इसलिये शास्त्र ने सर्वग कह दिया। सारे देशों की कल्पना इस पर ही होती है। ज्ञानरूप साक्षी होने पर ही सब देशों की कल्पना होती है, इसलिये उसको 'सर्वग' कह दिया। साँप का भ्रम हुआ तभी बाध की दृष्टि से रस्सी को साँप का अधिष्ठान कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी प्रकार, साक्षी में अंतःकरण के व्यवहारों के साथ सम्बन्धित होकर देश की कल्पना बनती है। जैसे ही उसकी वास्तविकता का ज्ञान होता है, देश, काल, कारणकार्यता ये सारे भ्रम हट जाते हैं। इसीलिये उसको अधिष्ठान कहते हैं। किंतु भ्रम की जब प्रतीति नहीं है तब अधिष्ठान भी नहीं कह सकते। किसका अधिष्ठान? भ्रम का ही अधिष्ठान होगा। भ्रम ही नहीं तो अधिष्ठान क्या होगा! *स्वयं* वह अधिष्ठान भी नहीं है। इसलिये जब विदेह मोक्ष हो जाता है तब सारा व्यवहार हट जाता है। उस समय उसमें अधिष्ठानता भी नहीं रहेगी।। २१।।

जैसे व्यापकता वैसे साक्षिता भी सापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं यह कहते हैं–

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत्।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत्।।२२।।

बुद्धि जिस भी देश की कल्पना करे– चाहे अन्दर देश, बाहर का देश या सारा ही देश, उस देश में साक्षी उपस्थित है। यही बात वस्तुओं के बारे में समझनी चाहिये।

जैसे उसे सर्वग कहा है, वैसे ही श्रुति कहती है कि वह सबका साक्षी है, विषयों का, कर्त्ता अहम् का भी और क्रिया का भी साक्षी है। जैसे 'सर्वत्र है' इसका तात्पर्य है कि सारे देश उसमें कल्पित हैं उसी प्रकार 'सबका साक्षी है' का मतलब है कि सब उस साक्षी में कल्पित हैं। देश या स्थान बुद्धि की कल्पना हो तभी बाहर-भीतर के विभाग से प्रतीत होगा या एक सामान्य देश की भी कल्पना बनेगी। 'सब जगह' यह भी बुद्धि की परिकल्पना ही है। 'अन्दर है' प्रतीति हो तो अन्दर के देश की कल्पना, 'बाहर है' प्रतीति हो तो बाहर के देश की कल्पना। 'सर्वत्र है' प्रतीति हो तो सर्व देश की कल्पना। ये कल्पनायें करती बुद्धि ही है। गमन-आगमन बुद्धि करती है अतः वही देशों की कल्पना करती है। घड़ा बाहर और क्रोध को अन्दर ही देखती है। बुद्धि ने अन्दर की कल्पना की तो वहाँ भी साक्षी है। इसलिये कह देते हैं कि साक्षी भीतर भी है। इसी प्रकार बुद्धि ने घटाकार वृत्ति बनाई, साक्षी वहाँ भी प्रकाशक है, इसलिये कह देते हैं कि वह बाहर का भी साक्षी है। जिस देश की कल्पना बुद्धि करती है उस जगह वह साक्षी अवश्य है। जैसे देश के बारे में बतलाया है, वैसा वस्तुओं के बारे में भी समझ लेना चाहिये। इसे अगले श्लोक में स्पष्ट करेंगे। बुद्धि की हर कल्पना का वह साक्षी है। ईशावास्य उपनिषद् में कहा कि आत्मा मन से भी ज़्यादा तेज़ है। प्रश्न हुआ कि एक तरफ कहते हो कि आत्मा कुछ भी हिलना-डुलना नहीं करता है, फिर मन से तेज़ का क्या आशय है? उत्तर दिया कि मन जहाँ पहुँचता है वहाँ आत्मा पहले ही मौजूद मिलता है! जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ अधिष्ठान परमात्मा पहले से ही मौजूद है, इसलिये कहा जाता है कि उससे तेज़ है। इसी तरह वह सर्वत्र है का भी अर्थ समझना चाहिये।। २२।।

वस्तुओं के बारे में क्या समझना है यह बताते हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यद् रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत् प्रकाशयन्।
तस्य तस्य भवेत् साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः।।२३।।

बुद्धि से जिस-जिस रूपादि की कल्पना करता है। उस-उस को प्रकाशित करते हुए उस-उसका साक्षी हो जाता है। स्वयं वह वाणी बुद्धि आदि का विषय नहीं है।

जो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श बुद्धि के द्वारा कल्पित किया जाता है, अर्थात् बुद्धि की वृत्ति जिस चीज़ की बनाई जाती है, बुद्धि जिस आकार को लेती है उस-उस चीज़ का साक्षी प्रकाश कर देता है। जहाँ भी बुद्धि की वृत्ति बनी वहाँ प्रकाश ज़रूर पड़ेगा। इसलिये उस-उस का साक्षी होता है। साधना की दृष्टि से साक्षी का चिंतन कैसे करें? जिस देश काल वस्तु की बुद्धि कल्पना करती है उन सब का ज्ञान होता है, क्योंकि साक्षी है—इस प्रकार साधना करने के लिये देश काल वस्तु सब को साक्षी में अधिष्ठित देखो। जब इनका ज्ञान होता है तभी ये चीजें सिद्ध होती हैं। ज्ञान तभी होता है जब उस बुद्धिवृत्ति का प्रकाश होता है। इस प्रकार साक्षी का निरन्तर ध्यान करना पड़ता है। परन्तु 'प्रकाश *करना*' यह उसका अपना रूप नहीं है। स्वतः तो वह वाणी और बुद्धि से भी परे है। बुद्धि की वृत्ति बनती है तब *उसका* प्रकाश हो जाता है। बुद्धि से साक्षी का प्रकाशन नहीं है। बुद्धि का वह विषय नहीं है। इसी तरह, शब्द के द्वारा उसका पता लगता है परन्तु शब्द के द्वारा वह विषय होता नहीं है। दर्शन का साधन तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन को बतलाया, पर साधन हैं, दर्शन तो उसका अपने स्वरूप से ही होता है। श्रवण मनन के द्वारा उसका अनावरण होता है। कोई ऐसा नहीं जो नहीं जानता है कि 'मैं हूँ'। मैं के अन्दर जो चेतन का प्रकाश है वही मेरा स्वरूप है। किंतु क्या नहीं जानते हैं? जब मैं की वृत्ति नहीं है तब भी वह है।

इसका अनुभव गहरी नींद में करते हैं। तब मैं-बुद्धि नहीं है और ज्ञानरूप से हूँ तभी उठकर कहता हूँ 'मैं सुख से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना'। यह स्मरण वहाँ पर साक्षी की उपस्थिति स्पष्ट कर रहा है। ऐसा होने पर भी इधर ध्यान ही नहीं जाता। लोग ध्यान भी देते हैं तो किसी तरह यह सिद्ध करने के लिये कि वहाँ ज्ञान स्वरूपतः नहीं है, केवल भ्रम है! इसलिये मानते हैं कि मैं वहाँ सुख से नहीं सोया, वहाँ केवल दुःख नहीं हुआ। इसी से कहते हैं कि 'सुख से सोया'। किंतु यों 'सुख से सोया' को भ्रम मानने का कोई आधार नहीं। दुःख न होना और सुख होना, विचार करके देखो तो दोनों अनुभव अलग हैं। सुषुप्ति में सुख का अनुभव तभी बन सकता है जब वहाँ ज्ञानरूप साक्षी था। ज्ञान तो मैं-रूप से हमेशा है। लेकिन उस समय पता नहीं लगता, उठने के बाद पता लगता है। उठने के बाद बुद्धि आई तब पता लगा। सुषुप्ति में बुद्धि नहीं थी इसलिये पता नहीं लगा। मैं-रूप से ज्ञान होने पर भी, मैं को साक्षी-रूप से न जान कर केवल चिदाभास-रूप से जानते हैं इसलिये वाणी और बुद्धि का विषय समझते हैं जबकि वह अविषय है। अभी वह ज्ञात है किसी दूसरी चीज़ से मिला हुआ; उस दूसरी चीज़ अर्थात् बुद्ध्यादि को हटाने के लिये पहले बुद्धि और वाणी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की ज़रूरत है। जब जीव 'प्रज्ञानम् ब्रह्म' सुनता है तब पता लगता है कि परिच्छिन्नता उपाधियों के कारण है, स्वरूप से अपरिच्छिन्नता है। अर्थात् 'प्रज्ञानं ब्रह्म' सुनने से उसका पता नहीं लगा, उसके बारे में जो बुद्धिवृत्ति के साथ एकता का भ्रम था वह हटा। उसको हटाने के लिये शब्दादि चाहिये। जब पता लगता है कि उपाधि परिच्छेदक है, मैं परिच्छिन्न नहीं, तब मैं का नया ज्ञान नहीं हुआ, केवल उसके बारे में जो अज्ञान था वह हट गया, आवरण हट गया। वाणी और बुद्धि से सहायता तो मिलती है पर उनसे उसका पता नहीं लगता। उसके ऊपर जो अध्यस्त पदार्थ हैं उनकी निवृत्तिमात्र होती है। ॥२३॥

यह बताया कि व्यापक ब्रह्मरूप कूटस्थ का बुद्धि पर प्रकाश पड़ने से जिस देशादि में बुद्धि होती है वहाँ कूटस्थ, साक्षी की स्थिति का व्यवहार हो जाता है। शरीर के भीतर 'मैं'-रूप और बाहर 'यह'-रूप प्रतीतियाँ बुद्धि से होती हैं तो साक्षी को बाहर-भीतर समझ लिया जाता है। देश की तरह काल में भी बुद्धि ही भूत-वर्तमान-भविष्य जो आकार लेती है वहाँ साक्षी की स्थिति समझी जाती है। जैसे घट, शाला आदि उपाधियों से घटाकाश, शालाकाश आदि में फ़र्क है स्वयं आकाश में कोई फर्क नहीं वैसे साक्षी में भीतर-बाहर, भूत-भविष्य, यह-वह आदि कोई अन्तर नहीं, बुद्धिरूप उपाधि से सारे अन्तर व्यवहार्य हैं। ऐसे तत्त्व को ग्रहण करने में कठिनाई है यह सूचित करते हुए सहज उपाय बताते हैं—

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम्।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते।।२४।।

यदि पूछो 'ऐसे साक्षी को मैं कैसे ग्रहण करूँ?' तो उत्तर है कि मत ग्रहण करो! सब ग्रहण जब उपशान्त हो जाते हैं तब वह स्वयं ही बच जाता है।

आत्मा स्वयं वाणी और बुद्धि का अविषय है। उसका साक्षात् ज्ञान नहीं होता। बुद्धि जिस-जिस आकार को लेती है उस-उस में उसका प्रकाश पड़ता है, इस प्रकार से प्रकाश का ज्ञान होता है। प्रकाश का स्वतः कोई ज्ञान नहीं होता। जिस चीज़ के ऊपर प्रकाश पड़ता है, वह चीज़ प्रकाशित हो जाती है, इससे प्रकाश का पता लगता है। इसी प्रकार से आत्म-तत्त्व के ऊपर न बुद्धि न वाणी प्रकाश कर सकती है। पर जिस-जिस चीज़ का बुद्धि आकार ग्रहण करती रहती है, वही-वही चीज़ प्रकाशित होती है, इस प्रकार प्रकाश का पता लग जाता है। कोई साधक शंका करता है, 'ठीक है, वह रूप लेता रहता है; पर यह तत्त्व मुझे कैसे पता लगे?' यह प्रश्न हमेशा आता है कि परमेश्वर का क्या रूप है। जब कहते हैं, वह तो रूप वाला नहीं है तब दिक्कत होती है कि फिर उसे कैसा समझें? भगवान् ने स्वयं कहा 'न मेरा रूप, रस, स्पर्श हो सकता है न गन्ध न शब्द हो सकता है।' 'अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययं तथाऽरसं-नित्यमगन्धवच्च यत्'। हमारे पास साक्षात् ज्ञान-प्राप्ति के ये पाँच ही साधन हैं, उन पाँचों का ही निवारण कर दिया। फिर परमात्मा का साक्षात्कार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैसे होवे? इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि उसका साक्षात्कार इस रूप में है कि व 'नित्य अपरोक्ष' है।

कौन-सी चीज़ है जो नित्य अपरोक्ष है? विचार करके देखो तो मैं नित्य अपरोक्ष हूँ। मैं का रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं। फिर भी मैं का ज्ञान अपरोक्ष है ही, प्रत्यक्ष है। रूप का ज्ञान अपरोक्ष तो है, लेकिन आँख के माध्यम से, आँख होगी तब रूप का ज्ञान होगा। शब्द भी प्रत्यक्ष है लेकिन कान के माध्यम से। बाकी सब ज्ञान तो किसी माध्यम से हो रहे हैं, परन्तु मैं का ज्ञान किसी साधन से नहीं फिर भी है प्रत्यक्ष, अपरोक्ष। साक्षात् अपरोक्ष होने पर भी श्रुति ने कहा है कि उसका बुद्धि से ग्रहण होता है। भगवान् ने भी गीता में कहा कि शुद्ध बुद्धि का वह विषय है। कहीं कहा है कि बुद्धि का विषय नहीं है, कहीं कहा कि है; तात्पर्य है कि बुद्धि उसको जानती नहीं है, बुद्धि का उपयोग उसके अज्ञान को प्रकट करने में है। मैं-रूप से तो उसे जानते हैं पर वह 'मैं' सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक ब्रह्म है यह नहीं जानते। मैं-रूप से जानने के लिये हमें किसी की ज़रूरत नहीं है; चींटी भी जानती है 'मैं हूँ', यह ज्ञान तो सब को है; परन्तु मैं को हमेशा उपाधि के साथ देखते रहते हैं। शरीर के साथ गोरा-काला देखा, बुद्धि के साथ बुद्धिमान्, अज्ञानी देखा। किसी-न-किसी चीज़ के ऊपर पड़े मैं के प्रकाश को देखते हैं। वह प्रकाश कैसा है? जैसे कोई पूछे 'यहाँ शर्मा जी हैं?' हम कहते हैं 'हाँ है। यहीं तुम्हारे सामने है।' आँख से देख रहा है फिर भी कहता है, 'मैं उन्हें नहीं जानता'। शर्मा को देखते हुऐ 'यह शर्मा है' इस बात का अज्ञान है। जब हम अंगुल्या निर्देश करते हैं कि 'यह शर्मा है', उससे उसे केवल इतना ही ज्ञान होता है कि यह शर्मा है। इसी प्रकार से, रात-दिन, 'सारे जगत् का कारण ब्रह्म है, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापक है' सुनते रहते हैं। वह ब्रह्म कौन है? उस ब्रह्म को मैं-रूप से जान रहे हो, पर 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बात नहीं जान रहे। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'अहमेव परं ब्रह्म इत्यस्यार्थस्य अप्रबुद्धता अविद्येति वयं ब्रूमो येह नास्ति सदात्मनि'। जिस को आज तक मैं-रूप से जान रहा हूँ, वही परब्रह्म है—इस बात की अप्रबुद्धता, ग़ैर समझ अविद्या है, अज्ञान है। जिस प्रकार से घट-पट सबके ऊपर पड़ते हुऐ प्रकाश को जानते हुए भी 'प्रकाश को नहीं जानते', इसी प्रकार मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, परन्तु मैं को जानते हुए भी ब्रह्मरूप से नहीं जानते। मैं को हमेशा शरीर आदि के साथ ही देखते हैं। जब अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं उस समय सारी निवृत्ति से उपलक्षित मैं का शुद्ध स्वरूप है। यह काम ब्रह्माकार वृत्ति कर देती है तो अज्ञान नष्ट हो जाता है। वाणी का प्रयोग केवल इतने के लिये है कि मैं ही ब्रह्म हूँ इस बात को बतला देवे। ज्ञान *उत्पन्न* करना उसका कार्य नहीं। वाणी और मन अज्ञान-निवृत्ति में प्रयुक्त हैं, ब्रह्म तो स्वतः प्रकाश है।

फिर भी पूर्व वासनाओं से युक्त हुआ कहता है 'कथं तादृङ् मया ग्राह्यः', मैं उसे कैसे समझूँ? इस पर आचार्य कहते हैं उसका ग्रहण मत करो! वह ज्ञानरूप है, उसका ज्ञान नहीं होता। उसका अज्ञान तो हट जाता है, ज्ञान की ज़रूरत नहीं, सदा मैं के रूप में भान हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही रहा है। अज्ञान के कारण दूसरी चीजों के साथ मिलाकर देखते हैं। उसकी अग्राह्यता तो सिद्धान्त में इष्ट है। वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान के द्वारा प्रकाशित नहीं, सूर्य को किसी दीपक के प्रकाश में नहीं देख सकते। सूर्य तो अपने प्रकाश से ही दीखेगा। मान लो, घना बादल आया है, सूर्य नहीं दिखाई देता। अब चाहे जितनी मशालें जला लो, सूर्य तो नहीं दीखेगा! जब तक बादल रहेगा, सूर्य नहीं दीख सकता क्योंकि सूर्य किसी दूसरे प्रकाश में नहीं दीखता, वह अपने ही प्रकाश से दीखेगा। इसी प्रकार ब्रह्म किसी दूसरे प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो सकता। वह अज्ञान-रूप बादल हटने से ही प्रकाशित होगा। अज्ञान-रूप बादल के रहते हुऐ, उसकी तरफ मन जाये, इसके लिये सगुण उपासना कह दी जाती हैं, पर इससे निर्गुण का *ज्ञान* नहीं होता, केवल वृत्ति उधर जा सकती है। उसके ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं और उसका ज्ञान हो नहीं सकता तो परमात्मा की ओर प्रवृत्ति क्या व्यर्थ है? तब कहा 'सर्वग्रहोपसंशान्तौ' जितने तुम्हारे बुद्धिवृत्तियों के ज्ञान हैं, ये जब सम्यक् शान्त हो जाते हैं तब उसी का भान रहता है।

इसी को योगी लोग निर्विकल्प समाधि कहते हैं अन्तःकरण में जब कोई विकल्प नहीं रह जाता। निर्विकल्प समाधि में अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह स्वयं कूटस्थ, साक्षी, ब्रह्म ही बच जाता है। परन्तु उस अवस्था में अज्ञान का नाश नहीं करता क्योंकि ब्रह्म अज्ञान का नाशक नहीं है, ब्रह्मज्ञान अज्ञान का नाशक है। इसलिये भगवान् ने यही कहा 'ददामि बुद्धियोगम्' मैं उसको बुद्धियोग देता हूँ, उसके द्वारा मुझे जानेगा, अर्थात् अज्ञान नष्ट करेगा। जो केवल योग के सहारे चलते हैं, उनकी स्वरूप में स्थिति तो होती है, परन्तु 'यही मेरा वास्तविक रूप है' ऐसा निश्चय नहीं होता। इसलिये वे चाहते हैं कि ग्रह की उपशान्ति बनी रहे। श्रवण-मनन से जिसके संस्कार दृढ हो गये हैं, ब्रह्माकार वृत्ति बन चुकी है, उसकी जब यह स्थिति होती है, तब उसे अपने स्वरूप का स्वयं अनुभव हो जाता है अन्यथा, अपने स्वरूप में स्थित होने पर भी पहचान नहीं पाता। जब अपना रूप पहचान लिया तब फिर व्यवहार-काल के अन्दर अपने रूप को बुद्धि में बदलते देख कर भी उसको यह पता है कि मैं तो नहीं बदलने वाला हूँ। इसलिये जानता है कि विक्षेप बुद्धि का, समाधि भी बुद्धि की, न मेरे में समाधि है, न विक्षेप है। इसलिये ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा जब इस प्रकार बुद्धि की संशान्ति होती है तब वह हमेशा के लिये स्वरूप में स्थित हो जाता है। अनन्त जन्मों के संस्कार बुद्धि में पड़े हुऐ हैं। इसलिये कुछ देर के विक्षेप के बाद फिर बुद्धि के पुराने संस्कार जाग्रत् होकर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' यह प्रतीति हो जाती है। अतः पुनः बुद्धि की संशान्ति करके, ब्रह्माकार वृत्ति बना करके, फिर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना पड़ता है। जितनी बार अपने स्वरूप में स्थित होता जायेगा, उतना बुद्धि का संस्कार दृढ होता चला जायेगा। फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्व की पुरानी बात याद ही नहीं आती। इसमें लौकिक दृष्टान्त है, टंडन की लड़की मेहरा को ब्याह गई। वह मेहरा तो हो गई परन्तु अभी टंडन के संस्कार शेष हैं। परन्तु पच्चीस साल के बाद उसको कोई कहता है 'देवी टंडन' तो चुप बैठी रहती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। कहती है 'नहीं, मैं तो देवी मेहरा हूँ।' पैदा तो वही हुई थी, पर भूल गई। इसी प्रकार शुरू में जब ब्रह्म के संस्कार बनते हैं तब विचार करने पर अनुभव होता है 'मैं ब्रह्म हूँ,' परन्तु पुराने संस्कार पुनः जाग्रत् हो जाते हैं कि 'मैं ब्राह्मण, धनी, या दुःखी, सुखी'। अब पुनः पुनः उन संस्कारों का बाध करते चले जाओ। जब दृढता हो जाती है तब स्मरण भी नहीं आता कि मैं सुखी-दुःखी इत्यादि रहा। आत्मा के अतिरिक्त सभी के मिथ्यात्व-निश्चय से प्रतीति की उपशान्ति होने से स्वभावतः साक्षी का भान ही रह जाता है। जब सारी प्रतीतियों की उपशान्ति होती है तब उससे उपलक्षित हो जाता है सत्यरूप से बचा हुआ स्वात्मा।। २४।।

प्रश्न उठता है कि इसमें प्रमाण क्या है? वेदान्त की यह कठिनाई है कि उस काल में पता लग नहीं सकता! बुद्धि आदि की प्रतीति की उपशान्ति के बिना स्वरूपमात्र भास नहीं सकता। प्रमाण होंगे बुद्धि-आदिरूप ही। जब तक प्रमाणादि हैं तब तक *केवल* स्वतः सिद्ध नहीं। अतः प्रायः जितने दूसरे वादी हैं, वे कहते हैं कि अद्वैत प्रमाणसिद्ध नहीं है। वेदान्ती का कहना है—

न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात्।। २५।।

साक्षिस्वरूप के बारे में प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वरूप से स्वप्रकाश है। इस तथ्य की समझ के लिये प्रमाणादि चाहिये तो गुरुमुख से वेद पढ़ो।

'तत्र' मायने स्वप्रकाश जो आत्मस्वरूप है। सब चीजों के चले जाने पर जो बच जाता है उसमें किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, वह प्रमाण से *सिद्ध* नहीं है। तुम सब जानते हो—मैं हूँ। इसमें प्रमाण क्या है कि तुम जान रहे हो मैं हूँ? मैं इन्द्रियादि से प्रत्यक्ष नहीं। अनुमानादि से भी उसका पता लगाते नहीं। यह जानने में कि 'मैं हूँ' कोई *प्रमाण* काम नहीं करता है। इसी प्रकार से 'मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञान के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। यदि मैं और ब्रह्म में कोई भेद होता तब तो प्रमाण की ज़रूरत पड़ती। जिस कारण से मैं ब्रह्म नहीं है वह अज्ञान और उसका कार्य है। वह नहीं रहा तो ब्रह्म अपने आप अवशिष्ट रह गया अतः उसमें प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। प्रमाण क्या करता है? रूप में आँख प्रमाण है अर्थात् रूप को आँख प्रकाशित करती है। जब तक आँख से न देखो तब तक रूप का ज्ञान नहीं है। रूप ज्ञान की अपेक्षा करता है। ऐसे, 'मैं हूँ' किसी ज्ञान की अपेक्षा करता है क्या? जब तक हम जाग्रत्, स्वप्न अवस्था में हैं, हम अपने आप ही जानते हैं 'मैं हूँ'। और सुषुप्ति में बोध न होने पर भी पता है ' मैं वहाँ था।' मैं स्वप्रकाश है, क्योंकि मैं ज्ञानरूप है इसलिये उसको किसी दूसरे के द्वारा ज्ञात होने की ज़रूरत नहीं है। 'मैं' तो अहंकारात्मिका वृत्ति को लेकर व्यवहार है, जो उस वृत्ति को भी प्रकाशित कर रहा है, उस साक्षी को कहाँ प्रमाण की अपेक्षा है! वह स्वयं ही ज्ञानरूप होने से, उसको प्रमाण की अपेक्षा नहीं। प्रमाण के द्वारा प्रमेय को ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है उसे ज्ञान की ज़रूरत नहीं है। परन्तु वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सचमुच में ज्ञानस्वरूप है, यह समझ में कैसे आये? यदि तुम उसकी स्वप्रकाशता को *समझना* चाहते हो तो गुरु के मुख से श्रुति को पढ़ो। केवल 'वेद को पढ़ो' नहीं कहा। वेद रहस्यात्मक ग्रन्थ है। उसके अर्थ इतने गूढ हैं कि जब तक उनको खोलकर नहीं समझाया जाता, तब तक कुछ समझ में नहीं आ सकता। इसलिये जो लोग अपने मन से पढ़ते हैं वे कहते हैं कि वेदों में असंबद्ध बातें हैं। या, उपनिषदों के ऋषि अलग-अलग मत रखते थे। केवल यदि वेद को पढ़ते हैं तो ये विपरीत भावनायें बनती हैं। गीता को ही यदि तुम अपनी बुद्धि से पढ़ते हो तो अनेक विरुद्ध बातें लगेंगी। जब गुरु से पढ़ते हो तब पता लगता है कि विरोध नहीं है। प्रकरण, अधिकारी आदि के भेद से शास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियाँ होती हैं जिन्हें गुरुपरम्परानुसार जानने से स्पष्ट कर आपाततः प्रतीत विरोधों का परिहार कर देता है तो ऐसे भ्रम नहीं होते, वेद का तात्पर्य समझ आकर स्वीकार हो जाता है। अतः आचार्य शंकर कहते हैं कि सारे शास्त्रों का जानकार भी सम्प्रदाय न समझता हो तो वैसे ही उपेक्षा के योग्य है जैसे मूर्ख! अतः कहा कि पढ़ो श्रुति ही किंतु गुरु के द्वारा ही, तभी यह समझ आयेगा कि साक्षितत्त्व स्वप्रकाश अतः प्रमाणनिरपेक्ष है।। २५।।

श्रुत्यर्थनिश्चय-पूर्वक बुद्धि आदि अशेष की निवृत्ति उत्तम अधिकारी ही कर सकेगा। मंदाधिकारी के लिये उपासना उपाय है–

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम्।।२६।।

। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विद्यारण्यकृत-पञ्चदश्यां नाटकदीप-प्रकरणं दशमं समाप्तम्।।

यदि सारे ग्रहणों का त्याग न कर सको तो बुद्धि की शरण जाओ। बुद्धि के अधीन होकर भीतर-बाहर ब्रह्मानुभव करो।

यदि तुम्हारे लिये सारी प्रतीतियों का त्याग अर्थात् मिथ्यात्व-निश्चय से सब को छोड़ना संभव नहीं हो तो बुद्धि के सहारे ब्रह्मचिन्तन करो। जो बुद्धि की प्रतीतियों, वृत्तियों को सर्वथा हटा नहीं पाता है, बुद्धिवृत्तियों के सहारे से ही उसका चिन्तन होगा। बुद्धि के अधीन उसे अनुभव करना पड़ेगा। चाहे बुद्धि बाह्य वृत्ति बनावे, चाहे काम क्रोध आदि अन्दर की वृत्ति बनावे, उस वृत्ति के अन्दर जो प्रकाश पड़ रहा है, चिदाभासरूप उस प्रकाश के ऊपर ही मन को स्थिर करे। बुद्धिवृत्तियाँ सर्वथा शान्त नहीं हुई हैं लेकिन उनके अन्दर जो प्रकाशरूपता है 'वह ज्ञान मेरा स्वरूप है' ऐसा चिन्तन करना है। वस्तुतः यह अहम् का चिंतन है, पर अहम् के ऊपर स्थिर रहते-रहते धीरे-धीरे वृत्तियाँ शांत हो जायेंगी यह तात्पर्य है। सभी बुद्धिवृत्तियों के साक्षी को ब्रह्म समझते रहने की सावधानी रखना इस उपासना की विशेषता है।। २६।।

।। नाटकदीप प्रकरण समाप्त।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

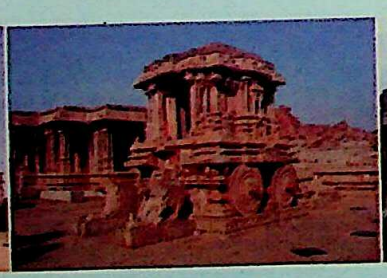

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi